उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियाँ

डॉ० मोहन अवस्थी डी०लिट्०
पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
८/४ बैंक रोड, इलाहाबाद–२११००२

●

डॉ० सुरेश सिनहा,
एम० ए०, डी० फिल्०

●

रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ

Upnyas Shilp Aur Pravriattiyan : Dr. Suresh Sinha
A Book on Literary Criticism of Novels : Price Rs. 8/-

● मूल्य	आठ रुपये
● संस्करण	प्रथम १९६५
● सर्वाधिकार (c)	१९६३, सुरेश सिनहा, इलाहाबाद
● प्रकाशक	बी० डी० मेहरोत्रा रामा प्रकाशन, लखनऊ
● मुद्रक	रामा प्रेस नजीराबाद, लखनऊ

दो शब्द

गत ८६ वर्षों से उपन्यास-साहित्य ने अपना एक महत्व-पूर्ण स्थान बना लिया है। आज से ८६ वर्षों पूर्व सन् १८७७ में जब श्रद्धाराम फिल्लोरी का 'भाग्यवती' नामक हिन्दी का प्रथम उपन्यास लिखा गया तो किसी को भी यह आशा नहीं थी कि शीघ्र ही कम समय में यह नई साहित्यिक विधा कविता जैसे सशक्त विधा को भी पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जायगी। आज अनेक मंजिलों को तय करके हिन्दी उपन्यास साहित्य जिस दोराहे पर आ खड़ा हुआ है, उस पर किसी को भी संतोष हो सकता है। दोराहा इसलिए कि एक रास्ता है प्रगतिशीलता का, जिस पर आज की नई पीढ़ी चल रही है, और सामाजिक जवाब देही को अपनी पूर्ण कलागत ईमानदारी के साथ पूरा करने में संलग्न है। दूसरा रास्ता पलायनवादी है, जिस पर चलने वाले उपन्यासकार जीवन के प्रति विम्भ्रान्त हैं और दिशाहारा की भाँति भटकते हुए जीवन के प्रति निराश हो चुके हैं। निराशा आत्म प्रंवचना उत्पन्न करती है तथा उसकी अभिव्यक्ति होती है, अपमान-जनक। अतः अपमान एवं कटुता की स्थिति को छिपाने के लिए ये दिग्भ्रान्त उपन्यासकार दार्शनिकता, आध्यात्मिकता या वैयक्तिक स्तर पर प्रकट की गई चिंतनाभिव्यक्ति की चादर ओढ़कर नई पीढ़ी के सामने अपने को विजयी घोषित करने का प्रयत्न करते हैं। पर कोई भी उनके स्वर का खोखलापन पहचान सकता है। यही कारण है कि यह रास्ता आगे से जकड़ा हुआ है, उस पर अन्धकार की सघन छाया है, जिससे एक-एक करके वे उपन्यासकार या तो स्वयं टूट रहे हैं या जन-मानस उन्हें अस्वीकृत कर उनके ट्रेड मार्क को तहस-नहस कर रहा है।

इसका कारण स्पष्ट है। नई पीढ़ी ने जन-मानस को कनविंस करते हुए उसे इस सत्य के प्रति कॉनफिडेन्स में ले लिया है कि व्यक्ति अस्वस्थ नहीं है और न ही वह टूटा हुआ है। यदि वह अस्वस्थ एवं टूटा हुआ है भी, तो वह अन्तिम स्थिति नहीं है और नैराश्यमूलक परिस्थितियों का तो कोई अस्तित्व किसी भी रूप में है ही नहीं। स्थिति में परिवर्तन होगा, इसीलिए नई पीढ़ी आशावादी है और इसीलिए वह व्यक्ति का पोस्टमार्टम करने की कोई आवश्यकता नहीं समझती। इसके नतीजे अच्छे हुए हैं। नई पीढ़ी का हर कोई एक-एक

Upnyas Shilp Aur Pravriattiyan : Dr. Suresh Sinha
A Book on Literary Criticism of Novels : Price Rs. 8/-

● मूल्य	आठ रुपये
● संस्करण	प्रथम १९६५
● सर्वाधिकार (c)	१९६३, सुरेश सिनहा, इलाहाबाद
● प्रकाशक	बी० डी० मेहरोत्रा रामा प्रकाशन, लखनऊ
● मुद्रक	रामा प्रेस नजीराबाद, लखनऊ

दो शब्द

गत ८६ वर्षों से उपन्यास-साहित्य ने अपना एक महत्त्व-पूर्ण स्थान बना लिया है। आज से ८६ वर्षों पूर्व सन् १८७७ में जब श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' नामक हिन्दी का प्रथम उपन्यास लिखा गया तो किसी को भी यह आशा नहीं थी कि शीघ्र ही कम समय में यह नई साहित्यिक विधा कविता जैसे सशक्त विधा को भी पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जायगी। आज अनेक मंजिलों को तय करके हिन्दी उपन्यास साहित्य जिस दोराहे पर आ खड़ा हुआ है, उस पर किसी को भी संतोष हो सकता है। दोराहा इसलिए कि एक रास्ता है प्रगतिशीलता का, जिस पर आज की नई पीढ़ी चल रही है, और सामाजिक जवाब देही को अपनी पूर्ण कलागत ईमानदारी के साथ पूरा करने में संलग्न है। दूसरा रास्ता पलायनवादी है, जिस पर चलने वाले उपन्यासकार जीवन के प्रति विम्भ्रान्त हैं और दिशाहारा की भाँति भटकते हुए जीवन के प्रति निराश हो चुके हैं। निराशा आत्म प्रवंचना उत्पन्न करती है तथा उसकी अभिव्यक्ति होती है, अपमान-जनक। अतः अपमान एवं कटुता की स्थिति को छिपाने के लिए ये दिग्भ्रान्त उपन्यासकार दार्शनिकता, आध्यात्मिकता या वैयक्तिक स्तर पर प्रकट की गई चितनाभिव्यक्ति की चादर ओढ़कर नई पीढ़ी के सामने अपने को विजयी घोषित करने का प्रयत्न करते हैं। पर कोई भी उनके स्वर का खोखलापन पहचान सकता है। यही कारण है कि यह रास्ता आगे से जकड़ा हुआ है, उस पर अन्धकार की सघन छाया है, जिससे एक-एक करके वे उपन्यासकार या तो स्वयं टूट रहे हैं या जन-मानस उन्हें अस्वीकृत कर उनके ट्रेड मार्क को तहस-नहस कर रहा है।

इसका कारण स्पष्ट है। नई पीढ़ी ने जन-मानस को कनविंस करते हुए उसे इस सत्य के प्रति कॉनफिडेन्स में ले लिया है कि व्यक्ति अस्वस्थ नहीं है और न ही वह टूटा हुआ है। यदि वह अस्वस्थ एवं टूटा हुआ है भी, तो वह अन्तिम स्थिति नहीं है और नैराश्यमूलक परिस्थितियों का तो कोई अस्तित्व किसी भी रूप में है ही नहीं। स्थिति में परिवर्तन होगा, इसीलिए नई पीढ़ी आशावादी है और इसीलिए वह व्यक्ति का पोस्टमार्टम करने की कोई आवश्यकता नहीं समझती। इसके नतीजे अच्छे हुए हैं। नई पीढ़ी का हर कोई एक-एक

करके अपने से पहले के पलायनवादियों के ऑपरेशन थियेटरों में चुप-चुप जाने का 'दुस्साहस' कर रहा है और लाल कपड़ों से ढके सड़े-गले, तथा काम विकारों से ग्रस्त मर रहे रोगी व्यक्तियों को बाहर लाकर उन्हें खुली वायु में स्वस्थ होने के लिए पुनः सामाजिक संघर्षों से जोड़ देने का प्रयत्न कर रहा है। परिणाम स्वरूप अब व्यक्ति स्वस्थ हो रहा है। वहाँ ऑपरेशन थियेटर में उसके दम घुट रहे थे। अब सेक्स सम्बन्धी दमित-शमित भावनाएँ उसे ग्रस्त नहीं करतीं और न उसे टूट कर बिखर जाने के लिए विवश ही करती हैं। नई पीढ़ी ने सामाजिकता के व्यापक परिवेश को अपनाया है और हिन्दी उपन्यास साहित्य को व्यक्ति सीमित दायरे की संकीर्णता से मुक्ति दी है। ऐसी बात नहीं है कि सभी पुराने लोग पलायनवादी हैं और नई पीढ़ी ही उस गौरव की अधिकारिणी है। नहीं, पुराने लोगों में वृन्दावन लाल वर्मा (अपने सामाजिक उपन्यासों में), उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा तथा यशपाल आदि कई ऐसे नाम सामने हैं, जो उस नई पीढ़ी के साथ चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। बल्कि कहना चाहें तो कह लें कि यह नया पथ प्रशस्त करने तथा निर्मित करने का कार्य बहुत कुछ उन्होंने किया है। इधर पिछले दस-बारह वर्षों के नामों में बलवन्त सिंह, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, नरेश मेहता, अमर कान्त आदि कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्होंने इस यथार्थवादी धारा को बड़ी जवाब देही से आगे बढ़ाया है। बातें जो सत्य हैं, साफ हैं, सामने हैं उन्हें अस्वीकारा नहीं जा सकता।

आज हिन्दी उपन्यास साहित्य में अनेक प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं। नई पीढ़ी और उनके साथ चलने वाले लोगों की तो बस एक प्रवृत्ति है—यथार्थवाद। शेष सभी प्रवृत्तियाँ पूँजीवाद, संस्कृति एवं बूर्जुआ मनोवृत्ति की देन हैं जो हमें दिग्भ्रान्त कर पलायनवादी बनाती हैं। इसके साथ ही उपन्यास रचना के कुछ अनिवार्य तत्व सामने आते हैं जिनके पालन के लिए उपन्यासकार बाध्य नहीं। फिर भी वे अधिकांश रूप में उनके उपन्यासों में आ जाते हैं। ये सभी तत्व मिलकर ही उपन्यास शिल्प का रूप ग्रहण करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी ही कुछ समस्याओं को स्पष्ट कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न

किया गया है। मेरी पिछली आलोचनात्मक कृतियों का विद्वानों एवं साहित्य प्रेमियों ने जिस रूप में स्वागत किया है, वह मेरे लिए बहुत ही उत्साह-वर्द्धक रहा है। उससे मुझे पर्याप्त संतोष एवं गर्व भी है। वस्तुतः वह किसी भी लेखक के लिए संतोष एवं गौरव का विषय हो सकता है। मुझे आशा है, मेरी यह तीसरी आलोचनात्मक पुस्तक भी हिन्दी जगत में उपयोगी सिद्ध होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने विषय की यह हिन्दी में पहली पुस्तक है। सैद्धांतिक रूप से भी और सामान्य रूप से इस प्रकार की सामग्री को एक साथ किसी पुस्तक में अभी तक प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

प्रयाग-विश्वविद्यालय के शोध-छात्र भाई अमरीकसिंह करमसी ने मेरे लिए अँग्रेजी की अनेक पुस्तकें जुटाई हैं। उनके सहयोग के विना इस पुस्तक का पूर्ण होना कठिन था। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मेरी अस्वस्थता के दिनों में तरुण कवि श्री बुद्धिसेन शर्मा ने मेरी बड़ी सहायता की है। वस्तुतः प्रेस कापी तैयार करने का सारा श्रेय उन्ही को है। पर वे कविताएँ इतनी अच्छी लिखते हैं, साथ ही उनमें भावुकता इतनी अधिक है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना अथवा धन्यवाद देना भी उनके लिए दुष्कर होगा। इसीलिए स्वार्थी बन कर मौन ही रहना उचित समझता हूँ। अपने दिल्ली प्रवास में इसके कुछ अंश मैंने मित्र श्री ओम प्रकाश सिंघल के निवासस्थान पर लिखे थे। वहाँ उन्होंने मुझे जो सुविधाएँ दीं, उनके विना मैं कुछ न कर पाता। वे भी मेरे बड़े निकट हैं। उन्हें भी धन्यवाद क्या दूँ? धन्यवाद शायद एक ऐसी फॉर्मेलिटी होती है जो सामीप्य को न्यून करने में बड़ी सहायक होती है। अनुक्रमणिका तैयार करने का कार्य कुमारी वीणा अग्रवाल और श्रीमती ललिता श्रीवास्तवा ने बड़े परिश्रम से किया है। वे दोनों ही मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन पुस्तकालय के श्री विश्वनाथ मिश्र, वर्माजी और उपाध्यायजी ने पुस्तकों के जुटाने में मेरी बड़ी सहायता की है। इन सभी सज्जनों के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कल्पना १६ पुरुषोत्तम नगर,
हिम्मतगंज इलाहाबाद—३

—सुरेश सिनहा

विषय-सूची

आदरणीय
डॉ० नगेन्द्र को

प्रथम खण्ड

पूर्व पीठिका

उपन्यास क्या है ?

उपन्यास यथार्थ की प्रतिच्छाया है, जिसमें मानव जीवन का चित्रण होता है। अतः उपन्यास का यथार्थ व्यापक रूप से सामाजिक होता है। उपन्यास का विषय प्रमुखतः मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होता है जो अनेक विषमताओं, द्वन्द्वों एवं संघर्षों में घिरा शोषण का शिकार बना रहता है और उपेक्षणीय एवं दयनीय जीवन जीता है। उपन्यास इस प्रकार बाह्य यथार्थ को आधार मान कर चलता है, और उसका पूर्ण ईमानदारी से चित्रण करता है। वह एक विषयीगत दर्पण के समान है। जिसमें बहुमुखी मानवीय समस्याओं का चित्रण होता है। यह वर्ग गत चेतना का एक कल्पनापरक रूप है। इस प्रकार उपन्यास के विषयों का चयन बाह्य संसार से नहीं होता, वरन् निश्चित वर्ग मनोविज्ञान की गहराइयों से होता है। एक उपन्यासकार अपने वर्ग एवं समाज के अलावा किसी और का चित्रण कर ही नहीं सकता। प्रत्येक लेखक निश्चित वर्गों की समस्याओं, विचारों और भाववेगों को अभिव्यक्त करता है। यदि कोई लेखक ऐसा नहीं कर पाता है तो मात्र इसीलिए, क्योंकि पूँजीवादी प्रभाव एवं बूर्जुआ संस्कृति के नीचे उसकी चेतना दब जाती है, और वह अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर सकने में असमर्थ पाता है। उपन्यास की सफलता के लिए यह स्थिति बड़ी भयानक होती है। और जब तक वर्ग गत समाज पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो जाता, तब तक यह स्थिति भी पूर्ववत् बनी रहेगी। जब मनुष्य का मनुष्य पर से अधिकार समाप्त हो जाएगा और जब वर्ग वैषम्य तथा सामाजिक एवं आर्थिक असमानता समाप्त हो जायगी, बूर्जुआ मनोवृत्ति एवं पूँजीवादी प्रभाव अपनी सर्वव्यापी महत्ता भी खो देंगे, और समाज पूर्ण रूप से प्रगतिशील हो जायगा—ऐसी स्थिति में ही श्रेष्ठ उपन्यास-साहित्य की रचना सम्भव हो सकेगी।

उपन्यास में वर्णित वर्ग-संघर्ष वास्तव में कुछ और नहीं, दासता एवं शोषण तथा समस्त शक्तियों के केन्द्रीकरण की आयडियोलॉजी के विरुद्ध जनता का संघर्ष ही है। यह संघर्ष अधिक व्यापक अर्थों में धार्मिक रूढ़ियों, निर्दयता एवं अत्याचार का भी प्रतीक बन जाता है। संसार में प्रत्येक चीज़ गतिशील है, परिवर्तनशील है और उसका अपना इतिहास है। सामाजिक सामग्री, जिसका उपन्यासकार चित्रण करता है, भी इस नियम का अपवाद नहीं है। मनुष्य के सामाजिक जीवन, जैसा कि वह यथार्थ में है, के प्रति यदि उपन्यासकार ईमानदार रहना चाहता है, तो उसे इन सब तथ्यों को अपनी रचनाओं में वर्णन करना चाहिए। पर उसका यह वर्णन एक कलाकार की ही भाँति होना चाहिए, न कि एक वैज्ञानिक की भाँति। मानव जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे उन द्वन्द्वों एवं संघर्षों का वर्णन करना चाहिए, जो वर्गों को समूल नष्ट करने के लिए प्रारम्भ किए जाते हैं और जिनका उद्देश्य जीवन-स्थितियों को परिवर्तित करना और सम्पूर्ण मानवता की आध्यात्मिक एवं नैतिक संभावनाओं में प्रगतिशीलता लाना होता है। हमें एक उपन्यास में भविष्य को निरखने और परखने की क्षमता के साथ ही भूत को भी समझने की क्षमता होनी चाहिए।

किसी भी विषयवस्तु पर विज्ञान अथवा इतिहास हमें चाहे जितना पीछे ले जाए, उसकी प्रगतिशीलता की प्रवृत्ति तथा उसका बूर्जुआ दृष्टिकोण स्पष्टतया देखा जा सकता है। प्रॉलीतेरियत तानाशाही बड़े लम्बे संघर्ष एवं अत्याचार के बाद ही स्थापित किया गया था, जिसका प्रथम सूत्र ही सामाजिक असमानता में अन्तर्निहित है। वर्ग-संघर्ष का आधार यहीं से निर्मित होता है। प्रत्येक प्रगतिशील एवं सजग सामाजिक चेतना वाले उपन्यासकार का यह दायित्व है कि वह विश्व-संस्कृति के पूरे इतिहास के माध्यम से प्रॉलीतेरियन क्रांति के मूल सूत्रों का अन्वेषण करते हुए समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन करे। उसे अपनी प्रत्येक कृति में उन सामाजिक विचारों के अधिकतम प्रगतिशील तत्त्वों को प्रकाश में लाना चाहिए, जो शोषित लोगों की जीवन-स्थितियों से सम्बन्धित होती हैं। उसे उन प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना चाहिए, जिनसे संस्कृति के प्रजातांत्रिक तत्त्व और प्रतिक्रियावादी तत्त्व तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की विचारधारा का समर्थन स्पष्ट हो सके। यदि कोई उपन्यासकार यह नहीं करता है, तो

वह अपने को सामाजिक जवाब देही से मुक्त करने का प्रयत्न करते हुए पलायनवादी बन जाता है।

यहाँ यह सब कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक उपन्यासकार को अनिवार्यरूप से समाजवादी होना ही चाहिए। यह कोई अनिवार्य बात नहीं है। पर इतना तो होना ही चाहिए कि उसे शोषण एवं वर्ग-वैषम्य के प्रति चेतनशील होना चाहिए, तथा सामाजिक जवाबदेही को पूर्ण करने की भावना प्रबल रूप में होनी चाहिए, जिससे वह प्रगतिशील तत्त्वों को पूर्ण यथार्थता से चित्रित कर सके। यहीं एक प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार को किसी भी प्रकार की नैतिकता से अपना सम्बन्ध क्यों रखना चाहिए ? मोटे तौर पर तो कहा जा सकता है कि उसका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर अधिक गहराई से देखा जाय, तो उसके लिए यह नितांत रूप से कठिन है कि वह अपने को इससे असम्बद्ध रखे। यहाँ तक कि वे उपन्यासकार, जो यथार्थ को व्यर्थ समझते हैं, और उससे बचना चाहते हैं, भी अपने को नैतिकता से बचा नहीं पाते। वे यह समझ लेते हैं कि जीवन को अरुचिकर समझना, मूल्यों को अस्वीकार करना तथा इस तथ्य में अविश्वास करना कि चीज़ें जिस रूप में हैं, वे और अच्छी बन जायँगी, कुछ और नहीं, वरन् यह अर्थ रखता है कि उनका कोई दर्शन नहीं है।

उपन्यास के सम्बन्ध में शास्त्रीय रूप से भी विवेचना की जा सकती है।

उपन्यास शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है—'रखना'। इसमें दो उपसर्ग होते हैं—'उप' और 'नि' और छत्र् प्रत्यय का प्रयोग है। विभिन्न आलोचकों ने उपन्यास की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। एक आलोचक के अनुसार उपन्यासों में घटनाओं या वस्तुओं की पुनरावृत्ति नहीं होना चाहिए।[1] उपन्यास गद्य में लिखित यथार्थ जगत का चित्रण होता

---

1 "It should be no mere re-production of things or events, so for as words can reproduce them, but an interpretation."

—ई० ए० बेकर : द हिस्ट्री ऑफ् इंगलिश नॉवेल (लन्दन) प्रथम पोथी, पृष्ठ १५

है, जो अपने में पूर्णता का आभास देता है।[1] साथ ही उसके प्रत्येक अंग में दूसरे अंग का भी कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है।[2] एक अन्य आलोचक ने उपन्यास को आधुनिक बूर्जुआ समाज का महाकाव्य माना है। उपन्यास बूर्जआ साहित्य की सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि रूप साहित्यिक सृष्टि ही नहीं है, वरन् उसकी महान्‌तम सृष्टि है। यह कला का सर्वथा नवीनतम रूप है।[3] वास्तव में उपन्यास का सम्बन्ध मानव जीवन और उसकी प्रक्रियाओं से ही अधिक रूप में होता है। पर इस प्रकार इसके परिवेश को सीमित नहीं किया जा सकता। उपन्यास का सम्बन्ध मनुष्येतर जीव-प्राणी और पशु-पक्षी भी हो सकते हैं, तथा उन्हें पात्र बनाकर उनके जीवन को उपन्यासों की कला वस्तु का आधार बनाया जा सकता है। पर इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि अभी तक मनुष्येतर जीव-प्राणी, और पशु-पक्षियों की भाषा का अध्ययन नहीं किया जा सका है, जिसके अभाव में उनकी जीवन प्रक्रियाओं को उपन्यास

1. "The novel as I use the term in the book is a realistic prose fiction complete in itself and of a certain lengh."

—आर्नोल्ड कैटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नॉवेल (लन्दन)
पृष्ठ २८

2. "A novel is a living thing, all one and continuous like any other organism, and in proportion as it lives will it be found, I think, that in each of the parts there is some thing of the other parts."

—आर्नोल्ड कैटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नॉवेज, (लन्दन)
पृष्ठ १२

3. The novel is the epic art form of our modern bourgeois society ; it reached its full stature in the youth of that society, and it appears to be affected with bourgeois society's decay in our own time..... not only is the novel the most typical creation of bourgeois literature, it is also its greatest creation. It is new art form."

—रैल्फ फॉक्स : द नॉवेल ऐन्ड द पीपुल, (लन्दन), पृष्ठ ८०

के परिवेश में समेटना कठिन ही नहीं, असम्भवप्राय है।' इसीलिए प्रायः उपन्यासकार मानव जीवन के बीच से ही संवेदनशील घटनाओं का निर्वाचन कर उपन्यासों की रचना करते हैं, तथा अपनी कृतियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से मानव और मानवीय जीवन की प्रक्रियाओं तक ही सीमित रखते हैं।

उपन्यास के सम्बन्ध में कुछ अन्य परिभाषाएं भी हैं, जिनका उल्लेख यहाँ करना असंगत न होगा। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक एवं आलोचक स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार—"समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं। किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"[1] आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। यह उपन्यास को गम्भीरता के परिवेश में आबद्ध कर देती है, जो अनुचित है। उपन्यास जहाँ मानवीय जीवन का चित्रण करते हैं, जीवन को गति एवं दिशा प्रदान करते हैं तथा प्रेरणा का स्वरूप उपस्थित करते हैं, वहीं उनमें औपन्यासिक रस की, जिसे दूसरे शब्दों में हम आनन्द तत्त्व भी कह सकते हैं, हत्या नहीं होती। दर्शन, मनोविज्ञान आदि गूढ़ विषयों की व्याख्या करना उपन्यासों का कार्य नहीं है। वास्तव में यदि उपन्यास शब्द की अत्यन्त व्यापक अभिव्यक्ति की जाय, तो जीवन की प्रत्यक्ष एवं व्यक्तिगत प्रतिबिम्ब का आभास होता है।[2] क्योंकि उपन्यास मूलतः मानवीय अनुभव की अभिव्यक्ति करते हैं, चाहे वे आदर्शवादी हों या यथार्थवादी। इस प्रकार उनमें मूलतः जीवन की आलोचना रहती

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास (सं० २००८) बनारस।

2. "A novel is its, broadest definition a personal a direct impression of life"

—हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑफ् फिक्शन (१९४८), न्यूयार्क।

है।[१] पर इतना निश्चित है कि इस रचना-प्रक्रिया में विश्लेषणात्मक या गवेषणात्मक गम्भीरता नहीं, सरसता का भाव प्रारम्भ से अन्त तक विद्यमान रहता है। प्रेमचन्द ने उपन्यास को मानव-जीवन का चरित्र ही समझा है। मानव जीवन का चित्रण करना तथा उसके उलझे रहस्यों को खोलना ही, उनके विचार से, उपन्यासों का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य है।[२] उपन्यास वास्तव में समकालीन यथार्थ जीवन एवं मान्यताओं का चित्र होता है।[3] जीए जानेवाले मानव जीवन की भाषा में उपन्यास विचारों का गद्य अनुवाद है। यह अनुवाद इतनी कुशलता से किया जाना चाहिए, जिससे पाठक स्वयं अपने ही सम्बन्ध में अधिक से अधिक जान सके।[४] वस्तुतः उपन्यास में सुन्दर कथानक और भली भाँति चित्रित पात्र होते हैं।[५] सच तो

---

1. "The novel is typically a representation of human experience whether liberal or ideal and therefore in evitably a comment upon life"

—डा० हर्बर्ट जे० मुल्लर : माडर्न फिक्शन—ए स्टडीज् ऑफ् वैल्यूज, पृष्ठ १४

२. प्रेमचन्द : कुछ विचार (बनारस), पृष्ठ ४२

3. "The novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it is written.

—क्यारा रीव : प्रोग्रेस ऑव रोमांस (१७८५) पृष्ठ १८

4. "They (novels) are prose translations of ideas into language of human life being lived the translation must be made with such are accuracy as to increase the readers knowledge of his our self"

—इरा वोलफर्ट : ह्वाट इज ए नॉवेल एंड ह्वाट इज इट गुड फॉर (१९५०) न्यूयार्क पृष्ठ ८

5. "A novel is a work of fiction containing a good story and well drawn character"

—नार्मन कजिन्स द्वारा सम्पादित : राइटिंग फौर लव ऑर मनी, (१९४९) लॉंगमैन ग्रीन ऐंड कम्पनी कनाडा, नामक पुस्तक में एडिथ ह्वार्टन का निबन्ध।

यह है कि उपन्यास परिवर्तित, सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों की देन है। बाद में विकसित होकर भी साहित्य के इस अंग ने अपना एक प्रधान स्थान बना लिया है, और उसकी वर्तमान प्रगति को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि अभी वह साहित्य क्षेत्र में इससे भी अधिक गौरव प्राप्त करेगा। उपन्यासों के इतने अधिक प्रचार का कारण यह है कि वह सर्वथा मानव जीवन से सम्बद्ध है और अभिव्यंजना का बिल्कुल निजी तथा संवेदना पूर्ण साधन है। अतः मेरे विचार से उपन्यास की तर्कसंगत परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"उपन्यास में कल्पना के माध्यम से कोई कथा प्रस्तुत की जाती है, जिसका आधार मानव, अन्य जीव-प्राणी, निर्जीव प्रकृति अथवा कोई भी हो सकता है। इस कथा में मनोरंजक तत्त्वों की पूर्ण रक्षा की जाती है।[1] इस परिभाषा में अन्य आलोचकों द्वारा दी गई परिभाषाओं की अपेक्षा उपन्यास की अत्यन्त व्यापकतम अर्थों में अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि इतना तो स्पष्ट है कि उपन्यासों को केवल मानव जीवन तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। मानव जीवन का चित्रण करना उपन्यासों का प्रमुख कार्य हो सकता है, पर एकमात्र नहीं। उपन्यासों की सीमा इससे भी आगे मनुष्येतर जीव-प्राणी या पशु-पक्षियों के जीवन तक होती है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि उपन्यास का अर्थ इतना विस्तृत एवं व्यापक है कि उसे परिभाषाओं की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। पर यदि कोई परिभाषा देनी आवश्यक ही है तो इस परिभाषा को मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

किसी साहित्य का मूल्यांकन करते समय मानसिक चेतना में सहसा यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या इस साहित्य में हमारी राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं, कुंठाओं तथा वर्जनाओं के काले भयावने मेघों को दूर कर पुनः आशा एवं विश्वास के उन्मुक्त नीले गगन की चादर विस्तारित करने की शक्ति है या नहीं ? साहित्य न तो वस्तुतः कल्पना के रेशमी पंखों पर बैठ आकाश में विचरण करनेवाले कलाकार की कल्पना है, और न समय विशेष में अस्तित्व रखनेवाले समाज की अनुकृति। सत्य स्थिति तो यह है

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए। इन पंक्तियों के लेखक की पुस्तक : हिन्दी-उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना। (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ४८

कि साहित्य इन दोनों के समन्वय से निर्मित एक ऐसी विधा है, जिसमें मानव जीवन की स्पष्ट छाया अंकित रहती है। उपन्यास इसका अपवाद नहीं, अपितु इसी साहित्य का एक प्रमुख अंग है। विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव ने हमें बराबर तार्किक जगत में प्रवेश करने पर बाध्य किया है, और आज तो स्थिति यह है कि हम कोई भी चीज़ बिना अपनी मानसिक चेतना से साम्य स्थापित किए स्वीकार करने को तत्पर ही नहीं हैं। केवल-मात्र प्यार की रंगीन ज़िन्दगी चित्रित करने, प्रेमी-प्रेमिकाओं को मिलाने के लिए वातावरण उपस्थित करने में अपनी कला प्रदर्शित करने और उनका काव्यमय चित्रण करने का आज उतना महत्त्व नहीं रह गया है, जितना क्षुधा, तृष्णा, विवशता, एवं अन्य अनेक अवसादों से ग्रस्त मानवीय उत्पीड़न का निराकरण कर नवीन समाज के निर्माण एवं नैतिक दायित्व के निर्वाह का प्रश्न आज महत्त्व-पूर्ण हो गया है। निर्धनों के रक्त से सिंचित एवं उनकी व्यथा-पूर्ण आहों तथा सिसकियों की नीवों पर निर्मित गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में निवास करने-वाले धनीवर्ग के व्यक्तियों के चित्रण के साथ ही आज अपना ख़ून पसीना एक करके भी भूखे और नंगे रहनेवाले उत्पीड़ित मानवीय समाज के निराशा एवं वैषम्य-पूर्ण जीवन में नवीन आशाओं का संचार करने का प्रश्न अधिक महत्त्व-पूर्ण हो गया है।

उपन्यासों में भी प्रमुख रूप से मानव मन की इन्हीं गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास रहता है, और इसीलिये आधुनिक युग में वे अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। यों तो साहित्य के अन्य रूपों की लोकप्रियता भी बढ़ी है, पर उपन्यासों का उनमें सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इस युग में उपन्यास बहुत अधिक संख्या में लिखे गए हैं, और निरंतर लिखे जा रहे हैं। उनके विविध विषयवस्तुओं को यदि एक स्थान पर एकत्रित किया जाय, तो हमारे समूचे मानव जीवन का एक अत्यन्त विशाल चित्र उपस्थित हो जायगा। प्रारम्भिक युग में यद्यपि उपन्यास अधिक प्रगति नहीं कर सके थे, पर लोकप्रिय ख़ूब हुए थे। यह प्रसिद्ध ही है कि बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' इतने अधिक लोकप्रिय हुए थे कि उनको पढ़ने के लिए असंख्य लोगों ने हिन्दी सीखी थी। इसके पश्चात् जब 'देर आयद दुरुस्त आयद' की भाँति प्रेमचन्द का आगमन उपन्यासों के क्षेत्र में हुआ, तो

जैसे किसी योग्य निर्देशक की प्रतीक्षा में विकल उपन्यास-साहित्य को मानो प्राण मिले। उनके पश्चात् तो फिर उपन्यास-साहित्य ने बराबर प्रगतिशीलता की ओर ही चरण बढ़ाए हैं। प्रेमचन्द और उनके समसामयिक लेखकों ने पूरे समाज को, और उसकी समस्याओं के समाधान के प्रश्न को अपनी कृतियों में उठाया। उन्होंने व्यक्ति की अलग कोई प्रतिष्ठा नहीं की। उन्होंने अपने समय के सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन का सरल, सजीव एवं यथार्थ चित्रण किया है। वे सब अधिकांश रूप में साहित्य के स्वस्थ पक्ष पर बल देने वाले ही लेखक थे। पर प्रेमचन्दोत्तरकालीन लेखकों ने इससे आगे अपना कदम बढ़ाया। उन्होंने व्यक्ति की प्रतिष्ठा की और साहित्य में दर्शन, मनोविज्ञान आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया जाने लगा। फ्रायड, ऐडलर और युंग आदि अब नए उपन्यासकारों के निर्देशक-से हो गये थे, और आधुनिक काल में प्रत्येक उपन्यासकार यौनवाद, मनोविश्लेषणवाद, दर्शन, मार्क्सवाद आदि भावनाओं से ओतप्रोत होकर ही अपनी कृतियों की रचना करने लगा।

इसके अच्छे परिणाम भी हुए, और दुष्परिणाम भी। अच्छे परिणाम इस रूप में कि पहली बार मानव के अन्तस् में पैठ उसकी अन्तश्चेतनाओं और आन्तरिक प्रवृत्तियों के अध्ययन का प्रयत्न किया गया। जिससे मानव का पूर्ण चरित्र हमारे सम्मुख आया, वह हमारे लिए रहस्यपूर्ण नहीं रह गया। पिछले युग में ऐसी बात नहीं थी। तब हम पात्रों के बाह्य क्रिया-कलापों से ही परिचित हो पाते थे, वह अपने अन्तस् में क्या सोचता है, उसका अवचेतन मन किस दिशा में प्रवाहित हो रहा है, इन सबसे पाठकों का कोई तादात्म्य नहीं स्थापित हो पाता था। पर अब नए युग में मानव की अच्छी तरह चीर-फाड़ हुई, और उसकी एक-एक बातों की सूक्ष्म परीक्षा हुई। पर इसके साथ ही दुष्परिणाम यह हुए कि उपन्यास अपने-अपने मतों की लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ, सिद्धान्तों के प्रतिपादन, लम्बे-चौड़े दार्शनिक विवेचनों के अखाड़े बन गए, जिससे छिद्रान्वेषी आलोचकों को काफी सामग्री मिली, पर पाठकों के हाथ केवल निराशा ही लगी। उन्हें अधिकांश उपन्यासों को तो पढ़ डालने के लिए भी कसरत करनी पड़ी। लेकिन इसके बावजूद भी उपन्यास लोगों की अधिकाधिक माँग में निरन्तर लोकप्रियता प्राप्त करते रहे, और उपन्यासों का प्रकाशन बराबर बढ़ता ही रहा,

उपन्यास के क्षेत्र में नित्य नए लेखक आते रहे, और हरएक में कुछ-न कुछ नई चीज देने की अकुलाहट और बेबसी बनी रहती थी। हालाँकि अधिकांश तो केवल पूर्व की अनुकृति मात्र ही उपस्थित कर पाए, पर कुछ ने उचित रूप में मानवीय संवेदनाओं के मूल्यांकन के प्रश्न को समझा, और मानवता की प्रगति एवं उसके व्यापक कल्याण के प्रश्न तथा मानव-मात्र के प्रति प्रेम एवं मानव के विशिष्ट मूल्यों की पूर्ण प्रतिष्ठा के प्रश्न को अपनी कृतियों में ईमानदारी के साथ हल करने के प्रयत्न में संलग्न रहे। इसीलिए उपन्यासों के क्षेत्र में जहाँ घासलेटी साहित्य की रचना हुई, वहीं ऐसे साहित्य का भी सृजन हुआ, जिसने उपन्यास साहित्य को गतिशीलता तो प्रदान की ही साथ ही उसका ऐसा स्वरूप भी निर्धारित कर दिया, जिससे उसमें अधिकाधिक प्रौढ़ता एवं स्थायित्व की भावना का समावेश हो सका। फलस्वरूप आज का उपन्यास साहित्य प्रत्येक दृष्टिकोण से उन्नतिशील साहित्यिक विधा है, जो निरन्तर प्रगति ही कर रहा है, और उसका स्वरूप और निखरेगा, यह निर्विवाद है।

युग-प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन

अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अनेक ढंग से काल-विभाजन किया जाता है, यथा—प्रारम्भिक युग, मध्य युग और विकास युग आदि। पर यह वर्गीकरण पूर्णतया अवैज्ञानिक है। विकास युग नाम से वर्गीकरण करने का अभिप्राय क्या यह समझा जाय कि मध्य युग में उपन्यास साहित्य विकसित ही नहीं हुआ, और वह जहाँ था, वहीं रह गया? यदि नहीं, तो फिर उसका दूसरा जो भी अर्थ है, वह भयोत्पादक है। प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यासों को एक सर्वथा नवीन दिशा प्रदान की और उसे शैशवावस्था से निकालकर प्रगति एवं विकास की ओर दिशोन्मुख किया। अतः उन्हीं के आधार पर काल-विभाजन तर्क-संगत ढंग से इस प्रकार किया जा सकता है—

१—पूर्व प्रेमचन्द-काल
२—प्रेमचन्द-काल
३—उत्तर प्रेमचन्द-काल

पूर्व प्रेमचन्द-काल

१८५७ की क्रांति की विफलता के पश्चात् यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए भारतवासियों का साहस पूर्णरूप से तो नहीं समाप्त हो गया था, पर इतना निश्चय ही स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने प्रयत्नों की दिशा में वे पर्याप्त मात्रा में हतोत्साहित हो गए थे। ब्रिटिश अधिकारी अपने शासन का धीरे-धीरे प्रसार करते जा रहे थे। नवाबों और राजाओं का पतन होता जा रहा था। ईसा की १८वीं १९ वीं शताब्दियों में मुग़लों, सिक्खों, जाटों, मराठों आदि की भारतीय राजनीतिक शक्तियाँ आपस में एकता स्थापित कर विदेशियों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में असमर्थ रहीं, और देश में एक ऐसी जाति का शासन स्थापित हुआ, जो अपने यहाँ की औद्योगिक क्रान्ति से प्रेरित आर्थिक एवं साम्राज्यवादी नीति से प्रेरित थी। पिछले शासकों की भाँति उसने भारत वर्ष को अपना घर नहीं बनाया था। फलत: देश राजनीतिक दृष्टि से ही पराधीन नहीं हुआ, वरन् आर्थिक दृष्टि से भी उसकी दशा दिन-पर-दिन शोचनीय होती गई। भारतवासियों का १८५७ का प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् अंग्रेज़ों की राजनीति और आर्थिक नीति खूब फली-फूली। उनके पैर भली प्रकार जम गए और देश में एक ऐसी शासन-प्रणाली का जन्म हुआ, जो अनेक अंशों में पिछली शासन-प्रणाली या परंपरागत भारतीय शासन-प्रणाली से नितांत भिन्न थी। इस प्रकार उत्तर मुग़लकालीन अराजकता-पूर्ण परिस्थितियों में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर क्रमशः अपनी दूरदर्शिता, कुशलनीति एवं देश के परस्पर वैमनस्य का लाभ उठाकर अपना शासन स्थापित कर लिया, यह भारतीय इतिहास की एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण घटना है।[1]

इस काल में सामाजिक स्थिति भी कुछ विशेष अच्छी न थी। पारिवारिक प्रथा टूटती जा रही थी। परिवार में सबसे बड़ा व्यक्ति धन कमाए, और सारे परिवार का पालन-पोषण करे—यह भावना समाप्त हो गई थी। नारियों की स्थिति तो और भी दयनीय थी। उनकी आर्थिक परतन्त्रता

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक की पुस्तक हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना (१९६४), दिल्ली अध्याय १

भीषण रूप धारण कर चुकी थी। उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो दूर की बात थी। प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता न होने के कारण सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ना प्रायः असंभव हो गया था। बालविवाह बराबर छिपे तौर पर अब भी होते जा रहे थे। वेश्यावृत्ति भी बढ़ती जा रही थी। दूसरे शब्दों में समाज में नैतिकता का पूर्णतया पतन हो गया था। धार्मिक रूढ़ियों से समाज ग्रस्त था। विधवा विवाह को मान्यता नहीं प्राप्त थी। जिस प्रगतिशीलता की नितान्त रूप से आवश्यकता थी, समाज उससे लगभग अपरिचित था।

ऐसी परिस्थिति में हिन्दी उपन्यास-साहित्य का जन्म हुआ। इन समस्याओं के समाधान एवं प्रगतिशीलता लाने का उत्तरदायित्व प्रारंभिक उपन्यासकारों ने अपने ऊपर लिया और सुधारवादी उपन्यासों की रचना से समाज-सुधार करने का प्रयत्न तो किया ही, साथ ही उपन्यासों के माध्यम से पाठकों तक ऐसी भावनाएँ पहुँचाने का प्रयत्न किया, जिसमें उनमें जीवन के प्रति गरिमा का अनुभव हो, उनके खंडित होनेवाले विश्वास एवं छिन्न-भिन्न होनेवाली आस्थाओं को आधार प्राप्त हो, 'चरित्र' निर्माण हो, वेश्यागमन का अन्त तथा मद्यपान एवं जुए का अन्त हो, समाज में दृढ़ता आए एवं उसकी प्रगति हो तथा धर्म की रक्षा हो। इतिहास के चौरास्ते पर खड़े हुए और सब तरह की नई-पुरानी और अच्छी-बुरी चीज़ों से घिरे रहने पर भी उन्होंने निडर होकर भारतीय जीवन को समृद्ध बनाने का ध्रुव निश्चय किया।[1] इस ध्रुव निश्चय का ज्वलन्त रूप था सत्यान्वेषण। इसी सत्यान्वेषण का परिणाम था कि मध्ययुगीन ईश्वर ने मानवता का रूप धारण कर लिया। बहुत दिनों बाद उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवासी ने अपने और अपने चारों ओर के जीवन में दिलचस्पी ली—आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ मनुष्य के भौतिक जीवन को भी समृद्ध बनाने की चेष्टा की। उसने वह दृष्टिकोण ग्रहण किया, जो गीता के कृष्ण का था। नवीन युग-धर्म ने जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को एक नया पहलू प्रदान किया। तत्कालीन उपन्यास-साहित्य इस नवीन भावना के प्रवाह में बह चला।

---

१ डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : उन्नीसवीं शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ १८२

यह आवश्यक भी था कि उपन्यासकार जीवन की इन समस्याओं को अपनी कृतियों में चित्रित करें और गौरव-पूर्ण जीवन के निर्माण पर बल दें। यद्यपि इस युग में उपन्यास-साहित्य अधिक प्रगति नहीं कर पाया था, फिर भी लाला श्री निवास दास, बालकृष्ण भट्ट, गोपालराम गहमरी, लज्जाराम शर्मा आदि ने किन्हीं सीमाओं तक अपने उपन्यासों में जीवन की समस्याओं की ओर ध्यान दिया, पर या तो वह चलते-चलते उन प्रसंगों को स्पर्श करने के बराबर था, अथवा उपदेशक बनकर शिक्षा देने की प्रक्रिया-मात्र थी। उनमें जीवन की गरिमा कलात्मक ढंग से स्थापित करने का प्रयत्न नहीं के बराबर था। इस प्रारम्भिक काल में उपन्यासों का मानव जीवन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाया। पर जो भी प्रयत्न हुए, उसमें वह अकुलाहट और बेबसी का आभास हमें मिलता है, जो आगे चल-कर क्रियाशील रूप प्रकट हुआ। वास्तव में युगीन समस्याओं को उपन्यासों में अधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान इस युग में न मिलने के कारण स्पष्ट हैं। यह युग उपन्यासों का प्रारम्भिक युग है, बल्कि यह कहना चाहिए कि यह युग हिन्दी उपन्यासों की शैशवावस्था ही था। इस युग में हिन्दी सेवियों के सम्मुख सर्वप्रमुख समस्या हिन्दी-उपन्यासों के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना, तथा उसके लिए अधिकाधिक पाठक तैयार करना था। जो उपन्यासकार साहित्य-क्षेत्र में आए, उनके सम्मुख कोई दिशा न थी, कोई परम्परा न थी। उन्हें अपना मार्ग स्वयं निश्चित करना था। उन्हें अपनी मंजिल का स्वरूप भी स्वयं ही निर्धारित करना था। इसलिए उस समय जो साहित्यिक थे, उन्होंने विदेशी उपन्यासों और बँगला के उत्कृष्ट उपन्यासों का अनुवाद करके लोगों को एक दिशा प्रदान करने का प्रयास किया। पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस युग के उपन्यासकारों का प्रमुख दृष्टिकोण हिन्दी-उपन्यासों के लिये उपयुक्त और लोकप्रिय वातावरण तैयार करना था, जिससे हिन्दी उपन्यास अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँच सकें। इसके लिये उन्होंने उपन्यासों में कल्पनात्मक और रोमांचकारी प्रसंगों को अधिक से अधिक स्थान दिया। ऐसी घटनाओं को स्थान दिया गया, जिसे पढ़ते ही पाठक उछल पड़ते थे, और उसी तरह की दूसरी कृतियों को पढ़ने के लिए व्यग्र रहते थे। कहते हैं, बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता संतति' को पढ़ने के लिए ऐसे पाठक जो हिन्दी नहीं जानते थे, हिन्दी सीखने की कोशिश करने लगे, और

असंख्य मात्रा में पाठकों ने हिन्दी सीखी भी। इस प्रकार इस युग के उपन्यास-कारों ने हिन्दी उपन्यासों के उज्ज्वल भविष्य की पीठिका भर प्रस्तुत कर दी।

फिर भी यह अनुमान न लगाना चाहिए कि इन उपन्यासों में युगीन समस्याओं को ज़रा भी स्थान नहीं दिया गया। सच तो यह है कि हिन्दी उपन्यास प्रारम्भ से ही सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर आया था। आगे चल-कर अनेक उपन्यासकारों ने समाज या धर्म को सुधारने की चेष्टा में ही उपन्यासों की रचना की। वास्तव में उस समय नाटकों के अतिरिक्त केवल उपन्यास-लेखन ही ऐसा साधन था, जिसके द्वारा समाज के दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया। नैतिकता के विकास का प्रयत्न इन्हीं के माध्यम से किया गया। उस समय कहीं भी ज्ञान-बुद्धि का प्रकाश नहीं दृष्टिगोचर होता था, इसीलिए उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक चरित को ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया। बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, राधाकृष्ण दास, किशोरी लाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि अनेक उपन्यास लेखक ऐसे ही थे, जिनमें युगीन समस्याओं को उपन्यासों में उठाने और उनका समाधान प्रस्तुत करने की व्यग्रता थी। 'सौ अजान एक सुजान,' 'नूतन ब्रह्मचारी', 'परीक्षागुरु' इसी प्रकार के उपन्यास थे। इन लेखकों ने अपनी कृतियों में समाज के पतन की ओर ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त उस समय दूसरी भावना भी व्याप्त थी, जो सामाजिक और धार्मिक सुधार की भावना के अतिरिक्त थी, और वह भावना थी—राष्ट्रीय भावना। घरेलू जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले गृहस्थ जीवन के उपन्यास की भी रचना की गई। प्रायः लेखकों ने पुत्र को अंग्रेजी प्रभाव से प्रभावित दिखाया है। जिससे उसके पिता और उसके भावनाओं में भिन्नता आ जाती है, फलतः संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अथवा घर में बहू पढ़ी-लिखी है, तो सास या ननद अशिक्षित होती थीं। उनके परस्पर मनोमालिन्य और संघर्ष के भी चित्र इन उपन्यासों में मिलते हैं। इस प्रकार युगीन समस्याओं का उपन्यासों में चित्रण की समस्या पर विचार करते समय यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि इस युग के उपन्यासों में युगीन समस्याओं को सम्भव स्थान दिया गया है पर चूँकि यह उपन्यासों का प्रारम्भिक युग था, और उपन्यासों के भविष्य की उज्ज्वल पीठिका तैयार हो रही थी, इसीलिए प्रयत्न अधिक महत्त्व-पूर्ण न हो सके।

प्रेमचन्द-काल

इस युग में आते-आते जहाँ ब्रिटिश साम्राजवादी सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। साथ ही स्वाधीनता प्राप्ति का आन्दोलन भी धीरे-धीरे जड़ पकड़ रहा था। राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी का अभ्युदय इस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। आगे चलकर गांधीजी ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रगतिशील विचारधारा एवं उत्कृष्ट कोटि के जीवन-दर्शन के साथ अपनी अहिंसात्मक नीति से एक ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया, जिससे एक समूचा युग ही गांधी युग के नाम से प्रख्यात हुआ। सन् १९१४ में यूरोपीय महायुद्ध में अंग्रेजों और मित्र राष्ट्रों ने युद्ध का उद्देश्य जनतन्त्र, स्वतन्त्रता एवं जन अधिकारों की पूर्ण रूपेण रक्षा घोषित किया। इसमें भारत में अंग्रेजों की संकटापन्न स्थिति थी। अतः उन्होंने कुशल राजनीति से युद्ध में सहयोग देने के बदले पूर्ण भारतीय स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया। महात्मा गांधी ने भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन से सहयोग देने को कहा और परिणाम हुआ कि भारत में अंग्रेजों की स्थिति सुरक्षित रही। पर बाद में अंग्रेजों द्वारा अपने आश्वासन को न पूर्ण करने के कारण जन जीवन में अत्यधिक क्षुब्धता की वृद्धि हुई और स्वाधीनता-आन्दोलन और भी तेजी से चलने लगा। १९१९ में पंजाब में सर माइकेल ओ डायर (Sir Michael O' Dwyer) की कठोर नीति और सैनिक शासन (Martial Law) की निर्दयता के फलस्वरूप अमृतसर का भयंकर रोमांचकारी हत्याकांड हुआ, इससे जनता में असंतोष की जबर्दस्त लहर व्याप्त हुई। इसके परिणाम-स्वरूप महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अंग्रेजों द्वारा प्रदान 'सर' की उपाधि उन्हें वापस कर दी।

सितम्बर, १९२० से असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हुआ। कांग्रेस के नेताओं में आपस में मतभेद हो गया था। देशबंधु चितरंजनदास और पं॰ मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी नाम से कांग्रेस संगठन के अन्तर्गत ही एक अलग दल का निर्माण किया। दल धारा सभाओं और कौंसिलों में जाकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा संघर्ष करना अधिक उपयोगी समझता था। उधर जनता में साम्प्रदायिक भावना भी तेजी से बढ़ रही थी। मुस्लिम लीग का निर्माण हो चुका था, और

उसके नेता अपने अलग राष्ट्र-निर्माण का स्वप्न देखने लगे थे। यह साम्प्रदायिक वैमनस्य उस समय और भी चरम सीमा पर पहुँच गया, जब १९२४ में साम्प्रदायिक दंगों से दुखी हो महात्मा गांधी ने २१ दिन का अनशन किया, और सन् १९२६ में शुद्धि आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द की एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा हत्या कर डाली गई। १९२८ में ही हिन्दू महासभा के अन्तर्गत महामना पं० मदनमोहन मालवीय तथा देशभक्त लाला लाजपतराय सदृश नेताओं ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। १९३६-३७ में निर्वाचन हुए और प्रायः सभी निर्वाचन-क्षेत्रों से कांग्रेस बहुमत की संख्या में निर्वाचित हुई। पर प्रान्तों में गर्वनरों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनके अन्तर्गत कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाने से अस्वीकार कर दिया। बाद में वाइसराय लार्ड लिनलिथगो के आश्वासन से कांग्रेस ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया।

इस प्रकार गांधीजी के नेतृत्व में राजनीतिक चेतना के साथ भारत-वासियों में आत्मविश्वास भी प्रकट हुआ। वे अब निडर-से हो गए थे। गांधीजी की यह बहुत बड़ी सफलता थी। यह राजनीतिक चेतना केवल नगरों तक ही सीमित न होकर गावों तक विस्तृत हो गई थी। जो कार्य तिलक आदि नेता कर सकने में असमर्थ रहे थे, वही गांधीजी ने सम्भव कर दिखाया था। इस समय मुसलमान गांधीजी के साथ थे। अली भाई (मौलाना मुहम्मदअली तथा शौकत अली) का दृष्टिकोण प्रायः साम्प्रदायिक था। अंग्रेजों ने खलीफा का पद टर्की में तोड़ दिया था, और उसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। परिणाम-स्वरूप खिलाफत आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इस काल का स्वाधीनता संघर्ष रूसी राज्यक्रान्ति से भी प्रभावित रहा। इसके अतिरिक्त आयरलैन्ड का उदाहरण भी भारत के सम्मुख आया। डी० वेलरा तथा उनकी पार्टी के माध्यम से वहाँ तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, इससे भारतीयों को यथेष्ट मात्रा में प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त जो नवयुवक राजनीति में भाग ले रहे थे, उन लोगों ने अपनी अलग-अलग आतंकवादी पार्टियाँ संगठित कर रखी थीं। ये लोग अहिंसा में अपना अविश्वास प्रकट करते थे, और क्रान्तिकारी कार्यों, विस्फोट, अराजकता फैलाने आदि से ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला देना चाहते थे।

थॉम्पसन और गैरेट ने अपने इतिहास[1] में लिखा है, Shaking of The Pagoda Tree. इन तीन शब्दों से आर्थिक परिस्थिति का बड़ा अच्छा आभास मिलता है। इसका तात्पर्य है कि जो भारतवर्ष कभी धन-धान्य से पूर्ण था, अंग्रेजी शासन काल के स्थापित होने के साथ ही निर्धन होना प्रारम्भ हो गया था। जब से अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ, तभी से पैगोडा वृक्ष का हिलाया जाना प्रारम्भ हुआ, अर्थात् आर्थिक परिस्थिति दिनोंदिन शोचनीय होती गई। अंग्रेजों का दृष्टिकोण था देश से कच्चा माल एकत्रित कर इंगलैन्ड के मिलों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति करना। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इंगलैन्ड आर्थिक क्षेत्र में अपनी प्रसारवादी नीति अपना रहा था। परिणाम-स्वरूप भारत की आर्थिक व्यवस्था धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। व्यापार की दृष्टि से अंग्रेजों ने स्वतन्त्र नीति (LESSEIZ FAIR) का पालन करना प्रारम्भ कर दिया था। अर्थात् इंगलैन्ड से जो चीज़ भारत आए उस पर कोई कर न लगे। इससे विदेशी मालों का भारत में सरलता से खपत होने लगा और राष्ट्रीय आय का वह भाग, जो देश में ही रह सकता था, विदेशों को जाने लगा। जहाँ तक कृषि से सम्बन्ध है, अंग्रेजों के प्रगतिशील राज्य में कृषि का ढंग वही पुराना ही था। प्रतिदिन उपज में कमी होती जा रही थी। फसलों की रक्षा की वैज्ञानिक एवं आधुनिक प्रक्रियाएँ भारतीय कृषकों को नहीं बताई जाती थीं। खेत दिन प्रतिदिन छोटे होते जा रहे थे। कृषकों के विकास के लिए विशेष उपाय नहीं किए जाते थे। सरकार को केवल लगान से मतलब था। जमींदार उनके दलाल थे और उन्हें शोषण की जैसे छूट-सी थी। कृषकों के ऊपर उनके दमन एवं अत्याचारों में वृद्धि होती जा रही थी। परिणाम-स्वरूप भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय होती जा रही थी। अतः गांधीजी को राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ आर्थिक संघर्ष भी करना पड़ा था।

भारत में समाज और धर्म के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। हमारे यहाँ समाज का आधार धर्म पर ही है। इस युग में

---

१ थॉम्पसन एन्ड गैरेट : राइज एन्ड फुलफिलमेन्ट ऑव ब्रिटिश रूल इन इन्डिया (लन्दन)।

समाज कई भागों में विभक्त था। सबसे बड़ा भाग वैष्णवों का था। दूसरा भाग शैवों का था। यह भाग परम्परा पर आधारित था। जिनके पूर्वज शैव या वैष्णव होते थे, वे भी अपने को शैव और वैष्णव कहते थे। परम्पराओं का मोह लोगों को ऐसा था कि धार्मिक पाखंडों में विश्वास न रखते हुए भी उनका पालन करते चले आ रहे थे। धीरे-धीरे धार्मिक कृत्यों के आडम्बर में लोगों की आस्था टूटती जा रही थी, इसके पीछे कई तत्त्व क्रियाशील थे। पहला था—पश्चिम की वह चुनौती, जो औद्योगिक क्रान्ति की भावना लेकर आई थी। इसमें भौतिकता का अंश बहुत अधिक था। भारतवासियों का अपना एक जीवन था। और इस भौतिकता के पीछे वे जो आध्यात्मिकता का भाव सन्निहित रखते थे, वह अन्य देशों में न थी। अतः पश्चिम की इस चुनौती को स्वीकार करने में उन्हें लगा जैसे कि उनकी आत्मा की हत्या हो जायगी। अतः पश्चिम के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गयी थी, जिसे पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी कहा गया, जो आध्यात्मिक क्षेत्र का संघर्ष था। प्रश्न उठता है कि इस जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था में आध्यात्मिकता आई कहाँ से ? भारत का जो शिक्षित वर्ग था, उसने एक ओर तो पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा, वहीं भारत में सर्वत्र अन्धकार की गहन छाया व्याप्त देखी। अतः उन्होंने सोचा कि इस अन्धकार को मिटाने के लिए एक ऐसा भारतीय शास्त्र निकालना चाहिये, जो भारतीय शिक्षित वर्ग को तो मान्य हो ही, पश्चिमी जगत् को भी मान्य हो। अर्थात् कर्म का कोई ऐसा रूप प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए, जो 'पौराणिकता एवं आडम्बर से विहीन हो। वह धर्म का स्वरूप खोजा गया—उपनिषदों का धर्म, जो आज भी प्रचलित है। यह वही धर्म था, जिसे शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त करने के लिए प्रयोग किया था।

इस काल में भारतीय जीवन बहुत ही दयनीय था। लोगों में अजब सी निराशा व्याप्त थी। आर्यसमाज-आन्दोलन इस काल में सामाजिक परिस्थिति में सुधार लाकर प्रगतिशीलता लाने में संलग्न था। यह तो निश्चित था कि भारतवासी जहाँ थे, वहाँ न रहना चाहकर आगे बढ़ने के लिए उत्सुक थे। उनकी इस आतुरता को तीव्र बनाने में पाश्चात्य शिक्षा ने यथेष्ट मात्रा में सहायता दी। पाश्चात्य शिक्षा ने ही नारी की पारिवारिक स्थिति तथा सामाजिक परम्पराओं की स्थिति में अनेक परिवर्तन उपस्थित

कर दिये थे। अभी तक नारी को एक निर्जीव गठरी-मात्र ही समझा जाता था। उसे उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता न थी और परिवार में यद्यपि वह गृहलक्ष्मी कह कर पुकारी जाती थी, किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति दासी से कुछ अधिक अच्छी न थी। पुरुष वर्ग उसे भ्रम में रखना चाहता था, जिससे उसकी प्रगतिशीलता की ध्वनि कुंठित होती रहे और उसके अधिकारों का स्वत्व स्थापित रहे। इस युग में धीरे-धीरे नारी की स्थिति में परिवर्तन उपस्थित हो रहा था। नारियाँ अब बन्धन में नहीं रहना चाहती थीं। पुरुषों की भाँति वे भी राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष में बराबर भाग लेना चाहती थीं। वे भी समाज को उन्नति की चरम सीमा तक ले जाना चाहती थीं। वे भी उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती थीं। राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी के उदय ने नारी को सहज ही उसका अधिकार प्रदान कर दिया। उसे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा। गांधीजी ने जो असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया, उसमें इन्हीं "पिछड़ी" हुई नारियों ने ही पुलिस के दमनचक्र का सामना किया। गांधीजी का आन्दोलन केवल राजनीतिक ही नहीं था, वरन् वह भारतवर्ष के सम्पूर्ण जीवन को अपने में समेटे हुए था। इसी प्रकार पारिवारिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अभी तक भारत में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा प्रचलित थी, पर ज्यों-ज्यों भारत की आर्थिक स्थिति शोचनीय होने लगी, सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा भी त्यों-त्यों विच्छिन्न होने लगी। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के कारण भारतवासियों में एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उपस्थित होने लगा था। जाति-प्रथा भी क्षीण होने लगी थी। बाल-विवाह की प्रथा भी धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही थी। सुधारवादी आन्दोलनों एवं पाश्चात्य शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण भारत का सामाजिक ढाँचा हिलने लगा था।

इस प्रकार इस युग की विस्तृत पृष्ठभूमि में इस युग की कुछ प्रमुख समस्याओं को इस प्रकार रख सकते हैं—

१—इस युग की सबसे प्रमुख समस्या स्वाधीनता प्राप्ति की थी। पाश्चात्य शिक्षा और पश्चिमी सम्पर्क ने धीरे-धीरे लोगों की चेतना जाग्रत् करना प्रारम्भ कर दिया था और लोग देश में ब्रिटिश साम्राज्य को बहिष्कृत कर अपना शासन स्थापित करने के लिए व्यग्र थे।

२—दूसरी समस्या आर्थिक उन्नति की थी। पूँजीवाद अपनी जड़ें गहरी करता जा रहा था। अंग्रेजों की नीति भारत की आर्थिक व्यवस्था को पूर्ण रूप से जर्जरित कर देने की थी। शोषक वर्ग के दुराचार बढ़ते जा रहे थे और शोषित वर्ग निरन्तर पिसता ही जा रहा था।

३—तीसरी समस्या नारियों की प्रगतिशीलता के लिए उपयुक्त पृष्ठ-भूमि तैयार करना था। लोग बाल-विवाह में अभी तक विश्वास करते थे। साथ ही उनकी यह भी धारणा बन गई थी कि नारियाँ घर की चार दीवारों के बीच बंद रहनेवाली पशु-मात्र हैं। लोग अपनी लड़कियों को उच्च शिक्षा के लिए नहीं भेजते थे, उनकी उत्सुकता भी इस दिशा में न थी।

४—आर्थिक व्यवस्था क्षीण होने के कारण सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा विच्छिन्न होती जा रही थी। परिवार टूटते जा रहे थे, लोगों में वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। एक प्रकार से पूरा सामाजिक ढाँचा ही हिलता जा रहा था। समस्या थी एक ऐसे नये समाज की रचना की, जिसमें इन कुरीतियों का निराकरण सम्भव हो सके।

५—अभी तक धर्म पाखंडों और पौराणिक आडम्बरों में ऐसा घिरा था कि शिक्षित वर्ग किन्हीं भी रूप में उसे अपनाने को तैयार न था। इस प्रकार एक प्रमुख समस्या धर्म के ऐसे स्वरूप को उपस्थित करने की थी, जिसमें आडम्बर आदि न हो और जो शिक्षित वर्ग के साथ ही सबको मान्य हो।

जब उपन्यासों में इन समस्याओं के चित्रण की ओर हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें उतनी निराशा नहीं होती, जितनी पिछले युग में हुई थी। इस युग में प्रेमचन्द ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया था और उन्होंने उपन्यासों को एक नई दिशा प्रदान की। कल्पना-लोक से निकाल कर उसे यथार्थ की कठोर भूमि पर ला खड़ा कर प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यासों को प्रगति की ओर मोड़ा। स्वयं प्रेमचन्द ने ही अपने सभी उपन्यासों में इस युग की सभी समस्याओं का चित्रण कर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। शोषक और शोषित वर्ग के परस्पर संघर्ष, पूँजीवाद के दमन-चक्र, नए धर्म का स्वरूप और प्रगतिशील समाज की रचना के सुझावों से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं। नारी जीवन की अनेक समस्याओं के साथ सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक पाखंडों की ओर प्रसाद ने अपने उपन्यासों में लोगों का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें उचित निर्देशन प्रदान करने का प्रयास किया। इस युग में लगता था

कि नारी-समस्या, उसकी प्रगति और सामाजिक संघर्ष में उसे उचित स्थान देने की ओर ही उपन्यासकारों का विशेष ध्यान रहा। भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, चतुरसेन शास्त्री, चंडीप्रसाद 'हृदयेश' सियारामशरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', गोविन्दवल्लभ पन्त, राधिकारमणप्रसाद सिंह, श्रीनाथसिंह आदि सभी उपन्यासकारों की कृतियों में नारी-जीवन के मार्मिक प्रसंग नारियों की प्रगतिशीलता के लिये जोरदार दलीलें, उसके पिछड़े होने पर तीखे व्यंग्य और उसकी समस्याओं के समाधान का अपना आदर्शवादी ढंग सभी कुछ मिल जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों में भारत के गौरवशाली अतीत का उत्साह-पूर्ण चित्रांकन कर लोगों में नई सामाजिक चेतना उत्पन्न करने का यथेष्ट प्रयास किया। इस प्रकार प्रेमचन्द के नेतृत्व में इस युग में प्राय: सभी उपन्यासकारों ने युग की समस्याओं को पिछले युग की भाँति अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उन्हें हृदयंगम कर, चेतना की कसौटी पर कपड़-छानकर और मँजी हुई तार्किक शक्ति से उपस्थित कर उनका समाधान भी अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया।

उत्तर-प्रेमचन्द-काल

१ सितम्बर, १९३९ को जर्मनी ने पोलैन्ड पर आक्रमण कर दिया। उधर इंगलैन्ड ने ३ सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, और इस प्रकार यूरोपीय महायुद्ध का सूत्रपात हो गया। भारत के अंग्रेजी शासन ने विना भारतीय राजनीतिक प्रतिनिधियों से परामर्श किए भारत की ओर से भी युद्ध की घोषणा कर दी। कांग्रेस इस घोषणा से असहमत थी और उसने ब्रिटिश सरकार से युद्ध के उद्देश्यों को स्पष्ट करने माँग की, पर सरकार ने इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर न दिया। परिणाम-स्वरूप २२ अक्टूबर, १९३९ को कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया। मार्च १९४० में लाहौर-प्रस्ताव के अनुसार मि० जिन्ना ने पाकिस्तान की माँग उपस्थित की। इसी समय गांधीजी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी प्रारम्भ हो गया और प्रायः सभी बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए। उधर महायुद्ध की स्थिति भयावह हो गई थी और जर्मनी तथा इटली की ओर से युद्ध में जापान के भी सम्मिलित हो जाने के कारण भारतीय सीमा के लिए खतरा उत्पन्न हो

गया था। भारत की आन्तरिक अशान्ति से ब्रिटिश सरकार वैसे ही चिन्तित थी। अतः उसे पुनः कांग्रेस के सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। सहयोग प्राप्ति के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक मिशन भारत आया। क्रिप्स-योजना के अन्तर्गत युद्ध समाप्ति पर भारतीय संघ की स्थापना का आश्वासन तो दिया गया था, पर कोई भी देशी राज्य इस संघ से अलग रह सकता था, यह योजना किसी को भी स्वीकार न हुई।

इसी समय रूस ने अंग्रेजों की ओर से युद्ध में सहयोग देने का निश्चय किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, जो अभी-तक भारत में अवैध थी, वैध घोषित कर दी गई, और उसके नेता जो अभी तक युद्ध के भयंकर परिणामों पर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देते थे, अब युद्ध की उपयोगिता पर भाषण देने लगे। श्री राजगोपालाचारी-जैसे कांग्रेसी नेता पाकिस्तान की माँग को उचित बताते हुए कांग्रेस से इस्तीफा दे चुके थे। ८ अगस्त, १९४२ को बम्बई-कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया। देशव्यापी आन्दोलन और क्रान्तिकारी कार्य बड़ी तीव्रता से होने लगे। सरकार ने कठोर दमन नीति का पालन किया। इसमें कम्युनिस्ट पार्टी और मुस्लिम लीग ने सरकार का साथ दिया। इन्हीं दिनों इंगलैन्ड में अनुदार दल निर्वाचन में पराजित हुआ और मजदूर दल शासन में आया। उसके निर्देशानुसार उस समय के भारतीय वायसराय लार्ड वैवेल ने शिमला में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया, पर यह विशेष सफल नहीं हुआ। २ जनवरी, १९४६ को ब्रिटिश संसद का एक दल यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करने आया। मार्च १९४६ में एक दूसरा कैबिनेट मिशन भारत आया। इसकी सिफारिशों पर सरकार ने २ सितम्बर को पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार बनाई। ३ जून, १९४७ को नये वायसराय लार्ड माउन्ट बेटेन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग की सहमति से भारत-पाकिस्तान की योजना प्रकाशित की और अन्त में १५ अगस्त, १९४७ को भारत ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त की, पर पाकिस्तान का निर्माण भी दुर्भाग्य-पूर्ण परिस्थितियों में रक्तपात और नृशंस हत्याओं के बीच हो ही गया।

यद्यपि घरेलू उद्योग-धन्धों को अंग्रेजों ने कोई प्रोत्साहन नहीं दिया था, तथापि वे किसी न किसी प्रकार चलते ही जा रहे थे। किन्तु जब विदेशी मिलों के कम मूल्य के सामान भारत आने लगे, तो इन घरेलू उद्योग-

धन्धों की रही-सही स्थिति भी एक प्रकार से समाप्त हो गई। यहाँ का कच्चा माल इंगलैन्ड की मिलों को जाता था और वहाँ का बना माल यहाँ बिकने आता था। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था में कोई विशेष प्रगति नहीं हो रही थी। देश की राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग लाभांश के रूप में विदेशों को जा रहा था। भारत के औद्योगीकरण का कोई उपाय नहीं किया जा रहा था। लोग इसीलिए कृषि की ओर झुकते जा रहे थे। जमीन की माँग बढ़ रही थी। परिणाम-स्वरूप लगान भी बढ़ता जा रहा था, पर कृषि के विकास के लिए कोई प्रयास नहीं किया जा रहा था। १९४४ में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा, पर यह प्राकृतिक अकाल नहीं, अपितु सुनियोजित योजना थी, जिसमें समाजद्रोही व्यापारियों ने सरकार के संकेतों पर खूब लाभ उठाया। दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने एक राष्ट्रीय योजना-समिति बनाई, पर वह कोई विशेष काम न कर सकी थी कि युद्ध प्रारम्भ हो गया।

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् ६ अप्रैल १९४५ को ब्रिटिश सरकार ने एक घोषणा के अनुसार बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को अपने नियन्त्रण में कर छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों को प्रारम्भ करने की छूट दी। दो वर्ष पश्चात् ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक योजनाओं के द्वारा देश की छिन्न-भिन्न आर्थिक व्यवस्था को पुनः सुव्यवस्थित करने का प्रयास प्रारम्भ किया। पर जब तक अंग्रेजी शासन भारत में रहा, कभी सही माने में भारत की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने का कार्य नहीं प्रारम्भ किया। स्वतन्त्रता के पश्चात् तीन पंचवर्षीय योजनाओं में देश की काफी आर्थिक प्रगति हुई है।

भारत में धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा था और उसी के अनुरूप भारत में सामाजिक चेतना भी आती जा रही थी। १९१७ में भारत में कुल पाँच विश्वविद्यालय थे। १९२२ में उनकी संख्या चौदह हो गई। इसके पश्चात् तो अन्य अनेक विश्वविद्यालय अनेक नगरों में स्थापित किए गए, जिससे प्रकट होता है कि लोगों में धीरे-धीरे जागरूकता की वृद्धि हो रही थी। उसका एक अच्छा परिणाम तो यह हुआ कि जाति-पाँति के जो बन्धन अभी तक लोगों को जकड़े हुए थे, वे अब ढीले हो रहे थे। परम्पराओं के प्रति लोगों का मोह धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। अब

अपनी जाति, अपना वर्ग और अपनी बिरादरी की भावना समाप्त हो रही थी और उसके स्थान पर विश्वबन्धुत्व की भावना लोगों पर छाती जा रही थी, जिससे लोग शीघ्र ही स्वाधीनता प्राप्त कर अपने देश के नवनिर्माण के सपने देख रहे थे। पर सम्मिलित परिवार की टूटती प्रथा में कोई स्थिरता नहीं आ रही थी, वह निरन्तर टूटती और विशृंखलित ही होती जा रही थी।

नारियों की अवस्था इस युग में भी बहुत अधिक नहीं सुधर पाई थी। दहेज की ऊँची माँगों के कारण लड़कियों के लिए योग्य वरों से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती थीं, जिससे उनका जीवन बहुत अधिक सुखमय नहीं हो पाता था। यद्यपि कहा गया है कि दहेज-प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है, पर सच तो यह है कि वह अभी तक एक अभिशाप के रूप में चली आ रही है। विधवा विवाह अभी भी सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त कर सके थे और बाल-विवाह के कारण अधिकांश बालक-बालिकाओं को अपने स्वास्थ्य से हाथ धोना पड़ता था। पति की अकाल मृत्यु पर नासमझ उम्र की बालिकाएँ, जो विधवा बन जाती थीं, हमारे समाज की रूढ़ परम्पराओं के कारण बहुत ही दुखमय जीवन व्यतीत करती थीं। परिणाम यह हुआ कि इस दारुण दुख से बचने के लिए अनेक नारियाँ गलत दिशा में जाने लगीं और रूढ़ परम्पराओं का दुष्परिणाम वेश्यावृत्ति के रूप में प्रकट होने लगा। समाज-सुधारकों ने धीरे-धीरे सामाजिक क्रान्ति लाने का प्रयास किया और विधवा विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए देश के तरुणों को उस दिशा में प्रोत्साहित भी किया, पर इसका कोई उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ। विधवा नारियों की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। यह आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक युग में भी पर्दे की प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त होने के बजाय बढ़ती गई। इस दिशा में भी कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। पर दूसरी ओर जहाँ तक नारियों की प्रगतिशीलता का प्रश्न है, वह उत्साहहीन नहीं रहा। नारियों के अनेक सामाजिक संगठन स्थापित हो गए थे, और नारियाँ उनके माध्यम से सामाजिक कार्यों तथा भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय भाग ले रही थीं। अब लड़कियों के अभिभावक उनकी उच्च शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं रहते

थे, और नारियों में शिक्षा-वृद्धि हो रही थी। युनिवर्सिटियों में लड़कियों की संख्या प्रत्येक वर्ष बढ़ती जा रही थी।

यह तो हुई नारियों की बात, पर देश के दुर्भाग्य से उसका सामाजिक ढाँचा सुदृढ़ होने के बजाय रोज बिगड़ता ही जा रहा था। हिन्दू-मुसलमानों का वैमनस्य प्रतिदिन बढ़ रहा था। हिन्दुओं ने बार बार अपने मित्रता का हाथ मुसलमानों की ओर बढ़ाया पर स्वार्थी कुत्सित भावनाओं से पूर्ण संकुचित दायरे में बढ़े, नाम की लालसा में पागल मुस्लिम नेताओं के नेतृत्व में मुसलमानों ने मित्रता और सद्भावना से प्रेरित असंख्य बाहों को ठुकरा दिया और पाकिस्तानी स्वर्ग की कल्पनाओं में हिलोरें मारने लगे। हिन्दुओं ने अपने गौरवशाली परम्परा के अनुरूप ही बराबर मुसलमानों को अपना भाई समझा और उन्हें अपनी पलकों पर बिठाया, पर मुसलमानों के हृदय में उनके नेताओं ने हिन्दुओं के प्रति अत्यन्त घृणा का भाव भर दिया था तथा देश का वातावरण उन्होंने विषाक्त कर दिया था। हिन्दुओं के प्रति जहर उगलना ही उन्होंने अपना धर्म बना लिया था। यह हिन्दुओं की सहिष्णुता और उदारता ही थी कि १५ अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान का निर्माण हुआ। यहाँ एक बात मुख्य है कि यह कहा जाता है और इस बात का प्रचार किया जाता है कि मुसलमानी जिद से ही पाकिस्तान का निर्माण हुआ। पर सच तो यह है कि यह हिन्दुओं की उदारता और अपने मुस्लिम मित्रों को सन्तुष्ट करने की भावना के कारण ही हुआ। यद्यपि इसका उन्हें बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा, अपने हृदय के टुकड़े को काट कर अलग कर उसे ही पाकिस्तान बनाया गया।

१५ अगस्त, १९४७ को स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् भीषण हत्यायें भारत-पाकिस्तान-सीमा पर हुईं। पाकिस्तान में लाखों हिन्दुओं को या तो बेघरबार किया गया या जान से मार डाला गया। पाकिस्तान से लाखों की संख्या में बेघरबार लोग भारत आए और नई राष्ट्रीय सरकार उन्हें बसाने, उनके लिए उचित रोजगार की व्यवस्था करने में संलग्न हो गयी। राष्ट्रीय सरकार ने पद-भार ग्रहण करते ही देश के नवनिर्माण की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व, बल्कि १९४६ के अन्त तक सभी समस्यायें प्रायः वही रहीं, जो पिछले युग में थी। इसका प्रमुख कारण यही है कि अंग्रेजी सरकार भारत

के चतुर्मुखी विकास के लिए किंचित्‌मात्र भी उत्सुक नहीं थी। १९४७ में समस्याऐं अवश्य ही एकदम से बढ़ गईं। इस युग की पृष्ठभूमि की व्याख्या के पश्चात् समस्याओं को संक्षेप में हम इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं:—

१—स्वाधीनता प्राप्ति की समस्या इस युग में भी सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण रही।

२—अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रोत्साहित न किए जाने पर आर्थिक निर्माण की समस्या प्रायः सभी चेतन-सम्पन्न भारतीयों के सामने प्रस्तुत थी। भारतीयों को खादी वस्त्रों को पहनने के लिए कांग्रेस द्वारा उत्साहित किया जाता था, जिससे हथकरघों पर बने वस्त्रों की बिक्री हो सके, और जहाँ तक सम्भव हो सके, भारत का धन देश के बाहर जाने से रोका जाय। इसी प्रकार के अन्य उपाय भी किये जाते थे।

३—जिस प्रगतिशील और जागरूक वातावरण तैयार करने का कार्य पिछले युग में प्रारम्भ हो गया था, वह इस युग में भी चलता रहा। इसका अच्छा परिणाम यह हुआ कि लोगों में शिक्षा का महत्त्व घर कर रहा था, जिससे परम्पराओं के प्रति उनका मोह और धार्मिक आडम्बर प्रायः टूट गये थे। अब सात समुन्दर पार जाने में लोगों को कोई बुराई नजर नहीं आती थी। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि लोग पूर्ण रूप से जागरूक हो गये थे। समस्या तो ज्यों-की-त्यों ही बनी हुई थी। हाँ उस दिशा में सफलता धीरे-धीरे अवश्य ही प्राप्त हो रही थी।

४—विधवा नारियों की समस्या समाज के सम्मुख एक प्रश्न सूचक चिह्न था। दूसरे नारी-समाज के सामने एक और प्रमुख समस्या थी कि वे पुरुषों द्वारा केवल इसलिए नियन्त्रित हों कि वे आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र और पुरुषों के आश्रित हैं? अर्थात् नारी की मुक्ति किसमें है? कैवल विवाहित जीवन में, अथवा वह अपना स्वतन्त्र जीवन यापन गौरव-पूर्ण ढंग से कर सकती है।

५—सामाजिक व्यवस्था की शृंखलायें टूट गई थीं, उन्हें नये सिरे से जोड़ नए समाज की रचना की समस्या अभी भी थी। उसके लिए जो प्रयत्न किए जा रहे थे, उसमें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी।

६—स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् बहुसंख्या में आये हुए शरणार्थियों के बसाने की समस्या, हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या, देश के

नवनिर्माण और आर्थिक पुनरुत्थान की अन्य समस्यायें भी इस युग में थीं।

प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यासों को एक निश्चित दिशा प्रदान की थी, और उसे विकास के चरमोत्कर्ष की ओर ले जाने का अथक परिश्रम किया था, किन्तु युग हर क्षण परिवर्तनशील है। विश्व प्रत्येक क्षण एक नई करवट लेता रहता है। यह युग क्रान्ति का युग था। प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान इस युग की विशेषता है। विज्ञान ने लोगों को अधिक तार्किक शक्ति प्रदान की थी। अब प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं, समाज की संकुचित सीमाओं तथा जीवन में स्थिरताओं के प्रति लोगों की प्रतीति नहीं रही थी। वे अब जीवन मे विविधता की आकांक्षा करने लगे थे। यह नवीन भावना अब लोगों को अत्यधिक प्रभावित करने लगी थी, और हमारे उपन्यासकारों ने इसे पूर्ण रूप से हृदयगम कर लिया था। अब उन्होंने युग की समस्याओं को अधिक पैनी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। वे अब उसे तर्क की कसौटी पर उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना चाहते थे। आदर्शवाद-मात्र अब उनकी दृष्टि में न था। उन्होंने मानव मन के अन्तरमन में पैठकर उसके अन्तर्द्वन्द्वों और आन्तरिक प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास किया। इस प्रकार इस युग में उपन्यासों की दिशा ही पूर्णतया परिवर्तित हो गई। जिन प्रवृत्तियों को पिछले उपन्यासकार या तो समझ ही नहीं पाए, या समझते हुए भी उन्होंने उसकी अवहेलना की, और जबर्दस्ती समस्याओं पर आदर्शवादी आवरण डालने का प्रयास किया, इस युग में उपन्यासकारों ने उन्हीं प्रवृत्तियों को महत्ता प्रदान की। मानव मन में अनेक प्रकार के भाव ज्वार-भाटे की भाँति उठते-गिरते, बनते-बिगड़ते रहते हैं। उनका सम्यक् चित्रण करना ही नवीन उपन्यासकार अपनी सार्थकता समझने लगा।

प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप में कल्पित करके उसे अपने साहित्य का आलम्बन बनाया था, और प्रेमचन्द के समसामयिक प्रायः सभी उपन्यासकारों ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप में ही स्वीकृत किया था। किन्तु इस युग में उपन्यासकारों ने एक नवीन दिशा ग्रहण किया और उन्होंने सम्मिलित स्वर में यह घोषणा की कि व्यक्ति तो स्वयं में एक इकाई है, आवश्यक नहीं कि वह सामाजिक इकाई ही हो। मनो-

विश्लेषण तथा अन्तस्चेतनावाद के सूक्ष्म विवेचन से मानवजीवन की समस्याओं का नया अध्ययन और उनका मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। नारी जीवन की अनेक समस्याओं का दार्शनिक विवेचन जैनेन्द्र ने किया। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी ने भी अनेक नारी प्रसंगों को अपनी कृतियों में उठाया। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, बलवन्तसिंह, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मनहर चौहान, सुरेन्द्रपाल, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, पाण्डेय बेचनशर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, राजेन्द्र अवस्थी तथा रांगेय राघव आदि ने विशृंखलित समाज, टूटती मर्यादाओं और सामाजिक नवनिर्माण के प्रश्न को अपनी कृतियों में स्थान दिया। इस प्रकार इस युग के उपन्यासकार युगीन समस्याओं से अपने को अलग नहीं रख सके। इसका मार्ग प्रेमचन्द ने प्रशस्त किया था और इस युग के उपन्यासकारों ने एक नई दृष्टि से युग की समस्याओं को अपने उपन्यासों में स्थान देते हुए जीवन की गरिमा स्थापित करने का प्रयास किया।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास और नाटक में मूलभूत समानताएँ होते हुए भी असमानताएँ हैं। उपन्यासों में प्रमुख रूप से नारियों और पुरुषों की भावनाएँ और घटनाएँ चित्रित की जाती हैं, पर नाटक में पात्रों एवं उनके क्रिया-कलापों पर ही अधिक बल दिया जाता है।[1] वास्तव में उपन्यास और नाटक की टेकनीक में भी बड़ा अन्तर है। वैसे तो यह बात सत्य है कि दोनों में ही एक कथा रहती है, कुछ पात्र रहते हैं और कथानक के विकास में उनका प्रमुख हाथ होता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो उपन्यास की रचना करना आसान है, नाटक की रचना कठिन है। एक व्यक्ति के पास

---

1 "In the novel it is chiefly sentiments and events that are exhibited; in the drama, it is character and deeds."

—गेटे

कागज है, क़लम है, थोड़ी-सी प्रतिभा है, जीवन को समझने की शक्ति है, तो वह उपन्यास-रचना कर सकता है, पर नाटक की रचना में इन आवश्यकताओं की पूर्ति तो करनी ही पड़ती है, साथ ही रंगमंच की टेकनीक एवं प्रकाश व्यवस्था, दृश्यांकन की व्यवस्था तथा साज-सज्जा आदि अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। प्रायः नाटक ऐसे लिखे जाते हैं, जो कम समय में सरलता से रंगमंच पर प्रस्तुत किए जा सकें। इसीलिए नाटकों का आकार छोटा होता है और उसमें नाटककार को सारी आवश्यक बातें संक्षिप्तता और कलात्मकता के साथ उपस्थित करनी होती हैं। साथ ही इस संक्षिप्तता के कारण नाटक में अपने मत स्वयं उपस्थित करने का नाटककार को कोई अवसर नहीं प्राप्त होता, पर उपन्यासों में ऐसा कोई बन्धन नहीं होता। उपन्यास का आकार-प्रकार कुछ भी हो सकता है और उसमें उपन्यासकार जहाँ चाहे, वहाँ उपस्थित होकर अपने मत प्रकट कर सकता है। इसीलिए नाटक रचना बंधन-युक्त है और उपन्यास रचना बन्धन-मुक्त है।[1] जितनी सीमाएं नाटकों के साथ हैं, उपन्यास के साथ प्रायः नहीं हैं।

उपन्यास और नाटक के कथानक में भी पर्याप्त अन्तर है। नाटक में प्रत्येक घटना इस प्रकार संयोजित की जाती है कि वह प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित किया जा सके, पर उपन्यासों के लिए यह अनिवार्य नहीं है।[2] उपन्यास का कथानक प्रारम्भ में चाहे जितना ही बिखरा हुआ हो, उपन्यासकार को उसकी चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि वह अपनी कला को अत्यन्त व्यापक

---

1 "The drama is the most rigorous form of literary art; prose fiction is the loosest."
—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (मार्च १९६०), लन्दन, पृष्ठ १३०

2 "The dramatist can only suggest scenery, the novelist may hang his interior with the landscapes."
—विलबर एल क्रॉस : द डेवलेपमेंट ऑव द इँगलिश नॉवेल, (१९५३) न्यूयार्क, पृष्ठ ६०

परिवेश पर प्रस्तुत करना चाहता है। नाटककार भी अपनी कला को अत्यन्त व्यापक परिवेश पर उपस्थित तो करना चाहता है, पर उसे प्रथम दृश्य से ही अपनी कथा को समेटते रहना पड़ता है, क्योंकि उसके पास न तो समय रहता है, और न स्थान। नाटक में संवादों का एकमात्र प्रमुख स्थान होता है। संवादों के माध्यम से ही कथा प्रस्तुत की जाती है, पर उपन्यास के लिए यह आवश्यक नहीं है। प्रायः उपन्यासों में संवादों को बहुत महत्त्व दिया भी नहीं जाता, और सारी कथा किस्सागोई ढंग से कह दी जाती है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि नाटक की कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण की अनेक शैलियाँ नहीं हैं, पर उपन्यासकार अपनी रुचि एवं कथानक की आवश्यकतानुसार अनेक शैलियों का प्रयोग करता है। नाटक में संवादों के माध्यम से सारी कथा प्रस्तुत करना अनिवार्य है, पर उपन्यास में वर्णनात्मक शैली, आत्मकथात्मक शैली, चित्रात्मक शैली, पत्र शैली, डायरी शैली तथा चेतना-प्रवाह पद्धति शैली आदि का प्रयोग सरलता से हो सकता है।

नाटक और उपन्यास में कलागत सीमाएँ भी हैं। एक पात्र विशेष परिस्थिति में क्या सोचता है। असामान्य परिस्थिति में उसकी प्रवृत्तियाँ क्या करती हैं। उसकी चेतना में कैसी हलचलें मचाती हैं, नाटक में इन बातों का चित्रण सम्भव नहीं होता, जबकि आधुनिक युग में पात्रों का मनोविश्लेषण एवं उनकी चेतना की हलचलों का अध्ययन ही उपन्यास की मूल पीठिका के रूप में बन गए हैं। नाटककार का प्रधान उद्देश्य ऐसे दृश्यांकन योजना की रहती है, जिससे दर्शक देखते ही उछल पड़े, पर उपन्यासकार पाठकों की चेतना को थपथपाना चाहता है, जिससे वे उपन्यास की मूल समस्या पर मनन-चिंतन कर अपने व्यक्तिगत निष्कर्षों की खोज कर सकें।

उपन्यास और कहानी

कहा गया है, और कहा जा रहा है कि वह दिन "शीघ्र ही आने वाला है", जब कहानी उपन्यास का स्थान ग्रहण कर लेगी। दूसरे शब्दों में कहानी का अस्तित्व अपने परिवेश में उपन्यास के अस्तित्व को समेट लेगा। इस भ्रान्ति पूर्ण धारणा के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में जो भी विश्वास अंकित रहे हों,

यह पूर्णतया असत्य है। ऐसा कभी नहीं होगा। उपन्यास और कहानी में ऐसी असमानताएँ हैं, जो निश्चय ही बनी रहेंगी। उपन्यास में मानव जीवन के विविध पक्षों का चित्रण व्यापक परिवेश में किया जाता है, जब कि कहानी में जीवन के किसी एक पक्ष को स्पर्श किया जाता है। उपन्यास में पात्रों की इसीलिए बहुलता रहती है, आकार-प्रकार का संकोच नहीं होता, और मानव जीवन की समस्याओं से हटकर अन्य समस्याओं पर भी विचार-विमर्ष तथा आलोचना-प्रत्यालोचना होती रहती है। पर कहानियों में पात्रों की न्यूनता, आकार का संकोच रहता है, इसीलिए जीवन के उस पक्ष को छोड़ कर, जिसे लेकर उनकी रचना होती है, अन्य बातों के वर्णन की उनमें गुंजायश नहीं रहती। कहानी के शिल्पविधान में संयम होता है, उपन्यास के शिल्पविधान में असंयम। कहानी में जीवन को भावनात्मक एवं कल्पनात्मक पृष्टभूमि पर गतिशीलता प्राप्त होती है, जब कि उपन्यास में यह चिन्तयशीलता एवं चेतना पर निर्भर रहती है। उपन्यास एक साज है, कहानी उसकी लय-मात्र। कहानी जीवन का एक भाव है, उपन्यास उसकी विशद-व्याख्या। 'गोदान' में होरी के चरित्र की जिस विषादता से हम परिचित होते हैं, सामान्य एवं असामान्य परिस्थितियों में उसके आचरण की ओर दृष्टिपात करते हैं, वह कहानी की सीमाओं में नितान्त रूप से भी सम्भव नहीं है। कहानी में तो उसका आंशिक रूप ही चित्रित हो पाता है।

उपन्यास और काव्य

उपन्यास वस्तुत: काव्य का ही एक रूप माना गया है। (Novel is the child of poetry—रिचर्ड चर्च) कुछ लोगों को यह वाक्य खटक सकता है, । पर उनके मूल्यान्वेषण की प्रवृत्ति, संवेदनाजन्य प्रवृत्ति और जीवनगत दृष्टिकोण में चाहे जितनी भी भिन्नता क्यों न हो, उनके स्वरूप में पर्याप्त साम्य है।[1] दोनों ही मूर्त-विम्बों द्वारा जीवन को उपस्थित करते हैं। जिस प्रकार

---

1 "Their approach to life, their sensuous apprehensions, their interpretations in terms of significant symbols, may be different in degree; but they are the same in kind. That kind is the presentation of life through images."

—रिचार्ड चर्च: द ग्रोथ ऑव इँगलिश नॉवेल, (१९५१), लन्दन, पृष्ठ ३।

काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है, उसी भाँति उपन्यास भी उपन्यासकार के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। दोनों में ही कल्पना एवं सत्य का आश्रय ग्रहण किया जाता है। हाँ, कल्पना की मात्रा में अन्तर है। कवि कल्पना का आश्रय प्रायः अधिक ग्रहण कर लेते हैं, जबकि उपन्यासकार जीवन के समानान्तर चलता है। पर यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कवि जब कल्पना को ही अपना एकमात्र साधन बना लेता है और जीवन की कठोर यथार्थता की आँच से बचने का उपक्रम करता है, तो एक प्रकार से वह अपने चारों ओर कृत्रिमता का जाल बुनता है और उसकी कविता के मृत होने में अधिक समय नहीं लगता। काव्य में रचनात्मक विशेषता होती है, उपन्यास में विश्लेषणात्मक।[१] काव्य पद्य में लिखा जाता है, उपन्यास गद्य में। काव्य में रसात्मक माधुर्य एवं संगीतात्मकता होती है, उपन्यास, विशेषतया आधुनिक युगीन उपन्यास, उससे वंचित रहते हैं। काव्य-कला जटिलताओं की सीमा में आबद्ध रहता है, पर उपन्यासकला उन्मुक्तता के वातावरण में पलती है। काव्य की रमणीयता एवं उपन्यास की रमणीयता में अन्तर होता है। काव्य रस और उपन्यास रस भी भिन्न होते हैं। इस प्रकार काव्य और उपन्यास–समानताओं एवं असमानताओं के बीच की कड़ी हैं।

---

1 "Poetry is creative, the novel analytical-the kingdom of poetry is not this world but of the spirit; it is not of temporal but of timeless things the world of enduring ideas or as the poet may conceive it of absolute realities."

—अर्नेस्ट ए० बेकर: द हिस्ट्री ऑव द इंगलिश नॉवेल, भाग एक, पृष्ठ १८

द्वितीय खण्ड

उपन्यास शिल्प
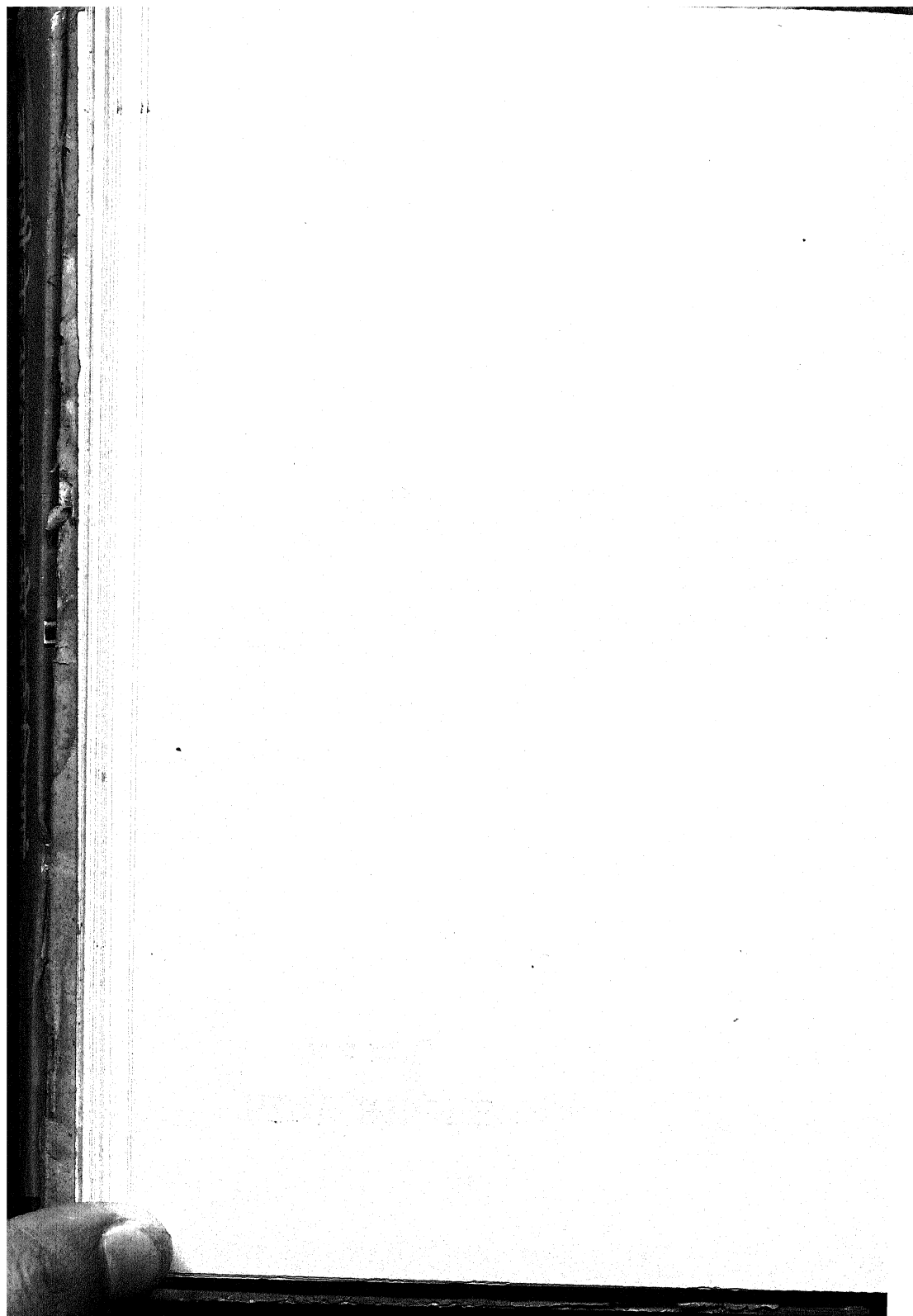
कथानक :

कथानक की परिभाषा

कथानक का स्वरूप एक नदी की भाँति होता है, जिसमें पात्र, घटनाएँ आदि इस प्रकार सहज, पर कलात्मक ढंग से बहती जाती हैं कि पाठक अन्त में ही जाकर रुक पाता है, और तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी बात की तीखी प्रतिक्रिया अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक ढंग से जैसे उसे उद्वेलित कर रही है, और वह अपने को उसके प्रभाव में अवश-सा पाता है। उपन्यासों का यह सर्वथा साधारण, फिर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है,[1] जिसमें घटनाओं, जो साधारणतया आकर्षक होती हैं, का कुशल संगुफन होता है। हम सभी इस बात पर सहमत होंगे कि उपन्यासों का मूलभूत आधार उसका कहानी तत्त्व होता है, जिसके बिना सत्य तो यह है कि उपन्यासों का अस्तित्व संभव ही नहीं होता।[2] यहाँ कहा जा सकता है कि आज के सर्वथा अति-

1 "The most simple form of prose fiction is the story which records a succession of events, generally marvellous."

—एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १७

2 "We shall all agree that the fundamental aspect of the novel is its story telling aspect..without which it (novel) could not exist. That is the highest factor common to all novels, and I wish that it was not so, that it could be something different—melody, or perception of the truth, not this low astaristic form."

—ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (१९६२), आस्ट्रेलिया, पृष्ठ ३३-३४

आधुनिक युग के उपन्यासों में कथानक का तत्त्व तो न्यून होता है, और प्राय: चरित्रों को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। पर यदि इस तथ्य की गहराई के साथ जाँच की जाय, तो परीक्षणोपरान्त यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया जा सकता है कि चाहे चरित्रों को महत्त्व दिया जाय, या किसी अन्य तत्त्व को, पर उसमें कथांश निश्चित रूप से होगा, चाहे वह कितना ही गौण क्यों न हो। वस्तुत: कथा का तत्व उपन्यास के साथ अन्योन्याश्रित ढंग से संयुक्त रहता है, और बिना किसी कथा के उपन्यास रचना हो ही नहीं सकती। यदि किसी साधारण व्यक्ति से भी, जो उपन्यास-शिल्प से सर्वथा अपरिचित है, और जिसने केवल कुछ ही उपन्यास पढ़े हैं, पूछा जाय कि उपन्यास क्या होता है, तो वह बिना किसी झिझक के उत्तर देगा कि उपन्यास में कोई कहानी होती है। यहाँ कहानी और उपन्यास की कहानी के मध्य तात्त्विक अन्तर को भी स्पष्टतया समझ लेना उचित होगा। यहाँ कहानी का अभिप्राय उस कथानक से ही है, जिसकी आधार-शिला पर उपन्यास का ढाँचा निर्मित किया जाता है।

उपन्यासकार इस कथा को कल्पना एवं सत्य के सम्मिश्रण से उपन्यास के व्यापक परिवेश में अत्यन्त कुशलता एवं आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता है।[१] कथानक के स्वरूप निर्धारण में सर्वप्रथम हमारा ध्यान उस सामग्री पर जाता है, जिसमें से आवश्यकतानुसार चीजें चुन ली जाती हैं। प्रेमचन्द के सारे उपन्यासों को यदि एक स्थान पर एकत्रित किया जाय, तो उनमें मानव-जीवन का पूर्ण चित्र उपस्थित हो जायगा। उनमें मानव-जीवन की कोई भी समस्या या पक्ष ऐसा नहीं है,

---

3 "Such is the interesting truth about the stray suggestion, the wandering wcrd, the vague echo, at touch of which the novelist's imagination winces at the prick of some sharp point, its virtue is all in its needle-like quality, the power to penetrate as finely possible..one's subject is in the menest grain, the speck of truth, of beauty, of reality, scarce visible to the common eye."

—हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव द नॉवेल, (१९३५), न्यूयार्क, पृष्ठ ११९

जिस पर उस महान् कथाकार की कलम न चली हो। कथानक की महत्ता इसी पर निर्धारित होती है कि उसमें उपयोगिता का अंश कितना है, और उसमें घटनाओं का संगुफन किस प्रकार किया गया है। इस दृष्टि से कथानक के मुख्यतया दो विभाजन किए जा सकते हैं :

१. सुगठित कथानक वाले उपन्यास (Novel of organic Plot) जिसके कथानक में घटनाएँ अत्यन्त सुगठित रूप में प्रस्तुत की जाती हैं।

२. विशृंखलित कथानकवाले उपन्यास (Novel of loose Plot) जिसके कथानक में घटनाएँ बिखरी रहती हैं, और उपन्यासकार उन्हें किसी एक सूत्र में आबद्ध करने का प्रयास नहीं करता।

कथानक की विशेषताएँ

कथानक की विशेषताओं पर विचार करते समय सबसे पहले उसकी रोचकता पर विचार करना पड़ता है। रोचकता और कथानक के सुसंगठन में कोई सम्बन्ध नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि कथानक अत्यन्त सुसंगठित हो, तभी उसमें रोचकता उत्पन्न की जा सकती है। प्राय: कुशल उपन्यासकार विशृंखलित कथानक को भी इस कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करते हैं कि उसमें रोचकता बराबर बनी रहती है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण जैनेन्द्र कुमार के 'सुनीता', 'त्यागपत्र,' 'विवर्त' आदि उपन्यास हैं, जिनमें कथा के नाम पर कुछ भी नहीं है, केवल कुछ चरित्रों के माध्यम से, उन्हीं को प्रकाशित करने के लिए ही कथानक का ताना-बाना संगुफित किया गया है। फिर भी इन उपन्यासों में इतनी रोचकता है कि पाठकों को कहीं भी निरसता का अनुभव नहीं होता। 'शेखर : एक जीवनी' में भी कुछ एक विशिष्ट वर्ग के पाठकों के लिए पर्याप्त रोचकता प्राप्त होती है। यहाँ रोचकता के प्रतिमानों पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। वस्तुत: रोचकता के स्तर विभिन्न होते हैं। एक ही कथानक कुछ लोगों को रोचक प्रतीत होता है। कुछ को नीरस। 'कल्याणी' या 'शेखर : एक जीवनी' एक विशिष्ट वर्ग के पाठकों के लिए इतने रोचक हैं कि पढ़ते समय वे पूर्ण तन्मयता के साथ उनमें खोए रहते हैं, पर फुटपाथ के उपन्यास पढ़नेवाले अधिकांश पाठकों के लिए इनसे अधिक नीरस कृतियाँ हो ही नहीं सकतीं। कहा गया है कि इस औपन्यासिक रोचकता का स्तर दोनों वर्गों के बीच निर्मित होना चाहिए। अर्थात्

उपन्यास में कथानक का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि वह दोनों ही वर्गों के पाठकों के लिए रोचक हो। सत्य तो यह है कि कृतियाँ किसको रोचक प्रतीत होती हैं, किसको नीरस, इसका निर्णय कर तदनुसार उनकी रचना-प्रक्रिया में संलग्न होना कठिन होता है। इसके लिए उपन्यासकारों से बस इतनी ही बात की माँग की जा सकती है कि वे कथानक में अत्यन्त आवश्यक घटनाओं का ही संगुफन करें और शेष को छोड़ दें। आवश्यक से अभिप्राय उन घटनाओं से ही है, जिनको ग्रहण किए बिना उपन्यासकार के उद्देश्य की पूर्ति हो ही न सके।

• जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, उपन्यासों का मूलभूत आधार कथानक ही होता है। इस कथानक में विवरणात्मक घटनाओं का संगुफन समय का ध्यान रखकर किया जाता है। इन घटनाओं के सम्बन्ध में थोड़ी और स्पष्ट चर्चा उचित होगी। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार ऐसी घटनाओं, ऐसे स्थानों और ऐसे चरित्रों का वर्णन कर रहा है, जिसको उसने स्वयं अपनी आँखों से देखा है, अनुभव किया है, उन पात्रों के वार्तालाप उसने अपने कानों से सुने हैं। वह अपना यह दायित्व समझता है कि वह जो कुछ भी, और जिनके सम्बन्ध में वर्णन कर रहा है, उनका पूर्णतया वास्तविक चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर सके। ऐसी स्थिति में वह उन्हीं घटनाओं को चुनकर प्रस्तुत करता है, जो यदि हम और आप स्वयं उस स्थान पर होते, तो हमारे अन्तस् को स्पर्श करने में सक्षम होते। उसका प्रमुख उद्देश्य यही होता है कि वह उस स्थान की कुछ चुनी हुई घटनाओं और चुने हुए लोगों का ऐसा चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करे कि हमें ऐसा अनुभव हो, जैसे हम कोई यथार्थ नाटक का अवलोकन कर रहे हों। पर इसी बीच एक ऐसा स्थल भी सहसा आ जाता है जहाँ हर बात में एक अप्रत्याशित (अयथार्थ नहीं) दिशा आ जाती है और हमारे लिए यह आवश्यक-सा हो जाता है कि उस स्थान और वहाँ के लोगों के सम्बन्ध में जितना हम जानते या सुनते हैं, उससे भी अधिक कुछ और जानें या सुनें। तभी उपन्यासकार के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह पाठकों की तुलना में अपने अधिक विशद ज्ञान एवं गहन अनुभवों से पाठकों को वहाँ के और लोगों के सम्बन्ध में और अधिक बातें बताकर उनकी जिज्ञासा शान्त करे। ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिन्हें यदि उपन्यासकार आपको न बताए, तो हम

और आप उन्हें जानते या सुनते हुए भी नहीं समझ सकते। कथानक ने यह दिशा क्यों ग्रहण की या वह दिशा क्यों ग्रहण की या इस पात्र ने आत्म-हत्या क्यों कर ली, या वह पात्र अचानक ही इतना द्रवित क्यों हो गया या ऐसे विचित्र व्यवहार क्यों करने लगा—आदि ऐसी बातें हैं, जिन्हें उपन्यास-कार ही हमें कुशलता-पूर्वक समझा सकता है। इसके लिये वह धरातल के नीचे डुबकी लगाता है; और पात्रों के अन्तरमन में जा बैठता है और विना उनके कहे गए शब्दों को सुनने या कहे जाने की प्रतीक्षा किए उनकी आन्तरिक भावनाओं को स्पष्ट कर हमारे सम्मुख एक के बाद एक रहस्य की गुत्थियाँ खोलता चलता है। 'पर्दे की रानी' में यदि इलाचन्द्र जोशी स्वयं बीच में उपस्थित होकर हमें यह न बताते कि निरंजना की मानसिक ग्रन्थियाँ किस प्रकार निर्मित हुई थीं या उसके अवचेतन मन में किस प्रकार की धारणाएं निर्मित हुई थीं और संगृहीत थीं तथा उसके जन्मजात संस्कार क्या थे तो हम कभी न जान पाते कि इन्द्रमोहन के प्रति अचानक ही प्रेम और अचानक ही घृणा के भावों के कारण क्या हैं? या 'लज्जा' में अपने भाई राजू से इतना प्रगाढ़ प्रेम होने के बावजूद भी उसके विरुद्ध इस प्रकार के कार्य लज्जा क्यों करती रही जिससे विवश होकर राजू ने आत्महत्या कर ली। अतः कथानक की स्वाभाविकता, सत्यता और यथार्थता अनिवार्य आवश्यकताएँ होती हैं।

कथानक की औपन्यासिक संवेदना की दृष्टि से भी महत्व-पूर्ण विशेषता होती है। कहानी एक के पश्चात् एक बातें कहने के अतिरिक्त कुछ और भी चीजें हमसे संयुक्त करती है, क्योंकि उसका निकट सम्बन्ध एक विशेष आवाज़ से होता है। कथानक हमें लेखक के व्यक्तित्व सदृश प्रमुख वस्तु प्रदान करता है। उपन्यासकार का व्यक्तित्व (यदि सचमुच कोई है!) उसके पात्रों, कथानक या जीवन के विविध पक्षों पर व्यक्त किए गए उसके विचारों से ही प्रस्फुटित होता है। इस महत्व-पूर्ण स्थिति में कथानक विशेष कार्य यह करता है कि बह पाठकों को श्रोताओं के रूप में परिणत कर देती है, जिससे एक 'आवाज' बातचीत करती है, जो एक बीच की गुफा में छिप कर एक के पश्चात् एक बात तब तक कहती चली जाती है, जब तक पाठक पूर्णतया रस-विभोर होकर डूब नहीं जाता। हम जानते हैं कि कहानी की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और उसके सूत्र हम अपने साहित्य के प्रारम्भ

से ही खोज सकते हैं। यही कारण है कि हम अपनी रुचि के अनुकूल कहानियों के प्रति पूर्वाग्रह निर्मित कर लेते हैं और उसे न चाहनेवालों के विरुद्ध एक भिन्न दिशा ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरण के लिए 'शेखर एक जीवनी' में शेखर स्वयं अपनी कथा कहता चलता है, पर उसके साथ ही हम अज्ञेय के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से भी परिचित होते चलते हैं और अन्त में उस कथा के हम इतने कायल हो जाते हैं तथा उसकी संवेदना हमें इतनी गहनता से स्पर्श कर जाती है कि हम चाहने लगते हैं कि हमारी ही भाँति दूसरे लोग भी उस कथा को समान स्तर पर चाहें।

कथानक की एक प्रमुख विशेषता उसकी नाटकीयता होती है यह एक प्रकार से चित्र बनने की उस प्रक्रिया के समान है, जिसमें कुशल शिल्पी अपने अनुभवों को अपनी कला के साथ सामंजस्य कर एक चित्र में समेटकर साकार कर देता है। उपन्यासकार भी जीवन के अपने गहन अनुभवों और दूसरों की तुलना में अपने अधिक विशद ज्ञान के आश्रय से एक जीवन नाटक का-सा ही निर्माण कर डालता है और हमारे नेत्रों के सम्मुख एक के पश्चात एक मर्मस्पर्शी दृश्य उपस्थित करता चलता है। हम उसके मोह-पाश में ऐसा ग्रस सा जाते हैं कि वह कथानक हमें अपने बहाव में बहाए लिए चलता है। जैसे-जैसे कथानक का चरमोत्कर्ष निकट आता जाता है, घटनाएं एक स्थान पर एकत्रित-सी होने लगती हैं और उपन्यासकार जो प्रभाव या उद्देश्य अपने पाठकों तक साधारणीकरण के माध्यम से पहुँचाना चाहता है, वह अधिक स्पष्ट रूप में उभरने लगता है और फिर अचानक एक भयंकर विस्फोट-सा होता है, जैसे पारा अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर झनझना कर टूट जाता है। यह वस्तुत: चरमोत्कर्ष की तीखी प्रतिक्रिया ही होती है। कुछ उपन्यासकार यह नाटक रचने में सर्वथा असमर्थ होते, और एक सर्वांग चित्र ही उपस्थित करके रह जाते हैं। अधिकांश उपन्यासकार, जहाँ तक मैं समझता हूँ, या तो नाटक रचने की प्रक्रिया को महत्व देते हैं, या सर्वांग चित्र उपस्थित करने को, पर सत्य यह है कि अधिकांश उपन्यासकार दोनों ही प्रक्रियाओं को महत्व देते हैं। उपन्यासकार की विशेषता इन दोनों प्रक्रियाओं के उपयोग में ही लक्षित होती है कि वह किस प्रकार विभिन्न दृश्यों में अपने कथानक को समाविष्ट करता है और फिर किस प्रकार कथानक को दृश्य से बाहर निकालता है तथा पहले जैसे कहानी थी,

उससे उत्कृष्ट एवं पूर्णरूप में प्रस्तुत करता है, और अपने वर्णन से आगे गतिशील होता है।[1] यह स्मरणीय है कि उपन्यासकार के लिए नाटक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है।[2] पर उसके उपयोग में पर्याप्त सावधानी अपेक्षित होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि अतिशय नाटकीयता कथानक की सत्यता को सन्दिग्ध बना सकती है। अतः कथानक की नाटकीयता वहीं तक विशेषता रखती है, जहाँ तक उसमें स्वभाविकता बनी रहती है।

कथानक में तत्व-निरूपण

कथानक में तत्व-निरूपण से हमारा अभिप्राय उसके कुशल संगठन से ही है। प्रायः हम देखते हैं कि उपन्यासों में जीवन का एक विशाल एवं व्यापक परिवेश सम्बद्ध करने का प्रयास किया जाता है। यह सूत्रबद्धता संक्षेप में

1 "Most novelists, I think, seem to betray....a preference for one method or the other, for picture or for drama;.... but of course every novelist appears very clearly in his management of the two, how he guides the story into the scene, a richer and fuller story than it was before, and proceeds with his narrative. On the whole, no doubt, the possibilities of the scene are greatly abused in fiction, in the daily and familier novel. They are doubly abused; for the treatment of the scene is neglected and yet it recurs again and again, much too often, and its value is wasted."

—पर्सी लब्बॉक : द क्राफ्ट ऑव फिक्शन, (१९६०), लन्दन पृष्ठ ११९

2 "It has to be remembered that drama is the novelist's highest light, like the white paper or white paint of a draughtsman ; to use it prodigally where it is not needed is to lessen its force where it is essential. And so the economical procedure would be to hoard it rather, reserving it for important occasions......"

—वही पृष्ठ १२०

होती है, अर्थात् सारांश रूप में ही होती है। नहीं तो क्या उपन्यासों में समूचे मानव-जीवन की एक-एक बातों का ब्यौरा देना सम्भव होता ? हाँ हो सकता है कि कई ग्रन्थों में वह प्रस्तुत किया जाय तो उपन्यास न होकर एक इतिहास ही होगा और या तो इतिहास के या समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हो सकता है। उपन्यास पाठकों के लिए निश्चित रूप से उसमें कोई रस की उपलब्धि नहीं होगी। अतः उपन्यास में आवश्यक घटनाएँ ही प्रस्तुत की जाती हैं। यह उपन्यासकार के ऊपर निर्भर होता है कि वह किन घटनाओं का निर्वाचन करे और किन्हें छोड़ दे। हाँ, यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि वह ऐसी ही घटनाओं को चुने, जिनसे उसके उद्देश्य की पूर्ति भी हो सके, साथ ही मानव जीवन का एक सम्यक् चित्र भी उपस्थित हो सके। ऐसी घटनाएँ, जो महत्वहीन हैं, प्रभावशून्य हैं, और कथानक भी आवश्यकता की दृष्टि से जिनकी कोई उपयोगिता नहीं है, उनसे उपन्यासकार को बचना चाहिए। हम एक के बाद एक दृश्यों के माध्यम से ही कथानक के चरमोत्कर्ष की ओर अग्रसर होते रहते हैं और अन्तिम परिणति तक पहुँचते हैं। इस प्रक्रिया में कहीं रुकाव या गतिरुद्धता आ जाना सफल कथानक की दृष्टि से अनुचित होता है। कथानक का प्रत्येक स्थल कुशलता-पूर्वक एवं कलात्मक ढंग से निर्देशित होना चाहिए। जब एक दृश्य सामने आता है, तो सारी घटनाएँ तब तक परिपक्व हो जाती हैं, सारे शेष कसर मिटा दिए जाते हैं और तब वह दृश्य उपस्थित होकर हमारे सम्मुख नवीन भावभूमियाँ स्पष्ट करता है। 'त्यागपत्र' में मृणाल के आत्मसमर्पण का दृश्य हमारी मनःस्थिति पर इसीलिए गहन विषाद की तीखी प्रतिक्रिया छोड़ जाता है, क्योंकि तब तक उपन्यासकार ने सारे आवश्यक प्रबन्ध कर लिए होते हैं। मृणाल पतिगृह से निकाली जा चुकी थी, उसका प्रेम असफल सिद्ध हो चुका था, किसी का प्रेम प्राप्त करने की प्यास उसकी अनबुझी रह चुकी थी और उसकी आर्थिक परतन्त्रता उसके पावों को पूरी सशक्तता के साथ जकड़ चुकी थी।

पर इस प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्व-पूर्ण कार्य निःसन्देह कठिन है और वह उस केन्द्रीय दृष्टिकोण की है कि कथानक में ऐसे किस पात्र का वह सृजन करे जिसमें वह स्वयं अपनी आत्मिक अनुभूतियों की प्रतिष्ठापना कर सके और एक बहुरूपिए का रूप धारण कर विविध भाव-विचार अपने पाठकों के

समक्ष प्रस्तुत कर सके, साथ ही कथानक की गतिशीलता पर भी आँच न पहुँचे। वस्तुतः हम जितने भी उपन्यास पढ़ते हैं, हम प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सकते हैं कि उपन्यास के मध्य में कोई-न-कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य है जो सारी घटनाओं को अपने हाथ में समेटे हुए है और हम कथानक के दौरान मैं जो भी बातें देखते या सुनते हैं, उसी केन्द्रीय शक्ति के ही माध्यम से देखते या सुनते हैं। 'कल्याणी' के बीच डॉ० कल्याणी असरानी ही वह केन्द्रीय शक्ति है। कल्याणी की ही आँखों से हम उपन्यास पढ़ते समय यह दुनिया, नारी की परवशता और अन्य अनेक संघर्ष देखते हैं, पर इसके बावजूद भी वह कथानक कल्याणी के माध्यम पर आरोपित नहीं प्रतीत होता और न ही उस कथानक की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता है। दोनों एक प्रकार से एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। अतः स्पष्ट है कि कथानक और पात्रों का परस्पर सामंजस्य इस प्रकार स्थापित किया जाना चाहिए कि दोनों एक दूसरे में घनिष्ठ रूप में एकाकार हो जायँ और एक दूसरे पर आरोपित न प्रतीत हों। यशपाल-कृत "दिव्या" में मारीश इसी प्रकार का असफल पात्र है, जो अपने को कथानक में मिला नहीं पाता। यह सत्य है कि उसका सृजन केवल लेखक के सैद्धांतिक मतों के प्रतिपादन-मात्र के लिए ही किया गया है, पर जहाँ वह यह करता है, कथानक एक भिन्न दिशा में जाता प्रतीत होता है। लेखक यदि थोड़ा और कुशलता एवं संयम से काम लेता तो मारीश स्वयं अपने में तो एक प्रभावशाली पात्र होता ही, वह कथानक को भी उचित दिशा में ले जाता और पाठकों को उन स्थलों पर दिशाहारा की भाँति भटकना न पड़ता।

कथानक के संगठन में समय तत्व का भी उपन्यासकार को बहुत ध्यान रखना पड़ता है। सत्य तो यह है कि समय तत्व अत्यन्त महत्व-पूर्ण होता है। अनुमान कीजिए—प्रेमचन्द के 'गोदान' में एक स्थान पर तो होरी अपनी आँखिरी साँसें तोड़ रहा होता और उसी समय वह रायसाहब की हवेली में बैठा रामलीला खेल रहा होता, तो आपके ऊपर क्या प्रतिक्रिया होती? इसी प्रकार किसी घटना में सुबह तो शरद् ऋतु का वर्णन हो और संध्या को ग्रीष्म ऋतु का तो क्या यह हास्यास्पद न प्रतीत होता? यदि ऐसी भद्दी भूलें किसी उपन्यास में परिलक्षित हों, तो मेरा विचार है कि आप उपन्यास को एक ओर फेंक देंगे, और फिर उस लेखक की दूसरी कृति को हाथ

लगाने का नाम न लेंगे। समय तत्व इन भूलों का निराकरण करता है, और एकता एवं संगठन बनाए रखने का प्रयत्न करता है।

प्रायः कुछ ऐसे उपन्यास लिखे जाते हैं, जिनमें किसी एक विशिष्ट पात्र के अनुभवों को एकत्रित करके कथानक का संगुफन किया जाता है, और वह प्रधान पात्र एक पर्यवेक्षक की भाँति सारी घटनाओं पर अपने विचार एवं अनुभव प्रस्तुत करता चलता है। यदि ऐसी स्थिति हो, जिसमें किसी के वास्तविक अनुभवों और उसके द्वारा भोगी जानेवाली विपत्तियों या अन्य बातों को कहानी के माध्यम से प्रस्तुत करना उद्देश्य हो, तो उसे उसी रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिस रूप में वह स्वयं उन विपत्तियों को भोगता और अन्य बातों का अनुभव करता है। यदि वह स्वयं इन बातों को कहने में असमर्थ है, तो दृष्टि परिवेश में परिवर्तन आवश्यक है। अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' में यदि स्वयं शेखर अपने जीवन की सारी बातों को कहने में असमर्थ होता, तो किसी दूसरे पात्र में इतनी सामर्थ्य नहीं थी, जो उसे पूर्ण कर सकता। यदि कोई ऐसा करता, तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा होती। उपन्यासकार को इससे बचना चाहिए। यह एक अनिवार्य शर्त है। उपन्यासकार को, इस प्रकार केवल उन्हीं बातों को प्रस्तुत करना चाहिए, जो सचमुच ही आवश्यक हैं। उपन्यासों में इससे बढ़कर असंतोष का विषय और कुछ नहीं हो सकता कि उपन्यासकार अपने अधिकार को भूलकर कथानक के बीच में आ कूदे, और उस पात्र की अपूर्ण बातों को पूरा करने में लग जाय। उपन्यासकार का इस प्रकार स्पष्टतया कथानक के मध्य उपस्थित होना और अपना पर्दाफाश करना कथानक की हत्या ही नहीं, उसकी नाटकीयता को भी समाप्त करना है। यही कारण है कि आज जब हम पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासों को पढ़ते हैं और बीच-बीच में लेखकों को उपस्थित होकर 'किस्सा' सुनाते हुए पाते हैं, तो उपन्यासों को विना पढ़े एक तरफ रख देने की इच्छा होती है। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी बहुत कुछ प्राप्त होती है। जब हम देखते हैं कि अकारण ही बीच में प्रवेश कर वे घटनाओं या पात्रों का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर देते हैं। सफल कथानक संगठन के लिए यह उचित नहीं होता। यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि कथानक को आवश्यकता से अधिक नाटकीय बनाने में भी कथानक को क्षति पहुँचती है। कथानक को प्रस्तुत

करने में सामान्यतः बीच का ही मार्ग अपनाया जाना चाहिए और प्रत्येक आवश्यक बातों का सावधानी से पालन कर सफल कथानक प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

कथानक के प्रस्तुतीकरण की शैलियाँ

कथानक के प्रस्तुतीकरण की विभिन्न शैलियाँ हैं, जिन्हें उपन्यासकार अपनी आवश्यकतानुसार एवं कथानक के अनुरूप अपनाता है, जिससे वह कथानक में अधिक से अधिक अपील और प्रभाव उत्पन्न कर सके। वस्तुतः कुशल उपन्यासकार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है, जिससे पाठक केवल पाठक ही नहीं रह जाता है, वह स्वयं अपने को उपन्यास का पात्र-जैसा ही समझ लेता है, उसके सुख-दुख को अपना समझ लेता है और दोनों के बीच की दूरी जितनी ही कम हो जाती है, उपन्यास उतना ही सफल समझा जाता है।[1] उपन्यासकार ऐसी ही प्रणालियों को अपनाता है, जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति तो हो ही सके, साथ ही चरित्रों का स्वाभाविक विकास भी हो सके। इसी को एक प्रकार से पाठक और लेखक के सम्बन्ध के रूप में भी देखा जा सकता है। एक प्रणाली में पाठक पूर्णतया लेखक के ऊपर ही निर्भर रहता है, और जो कुछ वह कहता है, वही वह सुनता है, दूसरी प्रणाली में वह लेखक से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् मात्र

---

1 "...fiction on the other hand, calls for the personal participation of the reader in one or many dramatic enterprises; contradictions are created and the protagonist sets forth to resolve them, and the reader joins in these struggles. The reader participates, and there by is the unique secret of the art of the story tellers his ability to project his audience into the dramatic situation he has evoked. The measure of his art is how well he does this. The stature of his art depends upon the type af dramatic comprehension and lordship he can offer his audience, the quality of his art depends upon his own relationship to the masses of people.

—ग्रैंड हिट्लाक

कहानी से ही अपना सम्पर्क बनाए रखता है। स्टेज पर जो ड्रामा अभिनीत किया जाता है, उसमें दर्शकों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से होता है, नाटककार से नहीं। उस प्रक्रिया में लेखक अदृश्य होता है। उसके शब्दों एवं विचारों को अभिनेता अपने मुख से एवं क्रिया-कलापों से अभिव्यक्त करते हैं और दर्शक अपने-अपने ढंग से बातों को समझते और ग्रहण करते हैं। पर जब हम नाटककार और उपन्यासकार की स्थिति पर विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट ही है कि उपन्यास में नाटक–जैसी कोई चीज नहीं है। यह ठीक है कि उपन्यासकार अपने शब्दों एवं विचारों का कथोपकथनों के माध्यम से पात्रों से कहलवा सकता है, पर इसके साथ यह भी आवश्यक है कि वह यह बताए कि ये पात्र कहाँ से आए, अभी तक कहाँ थे और अभी तक क्या कर रहे थे ? और एक बार उपस्थित होकर अगर इतनी देर तक गायब रहे, तो किस दुनिया में ? अगर वह यह सब न बताकर केवल संवाद ही लिख डालता है, तो वह एक नाटक ही लिखता है।

कथानक में उपन्यासकार को सामान्यत: ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है, जहाँ अनेक कारणों से साधारण प्रभाव की तुलना में कुछ अधिक की आवश्यकता होती है, जिसे पाठक स्वयं अपने से बना लेता, यदि वह उस स्थान पर होता और सारी घटनाओं को अपनी आँखों से देखता होता। यह अनेक बातों के सामान्य वितरण के साधारणतय. संबन्धित होता है, या कुछ विशिष्ट वास्तविकताओं से सम्बन्धित होता है जो आन्तरिक ज्ञान एवं अनुभवों पर आधारित होता है और पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। उदाहरणार्थ पात्रों को यदि इस प्रकार उपस्थित किया जाए कि उनकी भावुकताएँ पाठकों को सारी कथा बता दें तो इसमें एक लम्बी प्रक्रिया होगी या यह एक प्रकार से असंभव सा ही होगा। उनके निर्माता को बहुत सी बातें अपनी ओर से निश्चित रूप से कहनी होंगी। उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि अपने पात्रों की जिन मनःस्थितियों का वह वर्णन कर रहा है, वह स्वयं अपनी हैं। लेखक को अपने पात्रों के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक ज्ञात रहता है जब कि पाठक उनके सम्बन्ध में बहुत सारी बातों से अनभिज्ञ रहता है। लेखक को अपनी विचारधारा को निश्चित रूप से उपन्यासों में प्रकट करना चाहिए, पर इस रूप में कि वह कथानक का एक अंग ही बन जाए, अलग से उस पर आरोपित न प्रतीत हो। लेखक को इस

बात का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उसकी कथा पूर्ण सत्यता का आभास प्रदान कर सके। इसके लिए उपन्यासकार प्रायः प्रथम पुरुष में ही सारी कथा कहता चलता है। उपन्यास के 'मैं' को साधारणतया सामान्य अर्थों में उपन्यासकार के 'मैं' का प्रतीक समझ लिया जाता है। इस प्रणाली में पाठक सारी कहानी उस 'मैं' के ही माध्यम से देखता या सुनता है। इस प्रणाली के अनेक लाभ होते हैं। यह उपन्यासकार को वस्तु संगठन के सम्बन्ध में सुविधादायक होता है। वह अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे, वांछित वस्तु संगठन कर सकता है, क्योंकि इस प्रणाली में नायक या नायिका या कोई अन्य प्रमुख पात्र स्वयं कहानी कहता और एकता प्रदान करता चलता है। इसे साधारणतया आत्मकथात्मक शैली कहा जाता है। यद्यपि यह बहुप्रचलित शैली बन गई है, पर जहाँ पाश्चात्य उपन्यासों में हम इसका प्रचलन सामान्य रूप से देखते हैं, वहीं हिन्दी-उपन्यासों में इसे बहुत ही कम प्रयुक्त देखते हैं। इसके कारण स्पष्ट हैं। अभी हिन्दी उपन्यासों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। जितनी उपलब्धियाँ पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य ने शताब्दियों में प्राप्त की हैं, हिन्दी उपन्यासों ने उतनी अर्द्ध-शताब्दी से भी कम समय में प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। मनोविज्ञान का वास्तविक प्रारम्भ हम प्रेमचन्द के उपन्यासों से मान सकते हैं। यह पूर्णतया भ्रम-पूर्ण है कि जैनेंद्रकुमार हिन्दी के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार और 'परख' हिन्दी का प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। यह हमारे अध्ययन के हलकेपन और पूर्वाग्रहों की सीमाओं में बँधे रहने का द्योतक है। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ मनोविज्ञान की चर्चा का उद्देश्य-मात्र इतना ही समझना चाहिए कि आत्मकथात्मक शैली का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। कथा कहनेवाला मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से पूर्णतया परिचित रहता है और वह विभिन्न पात्रों की मानसिक गुत्थियों एवं चारित्रिक आरोहों एवं अवरोहों से हमें परिचित कराता चलता है। 'त्यागपत्र' में प्रमोद अपनी बुआ मृणाल के एक-एक भाव की सूक्ष्म दार्शनिक व्याख्या करता चलता है और मृणाल की आन्तरिक भावनाओं को हमारे सामने स्पष्ट करता चलता है। पर आत्म कथानक शैली का सबसे बड़ा दोष यही है कि उसमें कथा कहनेवाले के ऊपर ही सारा दायित्व रहता है। यदि उसने दायित्व निर्वाह में किंचिन्मात्र भी असावधानी दिखाई,

तो सारा उपन्यास प्रभावशून्य हो जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उपन्यास में कथा कहनेवाला एक प्रकार से हमारा (उपन्यासकार का) ही प्रतिनिधित्व कर रहा है और उसका चरित्र प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाना चाहिये जिससे पाठकों को बाद में अविश्वसनीयता की शिकायत का अवसर न मिले।

कथानक को प्रस्तुत करने की वर्णनात्मक शैली भी उपन्यासों में अधिक प्रचलित है। इस शैली का प्रचलन हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भिक युग से ही प्राप्त होता है। इसमें उपन्यासकार एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति सारी घटनाओं, पात्रों के सम्बन्ध में वर्णन करता चलता है और बीच-बीच में अपने विचार तथा अपनी समीक्षाएँ एवं मान्यताएँ भी प्रकट करता चलता है। इसमें उपन्यासकारों की विवरणात्मक प्रतिभा ही अधिक मुखरित होती है और मनोविज्ञान, दर्शन या उपन्यास की अत्याधुनिक प्रणालियों से नितान्त अपरिचित उपन्यासकार के लिए भी यह प्रणाली अत्यन्त सहज होती है और वह अपनी बात बिना कहीं उलझे हुए या कठिनाई का अनुभव किए सरलता से अभिव्यक्त कर सकता है। कहा जा सकता है कि इस प्रणाली में उपन्यासकार को अधिक स्वतन्त्रता रहती है। आत्मकथात्मक शैली की भाँति उसे मुख्य कथा कहनेवाले का स्वरूप पहले ही निश्चित नहीं कर देना पड़ता। वह कभी भी किसी भी रूप में कुछ भी कहने के लिए स्वतन्त्र रहता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह ऐसी भी बातें कह जाए या चित्रित करे, जिनका पहले से कोई आधार न हो और बाद में वे अयथार्थ प्रतीत हों। यह तथ्य सदैव ही स्मरण रखना होगा कि अपने दायित्वों को उचित रूप में निर्वाह न कर सकने की क्षमता के कारण कभी कोई उपन्यास सफल नहीं हो सकता और श्रेष्ठ कृति का रूप धारण नहीं कर सकता। यह सत्य है कि इस प्रणाली में उपन्यासकार को अपने आपको अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। पर इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कई खतरे उत्पन्न कर सकती है। प्रायः अपनी बात को सशक्त रूप में कहने के लिए उपन्यासकार इस प्रणाली का उपयोग करता है और पहले से ही कुछ लेक्चर तैयार करके कथानक में उसे फिट करने का प्रयास करता है। स्पष्ट है कि लम्बे-लम्बे भाषणों को कथानक में इस प्रकार संगुफित करने के लिए अत्यधिक कलात्मक कुशलता अपेक्षित होती है,

क्योंकि ऐसे भाषण जब तक कथांश नहीं बन जायँगे, वे ऊपर से आरोपित प्रतीत होंगे । 'वार-एण्ड-पीस' 'यूलीसेस', 'ह्यूमन बाण्डेज' आदि उपन्यासों में जब हम यह प्रवृत्ति देखते हैं, तो उसे बड़ी सहजता के साथ ग्रहण करते हैं, पर जब हम उस प्रवृत्ति का उपयोग 'मुर्दों का टीला', 'देश-द्रोही', 'दिव्या' तथा 'बीज' में पाते हैं, तो हास्यापद सा प्रतीत होता है। इनके कारणों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपनी नीरसता एवं कलात्मकहीनता की कहानी वे स्वयं ही कहते हैं। वस्तुत: वर्ण्य-विषय की अपनी सीमाएँ होती हैं, जिनका पालन करना उपन्यासकार के लिए आवश्यक होता है। इस प्रणाली का सुन्दर प्रयोग 'गोदान' में मिलता है, पर 'सेवा सदन' और 'रंग-भूमि' में इसका दुरुपयोग भी परिलक्षित होता है। इस शैली का सर्वोत्तम उपयोग उस स्थिति में होता है, जब अपनी सीमाओं को न तोड़ते हुए उपन्यासकार किसी विशाल परिवेश को अपने उपन्यास में समेटने का प्रयत्न करता है और विविध पात्रों के माध्यम से मानव-जीवन की पूर्णता का चित्रण करता है। इस प्रणाली में उपन्यासकार की स्थिति एक इतिहासकार की होती है और वह सभी बातों का ब्यौरेवार वर्णन अपनी कला से रोचकता के आवरण में लपेट कर पर्याप्त कुशलता से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर सकता है।

कथानक को प्रस्तुत करने की एक शैली पत्रात्मक है, जो अपेक्षाकृत नवीन है। इसमें कुछ चुने हुए पत्रों के माध्यम से कथानक का ताना-बाना संगुफित किया जाता है। ये पत्र प्राय: नायक-नायिका के बीच लिखे जाते हैं, पर यह कोई सर्वमान्य नियम नहीं है। यह पत्र-व्यवहार प्रधान पात्रों या गौण पात्रों के मध्य भी हो सकता है। पर प्राय: पत्र मुख्य पात्रों से ही लिखवाए जाते हैं। यहाँ लिखवाए शब्द पर मैंने विशेष जोर दिया है, क्योंकि पत्रों को प्रस्तुत करने में इस शब्द का विशेष महत्व होता है। स्पष्ट है कि सभी पात्रों के पत्र स्वयं लेखक को ही लिखने पड़ते हैं, पर वे इस रूप में प्रस्तुत होने चाहिए, जिससे सम्बद्ध पात्रों की चित्तवृत्तियों एवं अन्य चारित्रिक विशेषताओं, लेखन-शैली, शब्दों के प्रयोग आदि पूर्ण स्वाभाविक प्रतीत हों। उदाहरणार्थ यदि किसी उपन्यास में चार पात्र मिलकर पत्र लिखते हैं और उनके पत्रों की शैली एक है, भाषा भी एक-सी है, शब्दों का प्रयोग भी एक-सा ही है, तो यह पूर्णतया अस्वाभाविक प्रतीत होगा और लेखक की कलात्मक अकुशलता का परिचायक होगा। हम अपने दैनिक जीवन में भी देखते हैं कि

विविध लोगों के पत्र लिखने की शैली पूर्णतया भिन्न होती है। कोई अपने पत्रों में हास्य-व्यंग्य शैली अपनाता है, कोई भावुकता में डूबी हुई शैली का प्रयोग करता है। कोई संक्षिप्तता की सीमा में बँधा रहता है, तो कोई वर्णनात्मकता की शैली अपनाता है। व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य यह विविधता वस्तुतः व्यक्तियों के व्यक्तित्व की विभिन्नता का द्योतक होती है। इस शैली के प्रयोग में यह सतर्कता सदैव अपेक्षित रहती है। दूसरी बात जो अत्यन्त आवश्यक होती है, वह यह कि ये पत्र हमारे साधारण जीवन में लिखे जाने-वाले पत्रों से सर्वथा भिन्न होते हैं। हमारे दैनिक जीवन में जो पत्र लिखे जाते हैं, उनमें पत्र लिखनेवालों का यह ध्येय नहीं होता कि वे कोई कथा कह रहे हैं, या किसी कथा के विकास-क्रम में सहायक हो रहे हैं। पर उपन्यासों में लिखे जानेवाले पत्रों का इस दृष्टि से विशेष महत्व होता है, क्योंकि सभी पत्र कही जानेवाली कथा की कड़ियाँ होते हैं और उस कथा को आगे बढ़ाते हैं। अतः इन पत्रों का स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया जाना चाहिए, जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति तो हो ही, साथ ही वे मुख्य पात्रों के चरित्रों को भी सहज एवं स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत कर सकें। इस शैली का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मुख्य पात्रों की व्यक्तिगत भावनाओं की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति हो सकती है और सम्बन्धित पात्र अपने चरित्रों को उपन्यासकार की कलात्मक कुशलता के आधारशिला पर खड़े होकर स्वयं ही स्पष्ट कर सकते हैं। इस दृष्टि से वर्णनात्मक शैली अथवा आत्मकथात्मक शैली की तुलना में पत्रात्मक शैली अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी होती है, क्योंकि वर्णनात्मक शैली में पात्रों की भावनाओं का वर्णन स्वयं पात्र न कर एक बाहरी व्यक्ति (निश्चित रूप से, जो उपन्यासकार ही होता है) करता है और आत्मकथात्मक शैली में एक पात्र बीती हुई घटनाओं को याद करके संस्मरणात्मक रूप में ही कहता चलता है। इन दोनों शैलियों में विभिन्न पात्रों के चरित्र एवं आन्तरिक भावनाएँ उस रूप में स्वतन्त्र ढंग से स्पष्ट नहीं हो पातीं, जिस रूप में पत्रात्मक शैली में। इस शैली का प्रचलन यद्यपि हिन्दी उपन्यासों में काफी बाद में हुआ, पर इस शैली में अभी तक अधिक उपन्यास नहीं लिखे गए हैं। इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चन्द हसीनों के खुतूत' है, जिसमें नायक मुरारी मोहन और प्रधान पात्री नर्गिस के मध्य लिखे गए कुछ पत्रों के माध्यम से सारी कथा

का विकास हुआ है। इस उपन्यास को पहला और अन्तिम (अभी तक) प्रौढ़ उपन्यास पत्रात्मक शैली में लिखा हुआ माना जाना चाहिए, क्योंकि कुछ अन्य प्रयत्न जो हुए भी हैं, वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

कथानक प्रस्तुत करने की एक अभिनव शैली डायरी पद्धति है। इसमें एक या दो पात्रों की डायरी के माध्यम से सारे उपन्यास की रचना की जाती है। इस शैली में प्रायः पात्रों की संख्या कम होती है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर मनोविश्लेषणात्मक शैली अपनाने वाले उपन्यासकारों की यह प्रिय शैली है, क्योंकि इसमें उन्हें अपने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व सुलझाने का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त होता है। वे एक तटस्थ पर्यवेक्षक की भाँति उनकी भाव-ग्रन्थियों का विश्लेषण और मानसिक गुत्थियों का समाधान प्रस्तुत करते चलते हैं। इसमें उपन्यासकार स्वयं दूर हट जाता है और सारा उत्तरदायित्व सम्बन्धित पात्रों पर आ पड़ता है। पर इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से कई खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। प्रायः साधारण मानव-जीवन में डायरी लिखने-वाले लोग एक या दो पृष्ठ से अधिक की डायरी नहीं लिखते। बहुत ही विशेष अवस्थाओं में यह तीन या चार पृष्ठों तक भी खिंच सकता है। पर इससे अधिक पृष्ठों में डायरी लिखने का न किसी को अवकाश रहता है और न कोई डायरी लिखता ही है। इस सीमा का पालन उपन्यासों में भी होना चाहिए, जिससे स्वाभाविकता बनी रहे। पर प्रायः होता यह है कि उपन्यास-कार अपनी भावधारा के झोंक में डायरी के पृष्ठ-के-पृष्ठ लिखे चले जाते हैं और उन्हें किसी सीमा का ध्यान नहीं रहता। यह सब कुछ उसी रूप में होता है, जैसे कि उनके पात्रों के लिए दिन-भर जीवन में कोई और काम नहीं, बस डायरी लिखना ही है। यह सीमोल्लंघन उपन्यास को शिथिल बना देता है। राजेन्द्र यादव के 'शह और मात' तथा जैनेन्द्रकुमार के 'जयवर्द्धन' में ऐसी ही शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। डायरी शैली का उपयोग करते समय दूसरी सावधानी रखने की आवश्यकता यह होती है कि डायरी के रूप में जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उसका सम्बन्धित पात्रों के व्यक्तित्व से पूर्ण तादात्म्य हो। हमारे भारतीय जीवन में अभी डायरी लिखना बहुत सामान्य बात नहीं है। कम शिक्षित लोगों की बात तो छोड़िए, उच्च शिक्षित लोगों में भी डायरी लिखना अभी बहुत लोकप्रिय नहीं हो पाया है। लोग डायरी रखते भी हैं, तो केवल दिन-भर के खर्च और आमदनी का हिसाब-किताब

रखने के लिए ही। अतः डायरी लिखनेवाले पात्र का व्यक्तित्व बहुत सोच-समझकर और सावधानी के साथ निश्चित करना चाहिए। डायरी में जो कुछ भी पात्र लिखे, उसी के अनुरूप उसका आचरण और चरित्र हो। एक डॉक्टर या वैज्ञानिक का साहित्यिक बातें करना (जब कि प्रारम्भ में ही यह संकेत-सूत्र न दे दिया जाए कि साहित्य में इनकी रुचि है) एवं साहित्यिक भाषा एवं शैली का प्रयोग करना तर्क संगत न होगा। उसी प्रकार छात्र-जीवन से सम्बन्धित पात्र द्वारा अपनी डायरी में किसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर की तरह बातें करना भी अनुचित होगा। डायरी शैली के प्रयोग में वस्तुतः पर्याप्त सावधानी की अपेक्षा होती है। हिन्दी में इस शैली में अभी तक चार उपन्यास विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। जैनेन्द्रकुमार कृत 'जयवर्द्धन' (१९५५) राजेन्द्र यादव-कृत 'शह और मात' (१९६१) और इन पक्तियों के लेखक-कृत 'एक और अजनवी' (१९६३) तथा देवराज-कृत अजय की डायरी'। वैसे अनेक उपन्यासों में आंशिक रूप से इस शैली का प्रयोग किया गया है, जिसमें इलाचन्द्र जोशी कृत 'लज्जा' प्रमुख है, पर शुद्ध रूप से इन्हीं चार प्रमुख उपन्यासों में डायरी शैली में पूरी कथा ही कही गई है।

कथानक प्रस्तुत करने की एक शैली चित्रात्मक (Photographic) है, जिसमें उपन्यासकार एक फोटाग्राफर का रूप धारण कर लेता है और किसी स्थान-विशेष के रीति-रिवाजों, संस्कृति, सभ्यता, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों, धार्मिक रूढ़ियों, प्रगतिशील तत्वों, नारी और पुरुष की दृढ़ इच्छाओं, उद्देश्यों, संघर्षों, पराजय एवं विजय, अतृप्त इच्छाओं एवं वासनाओं आदि के स्नैप-शॉट प्रस्तुत करता चलता है। इस शैली का प्रयोग आंचलिक उपन्यासों में विशेष रूप से होता है। इस शैली के प्रयोग की भी सीमाएँ हैं। जिस प्रकार कैमरे से अनेक शॉट लेकर चित्रकार किसी स्थान का पूर्ण चित्र-प्रतिबिम्ब उपस्थित कर देता है, उसी प्रकार उपन्यासकार को भी किसी अंचल-विशेष का पूर्ण चित्र अपने उपन्यास में उपस्थित करना पड़ता है। इसमें उसे अत्यन्त व्यापक परिवेश अपनाना पड़ता है और इसमें अनेक पात्रों का समावेश हो जाता है। अतः जिस प्रकार कैमरामैन अपने कैमरे का एंगिल सावधानी से निश्चित करता है कि उसके उतारे गए चित्र में पूर्णता भी हो, साथ ही अनावश्यक तत्वों का बहिष्कार भी हो। उपन्यासकार को भी इस प्रकार केवल वही स्नैपशॉट प्रस्तुत करने

चाहिए, जो उपन्यास की पूर्णता के लिए आवश्यक हों, साथ ही जिनसे उस अंचल-विशेष की भी पूर्णता का आभास हो। इस शैली की काफी आलोचनाएँ भी हुई हैं, जिनमें कहा गया है कि इस शैली के अपनाने से उपन्यास में प्रवाहमयता नहीं रह पाती और पाठक को अनावश्यक रूप से रुक-रुककर चलना पड़ता है, जिसके कारण वह उस आनन्द तत्व की उपलब्धि नहीं कर पाता, जो उपन्यास की प्रमुख विशेषता है और जिसका वह अधिकारी है। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि इस शैली में कोई पात्र कथानक के वातावरण से ऊपर उठ नहीं पाता और न ही वह कथानक का सूत्र-संचालन ही कर पाता है। फलस्वरूप इस शैली में लिखे जानेवाले उपन्यास में न कोई नायक हो पाता है, न नायिका ही। यही आलोचना आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में भी की गई है, जिसका विवेचन तृतीय खण्ड में यथास्थान किया गया है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि यह किसी भी रूप में अनिवार्य नहीं है कि उपन्यास में नायक एवं नायिका ही हों। फिर इस शैली में लिखे जानेवाले उपन्यासों में भी पात्र-प्रमुखता प्राप्त कर सकते हैं और उपन्यास की पूर्णता या प्रवाहमयता पर नितान्त रूप से भी आँच नहीं आ सकती। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के दो उपन्यास 'मैला अंचल' और ''परती परिकथा' इसके उदाहरण हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथानक प्रस्तुत करने की एक शैली चेतना प्रवाह-पद्धति (Stream of consciousness) है। इस शब्द का प्रथम प्रयोग कदाचित् १९१८ में डॉरथी रिचार्ड्सन के उपन्यासों की मेसिंक्लेयर द्वारा की गई समीक्षा में किया गया था। इस शैली में पात्रों के मस्तिष्क में प्रत्येक क्षण जो विचार उठते रहते हैं, उपन्यासकार उन्हें उसी रूप में चित्रित करता जाता है।[1] पश्चिमी उपन्यासों में इसका सूत्रपात

---

1. "Eevery definite image in the mind is steeped and dyed in the free water that blows round it. The significance, the value of the image is all in this halo or penumbra that surrounds and escorts it.. consciousness does not appear to it self chopped ut in bits it is nothing Jointed ; it blows..let us call it the stream of thought, of consciousness, or of subjective life."

—विलियम जेम्स : प्रिन्सिपुल्स ऑव साइकोलॉजी (१८९०), पृष्ठ ८६

डॉरथी रिचार्ड्सन, जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ द्वारा किया गया था। जेम्स ज्वायस के प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलीसेस' में चेतना प्रवाह-पद्धति के प्रसंग भरे पड़े हैं। हिन्दी में एक उदाहरण इस प्रकार है :[१] "मीनल अपने आपसे जाने क्या-क्या कहे जा रही थी—दुनिया क्या है जैसे कोई नीलाम-घर....क्या समझ रखा है उन लोगों ने....इस पापी संसार में मान और प्रतिष्ठा सब मूल्यहीन है... हुँह मुझे अकेला समझकर मुझ पर तरस खाने चले थे...मैं कहती हूँ, क्या अधिकार था उन्हें यह सब कहने का....ओ परमात्मा ! अगर कहीं तू है, तो सुन। सब कुछ कर, पर नारी को कभी अकेली मत संसार में भेज....उफ् ! कैसे कीचड़ में फँसी थी। जी का जंजाल था। और नहीं तो क्या ?....यह संसार नारियों के अकेले बस का नहीं है। हाय ! कैसे-कैसे गन्दे लोग जन्म लेते हैं। वह अगर और कुछ कहते, तो मैं उनका मुँह तोड़ देती... कदम-कदम पर मुश्किलें हैं। हर तरफ उलझनें हैं। कोई जीए भी तो कैसे ?......

× × × ×

... ... मीनल, जहाँ भी रहो, यह जीवन जीना।... Oh Almighty ! Are you really somewhere ..I challenge you..come and see.. is this your creation...my life.. give me death death...peace ...eternal peace ..No my freedom is the unique foundation of values. And since I am the being by virtue of whom values exist, nothing—absolutely nothing can justify me in adopting this or that value or scale of values ..first train goes to Bombay by 12-30 P. M. .. Bombay is a big city..four or five times bigger than Allahabad As the unique basis of the existence of values, I am totally unjustifiable And my freedom is in anguish at finding that it is the baseless basis of values..It is not an easy job. Meenal where are you ..no... No..It is a certainty..she will not return..this creation will come to a turmoil if not changed..oh ! How love can taken to be granted...easy to say but..first train starts for Bombay

---

१ सुरेशसिनहा : एक और अजनबी, (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ६८ और १०१-१०२

at 12-30 P. M...Bombay is the biggest city of India . Perhaps a day will come when a happy age looking back at the past, will see in this suffering and shame one of the paths which led to peace..why big cities are established..Meenal means life..life means confidence..canfidence means progress.. Meenal dont die life to live not to die..the creation will come to a turmoil if not changed . ''

इस प्रकार इस शैली में उपन्यासकार पात्रों की चेतना में प्रविष्ट कर जाता है और उसका मध्यस्थ रूप गायब हो जाता है। पूर्व-प्रेमचन्द-काल या प्रेमचन्द-काल में प्रायः इतिहासकार या रिपोर्टर के रूप में उपन्यासकार सामने आता था। पर इस शैली के प्रचलन से पाठक पात्रों की चेतना के अत्यन्त निकट आ गया और उसकी चेतना में उठने वाली लहरों से बराबर उसका क्षण-क्षण पर सम्पर्क स्थापित होता रहता है। चेतना में उठनेवाली लहरें विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। एक ही समय में एक व्यक्ति मानसिक रूप से परेशान हो उठता है और अपने प्रेम, परिवार, घृणा, सत्य, निराशा, सफलता, असफलता और समाज एवं राष्ट्र की अनेक बातों को सोचता है। कभी-कभी वह निरर्थक बातें भी सोचता रहता है। उपन्यासकार उसकी चेतना के एक कोने में चुपचाप बैठा सारे भावों को कागज पर अंकित करता रहता है और एक उपन्यास तैयार कर देता है। परिचय में इस शैली में कई उपन्यास लिखे गए, पर हिन्दी-साहित्य में इस शैली का प्रयोग अनेक उपन्यासों में आंशिक रूप से ही हुआ है।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण:

पात्रों के स्वरूप

कई उपन्यासों के प्रारम्भ में प्रायः यह लिखा रहता है कि इसके पात्र पूर्णतया कल्पित हैं। प्रत्युत यह सत्य नहीं, एक भ्रम-पूर्ण कथन ही होता है। इसकी एकता को सीमा-मात्र यहीं तक सीमित होती है कि पाठक उन विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों से सम्पन्न व्यक्ति को तो जानता है, पर उसके परिचित का वह पात्र नहीं है, जो औपन्यासिक पात्र का नाम है। केवल नाम का अन्तर हो सकता है। पर मूलभूत सत्य यही है कि उपन्यास के पात्रों

और मानवीय जीवन के पात्रों में विशेष अन्तर नहीं होता। उपन्यासकार मानव-जीवन ही जीता है, कोई दैवी जीवन नहीं। हमारे मध्य ही वह रहता है। हमारी जीवनगत विषमताओं एवं दुरूहताओं से स्वयं उसका भी साक्षात्कार होता है और उसकी कटुता का पान उसे भी करना पड़ता है। अतः स्वाभाविक है कि वह उस जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता और उसी से प्रेरणा ग्रहण कर अपने पात्रों का स्वरूप निर्धारित करता है। यह बात दूसरी है कि वे औपन्यासिक पात्र बराबर हमारी आँखों के सामने न रहें।[1] और हमारा उनका साक्षात्कार बराबर न होता रहे, पर मात्र इतने से ही उन्हें हम पूर्णतया कल्पित या निराधार नहीं कह सकते। हमारे अपने जीवन में भी तो कितने ऐसे परिचित हैं, जिनसे रोज तो क्या, कदाचित् वर्षों भी नहीं मिल पाते और कुछ अर्थों में तो हम उनसे कभी भी जीवन पर्यन्त नहीं मिल पाते। फिर भी हम उनके जीवन की प्रक्रियाओं, क्रिया-कलापों एवं उनकी विशेषताओं से परिचित होते रहते हैं। तो क्या हम उन्हें पूर्णतया कल्पित और इस सृष्टि में उनके अस्तित्व को निराधार मान लेते हैं। कहा जाता है, कांग्रेस के वर्तमान अध्यक्ष श्री डी० संजीवैया ने अपने जीवन में गांधीजी को कभी नहीं देखा था, तो क्या उनके लिए गांधीजी का अस्तित्व निराधार है? नहीं। औपन्यासिक पात्रों का स्वरूप भी बहुत कुछ इसी प्रकार का होता है।

---

1 "For life and art are very different things, and existence in one is very different from existence in the other. From one thing life enforces on us a continuous existence whereas a character in fiction does not exist except at such times as he appears on the scene. And the fictional character must not appear too often on the scene without doing something very special and interesting—while all of us live days or years without doing any thing very special and interesting.

—रॉबर्ट लिडिल: ए ट्रीटाइज ऑव नॉवेल,

(१९६०), लन्दन, पृष्ठ ९१

इसके पश्चात् प्रश्न उठता है कि औपन्यासिक पात्रों की परिभाषा क्या दी जाय ? एक आलोचक के अनुसार उपन्यासकार कुछ शब्द-जाल आत्माभिव्यक्ति करता हुआ बुन देता है। उसे नाम देता है, उसमें प्राण संचारित करता है, स्त्री-पुरुष का भेद प्रदान करता है, उन्हें अनुभाव देने के साथ ही उनसे उद्धरण चिह्नों के माध्यम से वार्तालाप भी करवाता है। वे एक-सा व्यवहार भी करने के लिए उपन्यासकार द्वारा बाध्य किए जाते हैं। ये औपन्यासिक पात्र ही होते हैं।[1] फार्स्टर की इस दलील को स्वीकार कर लेना कठिन है। औपन्यासिक पात्र कभी एक सा व्यवहार नहीं करते। यदि ऐसा हो, तो उपन्यासों में विविधता समाप्त हो जाय और उनकी लोकप्रियता में कभी इतनी वृद्धि नहीं होती। सत्य तो यह है कि आज हम मानव जीवन के जितने भी स्वरूप देखते हैं, उनकी छाया हमें औपन्यासिक पात्रों में देखने को मिल जाती हैं, नाम और रंगों में चाहे जितने ही भेद क्यों न मिलें। मेरे विचार से औपन्यासिक पात्र मानव-मात्र से भिन्न नहीं होते। वे हो भी नहीं सकते, क्योंकि उपन्यासों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव जीवन से ही होता है। हम जो जीवन जीते हैं, प्रसन्नता, आह्लाद, सुख एवं दुःख में हमारी जो मनःस्थितियाँ होती हैं, ये पात्र भी उन्हीं से होकर गुजरते हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो उपन्यास का उद्देश्य संदिग्ध है। ऐसे उपन्यास असफल और अस्वाभाविक होते हैं। यह भी आवश्यक नहीं है कि ये औपन्यासिक पात्र केवल मनुष्य ही हों। वे मनुष्येतर जीव-प्राणी और पशु-पक्षी भी हो सकते हैं, पर चूंकि अभी तक उनकी भाषा का अध्ययन नहीं किया गया है, इसीलिए उपन्यास के पात्रों के रूप में भी उनकी कल्पना सफलता-पूर्वक नहीं हो पाती है। अतः वर्तमान परिस्थितियों में औपन्यासिक पात्रों का क्षेत्र अभी मनुष्यों तक ही विशेष रूप से सीमित है, पर स्पष्टतः यह अन्तिम सीमा नहीं है। औपन्यासिक कौशल से उनके अनेक स्वरूप कुशलता-पूर्वक प्रस्तुत किए जाते हैं।

---

१ ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल (१९४४), लन्दन, पृष्ठ ४९

किन्तु यह सब होते हुए भी उपन्यासकार मानव जीवन के व्यक्तियों को ज्यों का त्यों ही अपने उपन्यासों के संसार में नहीं ला बिठाता।[1] यह उसका दुराग्रह मात्र ही होगा। क्योंकि मानव जीवन में व्यक्तियों को जीवन के क्षेत्र में गतिशील होना पड़ता है, जबकि औपन्यासिक पात्रों को उपन्यास के क्षेत्र में, जो अन्ततोगत्वा कला का एक अन्यतम स्वरूप है। अत: उपन्यासकार जीवन के मौलिक व्यक्तियों की हूबहू अनुकृति नहीं करता।[2] मानवीय जीवन के व्यक्तियों के केवल वाह्य क्रिया तो कलापों से ही हम परिचित होते हैं।

---

1 "Yet for all their likeness to real people, fictional characters are not real people : they do not have to function in life, but in the novel, which is an art form. They function in plots, which are abstractions, patterns, conventions and they themselves are, like the plots they function in abstractions patterns, conventions......The fictional character is therefore seldom the protrait of a living person and more often a pattern or sketch suggested by a living person. It is on this account not surprising that character is often invented on a slender basis of observation, and is not often the result of the prolonged study by a writer of any particular individual."

—रॉबर्ट लिडिल : ए ट्रीटाइज ऑन द नॉवेल,
(१९६०), लन्दन, पृष्ठ ९७

2 "The writer does not copy his originals ; he takes what he wants from them, a few traits that have caught his attention, a turn of mind that has fined his imagination and therefrom constructs his character. He is not concerned whether it is a truthful likeness ; he is concerned only to create plausible harmony convenient for his own purposes.

—सॉमरसेट मॉम

वे मन में क्या सोचते हैं वहाँ छल-कपट है, या दयाभाव है, स्वार्थ की गहन भावना है या सहानुभूति की चरम सीमा; इन सब तथ्यों से हम पूर्णतया अपरिचित ही रहते हैं, जब तक कि वह व्यक्ति विशेषकर स्वयं हमसे यह न कहे कि वह ऐसा है। यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यह संसार कुछ और नहीं, बाह्य प्रदर्शन का मरुस्थल मात्र है, जहाँ मानवीय जीवन संवेदनाओं व्यक्ति-मूल्यों एवं सहानुभूतिपरक दृष्टिकोणों का कोई मूल्य नहीं, कोई महत्व नहीं। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं एवं कुरूपताओं को मन में ही छिपाकर ऊपर से आदर्शवादिता का ऐसा आवरण डाल लेता है कि व्यक्ति-व्यक्ति को पहचानना नितान्त रूप से कठिन होता है। पर उपन्यासों के क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। उस संसार के पात्र हमारे अधिक निकट होते हैं। उनका समस्त जीवन हमारे सामने रहस्य-रहित रूप में फैला रहता है, उनका कुछ भी हमसे रहस्य-पूर्ण नहीं रहता। किन परिस्थितियों में उनके मन में किस प्रकार के भाव जन्म लेते हैं, वे क्या सोचते हैं, वे अन्दर से उजले हैं या काले—आदि सभी बातों से हम पूर्णतया परिचित रहते हैं, इसीलिए उन पात्रों का मूल्यांकन करना हमारे लिए कठिन नहीं होता। पर यह अन्तर केवल आन्तरिक भावनाओं से परिचित होने तक सीमित है। जहाँ तक उनकी चरित्रगत विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का प्रश्न है, वे मानव जीवन के व्यक्तियों से भिन्न नहीं होते।

ईश्वर इस मानव-सृष्टि की रचना करता है, उपन्यासकार अपने उपन्यास-संसार की। रचनाकार दोनों ही हैं, पर दोनों में तात्त्विक अन्तर होता है। ईश्वर ऐसे जाने कितने व्यक्तियों का निर्माण करता है, जो बिल्कुल ही दिलचस्प नहीं होते और उनके साथ उठना-बैठना या उनसे निकटता स्थापित करना हम श्रेयस्कर नहीं समझते। पर उपन्यासकार, इसके विपरीत ऐसे पात्रों का सृजन करता है, जो दिलचस्प होते हैं, उनका उपन्यास-संसार में महत्व-पूर्ण स्थान होता है। जब कि ईश्वर द्वारा रचे गए सभी व्यक्ति इस संसार में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करें, यह आवश्यक नहीं, साथ ही संभव भी नहीं। कहा जा सकता है कि उपन्यास में भी तो गौण पात्र होते हैं। हाँ, पर उपन्यासकार उन्हीं गौण पात्रों का निर्माण करता है, जो कथानक विकास की दृष्टि से अनिवार्य होते हैं, अन्यथा नहीं। एक प्रकार से उपन्यासकार का निर्माण-क्षेत्र कुछ सीमित होता है, ईश्वर का अत्यन्त व्यापक। उस

व्यापकता में वह महत्व-पूर्ण और महत्व-हीन दोनों प्रकार के पात्रों का निर्माण करता है, पर उपन्यासकार केवल आवश्यक पात्रों का ही निर्माण करता है। वह अनावश्यक पात्रों का भी निर्माण कर सकता है, पर ऐसा करने से उसका उपन्यास असफल ही बन पड़ता है, उसमें वह गठन नहीं आ पाता, जो अच्छे एवं सफल उपन्यासों के लिए आवश्यक होता है।

पात्रों के सम्बन्ध में एक बात और भी आवश्यक होती है। उनका वास्तविक होना अत्यन्त आवश्यक होता है। अवास्तविक एवं अयथार्थ प्रतीत होनेवाले पात्र पाठकों के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव डालने में असमर्थ रहते हैं, वे क्षण-भर को आकर्षित भले ही कर लें। पर प्रभाव के स्थायित्व और आकर्षण की क्षणिकता में बड़ा अन्तर है। प्रभाव की प्रतिक्रिया आन्तरिक होती है, आकर्षण का बाह्य। प्रभाव मन को उद्वेलित करता है, आकर्षण केवल जिज्ञासा उत्पन्न करता है, वह वासनात्मक होता है (यहाँ वासना का अर्थ व्यापकतम अर्थ में ही ग्रहण किया गया है)। अतः जब भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन पात्रों की क्रियाएँ, आचरण एवं व्यवहार अमानवीय है, इस सृष्टि के नहीं, अपितु कल्पना-जगत् के हैं, या आध्यात्मिक धरातल के हैं, वहीं वे पात्र असफल हो जाते हैं। वास्तव में उपन्यास रचना किसी निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर होती है। केवल मनोरंजन या कल्पना-लोक का निर्माण करना आज उपन्यासकार का दायित्व नहीं है। आज उसका दायित्व सत्यान्वेषण, मूल्य-निर्माण और दिशा-निर्देशन का है। अपने अनुभवों को उपन्यास के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाना ही उसका उद्देश्य होता है और इसकी पूर्ति औपन्यासिक पात्र ही करते हैं। अतः इन पात्रों का वास्तविक होना आवश्यक है, क्योंकि तभी उपन्यासकार का उद्देश्य भी सफल होता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द की निर्मला, धनिया, गोविन्दी आदि पात्र हमारे अत्यन्त निकट प्रतीत होते हैं। उनमें वास्तविकता और जीवन के प्रति सच्चाई है, संघर्ष के प्रति ईमानदारी है, और सबसे बड़ी बात यथार्थता है। पर इसके ठीक विपरीत जैनेन्द्रकुमार की कट्टो, कल्याणी और सुनीता का आकर्षक व्यक्तित्व होते हुए भी वे अयथार्थ प्रतीत होते हैं। यथार्थ एवं अयथार्थ पात्रों की सफलता-असफलता की दो सीमाएँ हैं। जॉन स्टेनबेथ के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास "द

ग्रेप्स ऑव द रथ" का प्रधान पात्र टॉम जोएद या "द मून इज़ डाउन" की एनी इसीलिए सफल रूप से चित्रित हो पाए हैं, क्योंकि उनमें यथार्थ है। अतः उपन्यासकार को पात्रों की यथार्थता एवं स्वाभाविकता पर आवश्यक रूप से बल देना अनिवार्य हो जाता है।

पात्रों की संख्या

अब दूसरा महत्व-पूर्ण प्रश्न आता है कि उपन्यासों में पात्रों की संख्या दो-तीन-चार या कितनी हो ? इस प्रश्न की अनिवार्यता साथ ही उत्तर भी, उपन्यास के कथानक एवं उपन्यासकार के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। यदि उपन्यासकार बहिर्मुखी व्यक्तित्व का है, तो स्वाभाविक है, उसका दायरा भी व्यापक होगा, मित्रों की संख्या अधिक होगी, सामाजिक सम्बन्ध विस्तृत होंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि उसका परिवेश अत्यन्त व्यापक सीमाओं में आबद्ध होगा। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्तित्ववाले उपन्यासकार की सीमाएँ सीमित होंगी। कमरे की बन्द दीवालों के भीतर ही चिन्तन-मनन से वह एक नई सृष्टि का निर्माण करता है और वही सृष्टि उसके उपन्यासों का सृजन-स्रोत होती है। स्पष्ट है, उसका सामाजिक सम्बन्ध व्यापक नहीं होगा, मित्रों और परिचितों की संख्या अधिक नहीं होगी। उसका परिवेश सीमित होगा। मैंग्ड्गल के अनुसार एक अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाला युवक था, उसने अपने को समाज से बिल्कुल अलग रखा। वह किसी से मिलता-जुलता नहीं था। कमरे में ही बैठा बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ा करता था और उन पर चिन्तन करके स्वयं से ही तर्क-वितर्क किया करता था। सारे जीवन-भर उसका कोई मित्र नहीं बन सका। अगल-बगल रहने वाले उसके यहाँ जबर्दस्ती दो-एक बार आए भी, पर सारी आव-भगत के पश्चात् भी उसका व्यवहार उनके प्रति शुष्क ही रहा। वह वापसी (Return Visits) में भी अपने पड़ोसियों के यहाँ नहीं गया। फल-स्वरूप उसका सम्बन्ध किसी से स्थापित नहीं हो पाया। यहाँ तक कि जब उसकी मृत्यु हुई तो उसका कोई मित्र नहीं था। म्युनिसिपैलिटी की गाड़ी आकर उसका शव ले गई। यहाँ कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मानव व्यक्तित्व की ये दो प्रवृत्तियाँ उपन्यास के पात्रों की संख्या से भी घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध हैं।

बहिर्मुखी व्यक्तित्ववाला उपन्यासकार सीमित परिवेश से कभी सन्तुष्ट नहीं होगा। उसकी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उसके उपन्यासों की सीमा (Convass) भी विस्तृत होगी। वह जीवन की व्यापकतम सीमाओं को अपने उपन्यासों में आबद्ध करने का प्रयत्न करेगा। स्वाभाविक है, उसका यह उद्देश्य दो-चार पात्रों से नहीं, बल्कि अनेक पात्रों को रखने से ही पूर्ण होगा। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्तित्ववाला उपन्यासकार जीवन की व्यापक सीमाओं की कभी बात भी नहीं सोच सकता। वह एक सीमित परिवेश में ही आगे बढ़ेगा और अपने आत्मचिंतन, दर्शन एवं बौद्धिक आग्रहों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करेगा। उसके उपन्यासों का कथानक व्यापक भावभूमि पर नहीं निर्मित होगा, अत: उसका काम कुछ इने-गिने पात्रों से ही चल जाता है। कभी-कभी तो वह दो-एक पात्रों से ही अपना काम चला लेता है। पहली प्रवृत्ति के उत्कृष्टतम उदाहरण प्रेमचन्द हैं। जो भी लोग प्रेमचन्द से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे, वे जानते हैं कि प्रेमचन्द का व्यक्तित्व कितना बहिर्मुखी था, उनके मित्रों की संख्या कितनी अधिक थी और उनके सामाजिक सम्बन्ध कितने व्यापक थे। यही कारण है कि हमें उनके सभी उपन्यासों में मानव जीवन की व्यापकतम सीमाएँ सन्निहित मिलती हैं और इसीलिए उनके सभी उपन्यासों में पात्रों की संख्या भी अधिक होती है। इसके विपरीत जैनेन्द्रकुमार का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी है। वे आत्मचिन्तन को अधिक महत्व देते हैं, इसीलिए उनके अधिकांश उपन्यास आकार में लघु हैं और उनमें जीवन की वे व्यापकता सीमाएँ नहीं आबद्ध की गई हैं, जैसा प्रेमचन्द ने किया था। फलस्वरूप उनके उपन्यासों में पात्रों की संख्या भी अधिक नहीं है। परख में चार-पाँच पात्र हैं। सुनीता में तीन पात्र, कल्याणी में भी तीन-चार पात्र तथा त्यागपत्र में एक प्रकार से दो पात्र ही हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पात्रों की संख्या को दो बातें प्रभावित करती हैं। एक तो उपन्यासकार का व्यक्तित्व, दूसरे कथानक का स्वरूप। कथानक का स्वरूप भी स्पष्ट है, उपन्यासकार के व्यक्तित्व से ही प्रभावित रहता है। पर पात्रों की संख्या के सम्बन्ध में यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी और भी आवश्यक है। वह है, पात्रों की संख्या और उनका सफल निर्वाह। पात्रों की अधिक संख्या से किसी को भी शिकायत नहीं हो सकती, पर

अनिवार्यतः उन सभी का सफल निर्वाह भी होना चाहिए। प्रायः होता यही है कि अधिक पात्र रख तो लिए जाते हैं, पर उनका सफल निर्वाह नहीं हो पाता। उपन्यासकार भी साधारण मानव ही होता है, ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न नहीं। वह सभी पात्रों के स्वाभाविक चारित्रिक विकास की ओर ध्यान नहीं दे पाता, और दे भी नहीं सकता। अतः या तो पात्रों की बीच में हत्या कर देनी पड़ती है, या उनकी असामयिक मृत्यु हो जाती है, या वे बीच से ही गायब हो जाते हैं, फिर अन्त तक उनका पता ही नहीं चलता और पाठक उन्हें खोजते ही रह जाते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसा बहुत हुआ है। 'वार एन्ड पीस', 'यूलीसेस', 'वेनिटी फेयर' या 'ईस्ट आँव ईडन' में भी पात्रों की भरमार है, और उपन्यासकार सभी पात्रों का सफल निर्वाह नहीं कर पाए हैं। वास्तव में पात्रों की संख्या बस उतनी ही होनी चाहिए, जिससे कथानक की अनिवार्य आवश्यकताएँ और लेखक का उद्देश्य पूर्ण हो जाय, दूसरे उनके स्वाभाविक चारित्रिक विकास की ओर लेखक पूर्ण ध्यान दे सके।

पात्रों की संख्या का सम्बन्ध लेखक के उद्देश्य से भी होता है। प्रायः लेखक अपने किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति कराने के लिए विशेष पात्रों को चुनता है, और उन्हीं के माध्यम से उपन्यास में आगे बढ़ता है। उदाहरणार्थ यदि कठोर यथार्थता की भूमि पर कृषक जीवन की पराजय एवं शोषण का चित्रण न करना होता, तो कदाचित् 'गोदान' में होरी की कल्पना कभी न होती। इसी प्रकार यदि आज के तथाकथित प्रगतिशील समाज के खोखलेपन की कहानी का चित्रण न करना होता, तो मोहन राकेश के लिए 'अन्धेरे बन्द कमरे' में मधुसूदन पत्रकार की परिकल्पना की नितान्त आवश्यकता भी न थी। वह पत्रकार इसीलिए चित्रित किया गया है, क्योंकि वह समाज में सबसे मिल सकता है, सब स्थानों में जा सकता है और वहाँ की कहानी कह सकता है।

अब हमें पात्रों के भेदोपभेदों पर विचार कर लेना चाहिए। पात्रों के दो वर्ग होते हैं। एक वर्ग में हम नायक-नायिका को रख सकते हैं, दूसरे वर्ग में सहनायक-सहनायिका और गौण पात्रों को रख सकते हैं। पात्रों का एक और वर्गीकरण उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार किया जा सकता है, अर्थात् स्थिर पात्र और विकसनशील पात्र। उन पर आगे यथास्थान विचार किया जायगा।

नायक

कथावस्तु में नायक का महत्व-पूर्ण स्थान होता है। वह कथा का संचालन-सा करता प्रतीत होता है।[1] और उसे हम अंग्रेजी के Hero शब्द के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं। नायिका की भाँति फलागम की स्थिति नायक को प्राप्त होती है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक उपन्यास में नायक हो ही। 'सुनीता', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'दिव्या' आदि उपन्यासों में कोई नायक नहीं है। वैसे नायिका के प्रेमी और पति को भूल से नायक की संज्ञा दे दी जाती है, पर यह भ्रम-पूर्ण धारणा है। नायक का व्यक्तित्व दुर्बल भी हो सकता है, सशक्त भी। यह कथानक की आवश्यकता पर निर्भर करता है। नायक में प्रायः देखा यही गया है कि दृढ़ इच्छा शक्ति का अभाव होता है।[2] पर यह भी कोई अनिवार्य नियम नहीं है। वैसे आजकल प्रवृत्ति यही लक्षित होती है कि नाटकों की भाँति उपन्यासों के प्रथम चार अध्याय तक नायक पूर्णतया पतित, लम्पट और भ्रष्ट होता है, और नायिकाएँ उसी का अनुसरण करती हैं। पर पाँचवें अध्याय से वे पूर्ण आदर्श-

---

1 "The hero gives the story an indefeasible unity by the mere act of telling it. His career may not seem to hang together logically, artistically; but every part of it is at least united with every part by the coincidence of its all belonging to one man."

—पर्सी लब्बार्क : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९६०), लन्दन, पृष्ठ १३१

2 "The hero has generally a most gentle mainly in capacity for passion. It is never a necessary consequence of his disposition, for that, too is mostly colourless. In these circumstances he can only be brought into an action at all by being put in to some arranged situation-he may, for instance be caught up into a political struggle which he has not chosen, and in which he becomes involved by circumstances.

—एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ ३५

वादी बन जाते हैं।[1] यद्यपि नायकों की अनेक श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं, जितने कि मानव जीवन में पुरुषों के रूप प्राप्त होते हैं, पर प्रधानतया उन्हें निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं :—

१. प्रेमी नायक
२. आदर्श नायक
३. गृहस्थ नायक
४. वीर नायक
५. न्यूरोटिक नायक
६. कर्मठ नायक
७. दुर्बल प्रवृत्ति का नायक
८. धूर्त चरित्र का नायक

पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नायक की अनेक श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। उन्हें किन्हीं सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। वे कथानक के प्रारम्भ से अन्त तक घटनाओं के विकास-क्रम में उपस्थित रहते हैं, और उन्हीं परिस्थितियों में उनका चरित्र बनता-बिगड़ता रहता है।

नायिका

नारी पात्रों में नायिका[2] का प्रमुख स्थान होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि नारी पात्रों में वस्तुतः नायिका का स्थान किसे प्रदान किया जाय ? अर्थात् नायिका की परिभाषा क्या हो ? नायिका की परिभाषा

---

1 "Their heroes generally are notorious, rogues, and their heroines abondoned lades during the first four acts ; but in the fifth, the former becomes very worthy gentleman, the latter woman of virtue and discretion. There is, indeed, no other reason to assigned for it, than because the play is drawing to a conclusion."

—हेनरी फिल्डिग : टॉम जोन्स (बुक VIII, अध्याय प्रथम)

२ नायिका सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए देखिए : प्रस्तुत लेखक का प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध : हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, (१९६३), इलाहाबाद।

निश्चित करने के पूर्व यह बात प्रमुख रूप से उठती है कि यह आवश्यक नहीं है कि उपन्यासकार उपन्यास में नायिका की परिकल्पना करे ही, प्रेमचन्द के 'गोदान', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', वृन्दावनलाल वर्मा के 'विराटा की पद्मिनी', 'प्रत्यागत', 'कुण्डलीचक्र', 'संगम', 'लगन', 'अचल मेरा कोई' प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विकास', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' तथा भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष', 'भूले-बिसरे चित्र', मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे', राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' आदि में वस्तुत: नायिकाएँ हैं ही नहीं। इनमें या तो पुरुष-पात्रों या नायकों का ही प्रधान स्थान है, अथवा घटना-वैविध्य को ही महत्व प्रदान किया गया है। पर मेरे देखने में ऐसा कोई उपन्यास नहीं आया, जिसमें नारी पात्रों को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया गया हो। अधिकांश रूप में प्रत्येक उपन्यास में पुरुष-पात्रों की भाँति अनेक नारी पात्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि नारी पात्र किसी विशेष अनुपात में ही रखे जायँ। वे कथानक की आवश्यकतानुसार किसी भी संख्या में हो सकते हैं, पर प्रत्येक उपन्यास में नायिका का होना अनिवार्य नहीं है।

प्राय: इन्हीं नारी-पात्रों में कोई न कोई नारी पात्र ऐसी होती है, जिसका कथानक की अन्तिम परिणति तक पहुँचने में महत्वपूर्ण स्थान होता है। उसका व्यक्तित्व इन सभी नारी पात्रों से अधिक सुस्पष्ट, प्रबल एवं आकर्षक होता है। वह पाठकों को बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है, और हमें यह भी अनुभव होता है कि उपन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्र-चित्रण की ओर, उसके व्यक्तित्व को निखारने एवं सँवारने में विशेष रूप से प्रयत्नशील होता है। जिस प्रकार किसी कमरे के निविड़ अन्धकार के बीच भी एक हीरे का प्रकाश अपनी पूर्णता के साथ जगमगाता रहता है, उसी भाँति पात्रों के उस समूह में वह विशेष नारी पात्र सबसे ऊपर दिखाई पड़ती है। इसी विशेष नारी पात्र के इर्द-गिर्द कथानक का चक्र निर्मित होता प्रतीत होता है। कथानक लगभग उसी के चारों ओर घूमता रहता है और वह उसका नेतृत्व करती है। वह हमें कथानक के प्रत्येक मोड़ पर मिल जाती है और नायक की भाँति उसका भी कथानक में महत्वपूर्ण स्थान होता है। बल्कि अधिकांश उपन्यास तो ऐसे लिखे गए हैं, जिनमें केवल इसी

विशेष नारी पात्र को ही प्रधानता दी गई है। उपन्यासों का कोई न कोई उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी विशेष नारी पात्र को लेकर होता है। वह अन्त सुखद भी हो सकता है, दुःखद भी। पर फलागम की स्थिति इसी विशेष नारी पात्र को प्राप्त होती है। इसी विशेष नारी पात्र को हम नायिका कह सकते हैं। संक्षेप में नायिका की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है :—

"नायिका का कथा संगठन में प्रमुख स्थान होता है। उसे ही फलागम की स्थिति प्राप्त होती है, और कथा के सारे सूत्र उसके हाथ में होते हैं।"

नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट कर देनी चाहिए। नायिका का अर्थ वही लिया जाना चाहिए, जो अंग्रेजी के Heroine शब्द का होता है। यों तो नायक की पत्नी या प्रेयसी को भी नायिका कहा जा सकता है, जैसे 'गोदान' में होरी की पत्नी धनिया को भी नायिका माना जाता रहा है, पर यह भ्रान्ति-पूर्ण धारणा है। केवल मात्र नायक की पत्नी या उसकी प्रेयसी होने से ही किसी को नायिका की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः सत्य स्थिति तो यह है कि नायिका को फलागम की स्थिति प्राप्त होती है, कथानक के संचालन में उसका महत्व-पूर्ण स्थान होता है और नायक की ही भाँति सारे कथा-सूत्र उसके हाथ में सिमटे रहते हैं। यदि किसी नायिका में ये गुण नहीं परिलक्षित किए जा सकते, तो उसे नायिका नहीं माना जा सकता।

नायिकाओं की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। प्रत्येक उपन्यासकार नारी को विभिन्न दृष्टिकोण से परखता है। कोई उन्हें वीरांगना के रूप में, कोई जासूस के रूप में, कोई केवल मा के रूप में, कोई केवल विलासिनी के रूप में और कोई केवल उन्हें प्रेमिका के रूप में देखता और उसी रूप में चित्रित करता है। नायिका के निर्वाचन में तत्कालीन युग की परिस्थितियों, सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक आदर्शों और स्वयं लेखक की अपनी मान्यताओं एवं धारणाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उसका स्वरूप एक प्रकार से इन्हीं बिन्दुओं के मध्य निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ आज की हमारी परिस्थितियाँ कुछ नवीन प्रकार की हैं। हम निरन्तर एक उत्कम्प की स्थिति में जी रहे हैं। आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ता लाने और राष्ट्र का नव-निर्माण करने की प्रमुख समस्या हमारे सम्मुख है। इन परिस्थितियों में

आवश्यक है कि नारियाँ भी इस सामाजिक संघर्ष में हमारे साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलें, और हमें अपने अन्तिम उद्देश्य की अन्तिम सीमा तक पहुँचने में सहायता दें। आज नारी अपने अधिकारों से वंचित नहीं है। उसे सामाजिक और राजनीतिक सभी अधिकार प्राप्त हैं, साथ ही वह पुरुषों से भी समानता कर सकती है। वह परिवर्तित परिस्थितियों में केवल विलास या भोग की सामग्री मात्र नहीं रह गई है। वह उस सीमा से कहीं आगे आ चुकी है। घर का सीमित दायरा अब उसके विकास की राह में समस्या नहीं है। यद्यपि इसका दुरुपयोग भी हुआ है और नारियाँ निरन्तर एक मृगतृष्णा के संसार में अपना जीवन जी रही हैं। आज के अधिकांश उपन्यासों की नायिकाएँ इसी सन्दर्भ में कल्पित की जाने लगी हैं। अब किसी भी उपन्यास की नायिका पूर्ण रूपेण भारतीय परम्पराओं और नारी गत स्वाभाविक मर्यादाओं से ओत-प्रोत नहीं चित्रित की जाती। सत्य तो यह है कि जिस प्रकार मानवीय जीवन में विविधता है, उसी भाँति हिन्दी उपन्यासों की नायिकाओं में भी विविधता है। नारी जीवन के जितने भी रूप हो सकते हैं, उपन्यासों में प्रायः उन्हीं का चित्रण किया जाता है और किया जा रहा है, क्योंकि उपन्यास तो मानवीय जीवन का ही प्रतिबिम्ब है, लेखा-जोखा है, फिर उसमें इस विविधता का होना आवश्यक भी होता है।

सहनायक-सहनायिका

सहनायक-सहनायिका का स्थान उपन्यास में नायक-नायिका के पश्चात् ही होता है। स्पष्ट है कि कथानक में उनका भी अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान होता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक उपन्यास में उनकी अनिवार्य रूप से कल्पना की ही जाय। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि ये नायक-नायिका की लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक ही हों, जैसा कि सामान्यतः समझ लिया जाता है कि वे दुष्ट पात्रों (Villains) के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकते। यह एक भ्रम-पूर्ण धारणा लोगों के मन में बैठ गई है (शायद यह हमारी फिल्मों का ही प्रभाव हो, जहाँ अधिकांश रूप में सहनायक-सहनायिका का अर्थ दुष्टपात्रों के रूप में ही ग्रहण किया जाता है) कि सहनायक और सहनायिका दुष्ट प्रकृति के ही होने चाहिए और वे नायक-नायिका की लक्ष्य-

प्राप्ति में बाधक होते हैं। वास्तव में ऐसा सोचना एक विडम्बना-मात्र है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि नायक या नायिका के बाद क्रमशः जो प्रधान पुरुष और नारी-पात्र होता है, जो कथानक में साथ-साथ फलागम की स्थिति की ओर अग्रसर होते हैं, वही सहनायक और सहनायिका होते हैं, यद्यपि उन्हें फलागम की स्थिति नहीं प्राप्त होती।

गौण पात्र

उपन्यासों में कुछ ऐसे भी पात्रों की योजना की जाती है, जो कथानक की दृष्टि से महत्व-पूर्ण विशेष नहीं होते। वे केवल मुख्य पात्रों के चरित्र की गौरव, प्रतिष्ठा एवं उनकी महत्ता प्रतिपादित करने के लिए तथा वातावरण की सृष्टि करने के लिए होते हैं। ये पात्र ही वस्तुतः गौण पात्र कहलाते हैं। वैसे इन पात्रों का नाम भर ही गौण पात्र है, उपन्यास में इनकी उपादेयता अत्यधिक होती है। विशेष रूप से ऐसे उपन्यासों में जो ऐतिहासिक, सामाजिक राजनीतिक या पारिवारिक होते हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में इनका महत्व इसलिए न्यून होता है कि वहाँ बस एक या दो चरित्रों से ही उपन्यास-कार का काम चल जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो इतने अधिक गौण पात्र होते हैं कि वहाँ उनकी संख्या ही नहीं गिनाई जा सकती। वहाँ युद्धों में, समूह गानों में, उत्सवों में या इसी प्रकार के आयोजनों में वातावरण को यथार्थ रूप देने के लिए इन गौण पात्रों की कल्पना की जाती है। उदाहरणार्थ वृन्दावनलाल वर्मा-कृत 'झाँसी की रानी' में ऐसे जाने कितने गौण पात्र हैं, जो केवल वातावरण की सृष्टि के लिए ही हैं। गुरुदत्त-कृत 'देश की हत्या', प्रेमचन्द-कृत 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', भगवतीचरण वर्मा-कृत 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'भूले-बिसरे चित्र', यशपाल-कृत 'झूठा-सच' तथा इन पंक्तियों के लेखक कृत 'तुमने मुझे पुकारा तो नहीं' में ऐसे जाने कितने ही गौण पात्रों की कल्पना की गई है। ये पात्र गौण केवल इसलिए होते हैं कि उपन्यासकार उनके चरित्र-चित्रण की ओर विशेष सजग या प्रयत्नशील नहीं होते। ऐसे पात्रों की केवल धूमिल रेखा ही उभर पाती है और उनके सम्बन्ध में पाठकों को प्रायः अनुमान-भर कर लेना पड़ता है। या कभी-कभी तो उनकी स्थिति इतनी नगण्य होती है कि इस प्रकार के अनुमान लगाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

इन गौण पात्रों से कभी-कभी कथानक को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करने का भी कार्य लिया जाता है। इन पात्रों का ऐसी स्थिति में बस इतना ही कार्य होता है कि वे कथानक को एक विशिष्ट दिशा प्रदान कर गायब हो जाते हैं। पाठक यदि उन्हें खोजना या पाना भी चाहता है, तो असमर्थ रहता है। इन्हीं पंक्तियों के लेखक के नवीनतम उपन्यास 'एक और अजनबी' में राजेश इसी प्रकार का गौण पात्र है, यों उसके सहनायक होने का भी भ्रम उत्पन्न होता है, पर वस्तुतः है वह गौण पात्र ही, सहनायक नहीं। पूरे उपन्यास में वह दो बार उपस्थित होता है। एक बार तो जब वह कायरता की निम्नतम सीमा तक गिर जाता है, उसे मीनल के विश्वास और दृढ़ता का भी ध्यान नहीं रहता और प्रेम की स्वार्थता पर वह अपने आप को बलिदान कर देता हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप मीनल का उसके घर से निष्काषन होता है और वह जैसे अपने जीवन में नए सिरे से संघर्षों का सामना करने के लिए ढकेल-सी दी जाती है। इसके पश्चात् राजेश दूसरी बार अन्तिम अवस्था में इस सारे संघर्ष को जैसे अपने में समेटकर मीनल को उसकी अन्तिम परिणति की ओर अग्रसर करने के लिए पुनः उपस्थित होता है। मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' में सुषमा श्रीवास्तव भी इसी प्रकार की गौण पात्र हैं। वह आज के तथाकथित प्रगतिशील नारी समाज के खोखलेपन की कहानी कहने के लिए ही उपस्थित होती हैं और मधुसूदन के सम्मुख मानो एक और अँधेरे बन्द कमरे को खोलती हैं।

इन गौण पात्रों की कल्पना प्रमुख पात्रों का चरित्र स्पष्ट करने के लिए भी की जाती है। इन पात्रों का चरित्र-संगठन इस प्रकार किया जाता है, जिससे प्रमुख पात्रों का चरित्र अधिकाधिक स्पष्ट किया जा सके और उनका चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन गौण पात्रों का स्थान उपन्यास के प्रमुख पात्रों की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं होता और कभी-कभी तो चरित्र-प्रधान उपन्यासों में भी इनका महत्व-पूर्ण स्थान होता है।

स्थिर पात्र

स्थिर पात्र (Static People) अपरिवर्तनशील होते हैं। जीवन के सुख-दुःख, करुणा एवं उल्लास, विषम अथवा अनुकूल परिस्थितियों—किसी

का भी उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, वे समान स्थिति में ही रहते हैं। कभी-कभी उन्हें कैरीकेचर (Caricatures) और कभी-कभी उन्हें टाइप (Type) कहते हैं। ये वास्तव में किसी-न-किसी वर्ग के प्रतिनिधि ही बनकर आते हैं। उपन्यासकार उस वर्ग की सारी प्रमुख विशेषताएँ ऐसे प्रकार के पात्रों में भर देता है और इन पात्रों के चरित्र से उस वर्ग के लोगों की समस्त सामान्य विशेषताओं का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। 'गोदान' का होरी स्वयं अपने में कोई पात्र नहीं है। वह एक टाइप है, वह भारत के उन असंख्य सीधे-सादे, धर्म में गहन आस्था रखनेवाले एवं नैतिकता का विशिष्ट मूल्यांकन करनेवाले कृषकों का प्रतिनिधि है, जो जीवन भर संघर्षरत रहते हैं, जिन्हें परिस्थितियों की विषमता सदैव पराजित करती है और अन्त में उनकी अत्यधिक सज्जनता एवं आदर्शवादिता ही उन्हें ले 'डूबती' है। ऐसे पात्र स्वयं नहीं बदलते। उनके सम्बन्ध में केवल हमारी धारणा ही परिवर्तित होती है।[1] इन पात्रों की कल्पना में एक लाभ यह होता है कि उपन्यासकार को बार-बार उनका परिचय देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।[2] वे जैसे ही सामने आते हैं, पाठक उन्हें सहज ही पहचान लेते हैं, क्योंकि वे

1 "····Their (of flat characters) weakness, their varieties, their folies they possess from the begining and never lose to the end; and what actually does change is not these, but our knowledge of them."

—एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६), लन्दन पृष्ठ २४-२५

2 "It is a convenience for an author when he can strike with his full force atonce, and flat characters are very useful to him, since they never need reintroducing, never run away, have not to be watched for development, and provide their own atmosphere—little lumirous disks of pre-arranged size, pushed hither and thither like counters across the void or between the stars; most satisfactory."

—ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (१९६२), आस्ट्रेलिया, पृष्ठ ७६

जानते हैं, इस पात्र की यह विशिष्ट प्रवृत्ति है, इसमें परिवर्तन होना संभव नहीं है।

स्थिर पात्रों की परिकल्पना का लाभ यह होता है कि वे बराबर ही पाठकों की चेतना में स्मरणीय रहते हैं। उपन्यास को वे समाप्त कर देते हैं, छोटी-मोटी घटनाएँ उन्हें भूल भी जाती हैं, पर ऐसे पात्र उन्हें कभी नहीं भूलते, इसका कारण उनका परिस्थितियों में परिवर्तित न होना ही है। 'गोदान' का होरी ही जाने कितनी विषम परिस्थितियाँ तो आईं उसके जीवन में, पर वह कभी भी परिवर्तित नहीं हुआ। उसकी आदर्शवादिता कभी खण्डित नहीं हुई। वह टूटकर बिखर गया, पर कभी झुका नहीं। इसी कारण वह पाठकों के लिए बराबर ही स्मरणीय बना रहता है। एच० जी० वेल्स के सभी उपन्यासों के पात्र स्थिर हैं। चार्ल्स डिकेन्स के भी अधिकांश पात्र स्थिर हैं। प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के भी अधिकांश पात्र स्थिर ही हैं। इन स्थिर पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ इतनी स्पष्ट और संक्षिप्त होती हैं कि उनका निर्देश एक वाक्य में भी किया जा सकता है। पर इन स्थिर पात्रों की ही बराबर कल्पना से उनकी सफलता संदिग्ध-सी हो जाती है वे जब भी आते हैं, एक ही प्रकार की बात करते हैं, एक ही प्रकार के भाव प्रकट करते हैं। पाठक उनसे 'बोर' सा होने लगता है और वह उनके प्रकट किए गए विचारों से घिरे पृष्ठों को छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहता है। क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने से कथानक की गति या प्रवाहमयता में कोई बाधा नहीं पहुंचेगी।

विकसनशील पात्र

स्थिर पात्रों के विपरीत विकसनशील पात्र परिवर्तनशील होते हैं; उन पर परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। जीवन के सुख-दुःख, करुणा एवं उल्लास, आशा और निराशा उनके जीवन में नई दिशाएँ निर्मित करती हैं। वास्तव में वे परिस्थितियों के प्रवाह में ही बहते चलते हैं, और विकास प्राप्त करते रहते हैं। उनमें जो भी परिवर्तन होता है, उनके लिए उपन्यासकार को यथेष्ट प्रमाण देना पड़ता है, जिससे वे परिवर्तन अनायास न प्रतीत हों और उनकी स्वाभाविकता नष्ट न हो जाय। 'सुनीता' में सुनीता एक परिवर्तनशील पात्र ही है। प्रारम्भ में उसका विवाहित जीवन सुखी नहीं

है। उसे संतोष नहीं प्राप्त होता और अपने पति श्रीकांत से वह खिची-खिची-सी रहती है। पर हरिप्रसन्न के बीच में आ जाने से घटनाओं को नई दिशा प्राप्त होती है और तदनन्तर सुनीता में जो भी चारित्रिक विकास होता है, उसके लिए पर्याप्त कारण दिए गए हैं तथा उसके अन्तरमन का सूक्ष्म मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, जिससे उसकी स्वाभाविकता निरन्तर बनी रहती है। इन्हीं पंक्तियों के लेखक के उपन्यास 'तुमने मुझे पुकारा तो नहीं' (१९६१) की नायिका सुजाता भी विकसनशील पात्र है। उसके जीवन में परिस्थितियों के घात-प्रतिघात बराबर चलते रहते हैं और उन्हीं के थपेड़े खाती-सहती वह आगे बढ़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विकसनशील पात्रों के चरित्रों में परिवर्तन की स्वाभाविकता बनाए रखने के लिए पर्याप्त कारण उपस्थित किए जाने चाहिए। स्थिर पात्रों से अधिक समय तक कार्य नहीं चलाया जा सकता और न ही वे हमारे मन में कोई विशेष भाव उपस्थित कर सकने में ही सफल रहते हैं। पर विकसनशील पात्र हास्य या अवसरानुकूल कोई कार्य करने के अतिरिक्त किसी भी समय तक उपस्थित रह सकते हैं और हमारे अन्दर कोई भी भाव उपस्थित करने में सफल हो सकते हैं। विकसनशील पात्रों की सबसे बड़ी कसौटी यही होती है कि क्या अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से वे हमें अचम्भे में डाल देने में समर्थ सिद्ध होते हैं या नहीं ? यदि नहीं, तो फिर वे स्थिर पात्र ही हैं, जो केवल विकसनशील पात्र होने का बहाना भर ही करते हैं। पर हमें यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि परिवर्तन आकस्मिक नहीं होना चाहिए, जिससे वह पूर्णतया अविश्वसनीय प्रतीत हो।

चरित्र-चित्रण का महत्व

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है। वे उपन्यासकार की सृष्टि होते हुए भी अपने मानव होने और ईश्वरीय सृष्टि होने का आभास देते हैं। यद्यपि वे मानव की पूर्ण प्रतिकृति नहीं होते। उनमें मानवीयता का, फिर भी, पूर्ण गुण होता है और उपन्यासकार अपने कौशल से उनमें ऐसे गुण भर देता है कि उनसे हमारा निकटतम तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उनके सुख-दुःख हमारे अपने से प्रतीत होते

हैं।[1] पर इसकी विपरीत अवस्था से उपन्यासकार को बचना चाहिए[2] क्योंकि वह उसकी कला के महत्व को न्यून कर उसके उद्देश्य को असफल कर देती है। उसे अपने चरित्रों का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए, जिनसे उनके पूर्णतया सत्य होने का भ्रम प्रतीत हो और पाठक उन्हें दिव्य या अलौकिक अथवा पूर्णतया अविश्वसनीय कहकर टाल न दे। उनमें इतनी यथार्थता का तो आभास होना ही चाहिए कि पुस्तक समाप्त करने के पश्चात् भी वे हमारी चेतना पर छाए रहें। पात्र-निर्माण का यही वस्तुतः सर्वप्रमुख आधार होता है, जिस पर उनकी सफलता-असफलता आधारित रहती है। यहाँ हमें पात्रों के मनोविज्ञान का भी ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक पात्रों का अपना मनोविज्ञान होता है, बिल्कुल वैसे ही, जैसे साधारण मानव जीवन में प्रत्येक व्यक्तियों का। इसी से मानव-मानव के बीच स्वाभाविक मित्रता

---

1 "They lay hold of us by virtue of their substantial quality of life; we know and believe in them as thoroughly, we sympathise with them as deeply, we love and hate them as cordially, as though they belonged to the world of flesh and blood."

—विलियम हेनरी हडसनः एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (जून १९५८), लन्दन, पृष्ठ १४५

2 "The characters in a novel, then, are neither to be unexceptionable, nor completely developed, but a mixture of good and bad, like the characters we know in real life, from self-knowledge or from observation. No doubt each character does best on the whole if he keeps an even tenor, and acts from what one might call the centre of his character. It is not at all the duty of the novelist to show us how much good there is in the worst of us, or how much bad in the best of us····· nevertheless, he has the power in reserve and some extremely striping and moving scenes in fiction do depend on the use of the final resources of a character for good or evil."

—रॉबर्ट लिडिल : ए ट्रीटाइज ऑन द नॉवेल, (१९६०), लन्दन पृष्ठ ९६-९७

स्थापित होती है, और उनका भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व प्रतिध्वनित होता है। जिस प्रकार इस सृष्टि के स्रजनकर्ता (यदि वह सचमुच ही कहीं है!) का मनोविज्ञान उसकी अपनी ही रचना-व्यक्तियों के मनोविज्ञान से भिन्न होता है। उसी प्रकार उपन्यासकार का मनोविज्ञान भी पात्रों के मनोविज्ञान से भिन्न होता है। अत: सिर्फ इसलिए कि पात्र इसकी रचना है, वह उनका निर्माणकर्ता है और वह उन्हें चाहे जिस प्रकार नियंत्रित कर सकता है, उनके व्यक्तिगत मनोविज्ञान में चाहे जिस प्रकार हस्तक्षेप कर सकता है— कुछ और नहीं, उपन्यासकार का अविवेक-पूर्ण दुराग्रह ही होता है। पात्र वास्तव में एक सृष्टि के ही अन्तर्गत दूसरी सृष्टि होते हैं। यदि उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय, तो कदाचित् वे इतनी शक्ति ग्रहण कर लेंगे कि पुस्तक को ही टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। इसके विपरीत यदि उन पर कठोर नियंत्रण रखा जाय तो इसकी उन पर कठोर प्रतिक्रिया होती है और यह तो स्वयं मृत्यु का आलिंगन कर या उसे नष्ट कर वे इसका बदला लेते हैं।[१] प्रसिद्ध उपन्यासकार थैकरे का तो यहाँ तक कहना है कि मैं अपने पात्रों के वश में रहता हूँ। वे मुझे चाहे जहाँ अपनी इच्छानुसार ले जा सकते हैं। मैं उन्हें कभी नियंत्रित नहीं करता। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो यह भी विचारों की अतिरंजना-मात्र है। उसके अनेक पात्रों के सम्बन्ध में अक्सर हमें यह सोचना पड़ता है, "क्या वह ऐसा भी कर सकता है? या क्या उसके अन्दर ऐसे भी विचार छिपे हुए थे?' इसके कारण स्पष्ट हैं। ऐसा

---

1 "The characters arrive when evoked; but full of the spirit of mutiny. For they have these numerous parallels with people like ourselves, they try to live their own lives and are consequently often engaged in treason against the main scheme of the book. They 'run away' they 'get out of hand' : they are creations inside a creation, and often inharmonious towards it; if they are given complete freedom they kick the book to pieces, and if they are kept too sternly in check they revenge themselves by dying destroy it by intestinal decay."

—ई. एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (१९६२), आस्ट्रेलिया पृष्ठ ७४

नियंत्रण न रखने के कारण ही हुआ है। यहाँ नियंत्रण से मेरा तात्पर्य उन सीमाओं से है, जो स्वाभाविकता की रक्षा के लिए अनिवार्य होती हैं। थैकरे इन सीमाओं को भी विस्मरण कर जाता है। वास्तव में पात्रों का एक सन्तुलित रूप ही चित्रित किया जाना चाहिए। वे न तो कल्पनाशील ही हों, न अलौकिक हों, न अविश्वसनीय हों और न अमानवीय, बल्कि प्रत्येक दृष्टि से वे वास्तविक और स्वाभाविक प्रतीत हों।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या उपन्यासकार को अपने पात्रों पर किंचित्मात्र भी नियंत्रण नहीं रखना चाहिए? इसका उत्तर स्पष्ट है। उपन्यासकार का इतना ही कर्तव्य है कि वह पात्रों का स्वरूप निर्धारित कर दे, उन्हें रंग दे दे, उन्हें प्राण दे दे और चरित्रगत विशेषताएँ प्रदान कर दे; बस। इसके अतिरिक्त उसका अपने पात्रों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

जब मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में डी० फिल्० उपाधि के लिए शोध-कार्य कर रहा था, तो मेरे शोध-कार्य के निर्देशक प्रसिद्ध आलोचक और साहित्य-मनीषी आचार्य डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्० का कहना था कि मैं निर्देशन के मामले में कट्टर नहीं हूँ और अपने विद्यार्थियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता हूँ। उनके अनुसार निर्देशक का काम इतना ही है कि वह शोधार्थी के सम्मुख विषय का स्वरूप स्पष्ट कर दे, वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करने के प्रति दिशोन्मुख कर दे और छिपे तौर पर कार्य करते रहने की प्रेरणा दे दे। बस, इसके अतिरिक्त उसे अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं को शोधार्थी के ऊपर जबर्दस्ती लादने का प्रयत्न न करना चाहिए। सस्ते वासनापरक् गीत रचनेवाले, नोट बुक की आलोचनाएँ लिखनेवाले और प्रचारात्मक साहित्य के बोझ के जुए का शिकार बनने-वाले कितने ही गद्दीधारी और प्रचलित ट्रेडमार्क वाले 'आलोचक प्रवर' (या आलोचना-शक्ति-हीन-प्रवर !) कदाचित् डॉ० वार्ष्णेय के इस उपयोगी सुझाव को गले के नीचे बदहजमी और कब्जियत के डर से न उतारें पर वे निश्चय ही आज भारत में अपने ढंग के अकेले शोध-निर्देशक हैं, जो 'रिसर्च' का वास्तविक महत्व समझते और अपने विद्यार्थियों को समझाते हैं। यहाँ यह कहने का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक उपन्यासकार को डॉ० वार्ष्णेय के अनुसार शोध-निर्देशक के समान ही होना चाहिए और अपने पात्रों को

दिशोन्मुख कर उन्हें दृश्य से दूर हटकर उनकी गति-विधियों का निरीक्षण करना चाहिए। उसे अपने पात्रों की रहस्यात्मकता तो खोलकर सबके सामने प्रस्तुत करना चाहिए, पर उन्हें अपने हाथों की कठपुतली न बनाना चाहिए। पात्रों के अन्तर्जगत् में बार-बार अनावश्यक हस्तक्षेप करने से एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और उससे लाभ होने के बजाय हानि ही होती है। पात्रों का स्वरूप स्पष्ट होने के बजाय निरन्तर उलझता ही जाता है। प्रायः देखा जाता है कि अपने पात्रों के विचारों पर उपन्यासकार जबर्दस्ती अधिकार रखना चाहता है। वह उन्हें पग-पग पर निर्देशित करना चाहता है, यह उपन्यासकार की अनधिकार चेष्टा होती है। पात्रों के अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ ही स्वतन्त्र विचार भी होने चाहिए। सत्य तो यह है कि स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र विचार एकनिष्ठ हैं, दोनों का एक दूसरे से परस्पर घनिष्ठ संबंध है। दोनों ही एक दूसरे से अलग करके नहीं रखे जा सकते।

इन परिस्थितियों में, यह सिद्धान्त कि पात्रों का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जाना चाहिए, जिससे वे अपने सम्बन्ध में स्वयं ही कुछ कहते प्रतीत हों, अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है[1] और उसकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। हम पहले भी कह आए हैं कि उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विशेष महत्व होता है। उपन्यास की परिभाषा देते समय ही यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि उपन्यासों का सम्बन्ध प्रमुख रूप से मानव जीवन से ही होता है और यहाँ यह कहने की तो आवश्यकता भी नहीं है कि मानव जीवन में व्यक्तियों का ही महत्व होता है। फिर उसी की अपनी

---

1 "The principle that it is always better that a character should be made to reveal itself than that it should be dissected from the outside, is thoroughly sound; and it is easy to perceive that where dissection is perpetually substituted for self—revelation it is often because the novelist is deficient in true dramatic sense and power."

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (जून १९५८), लन्दन, पृष्ठ १४७-१४८

गाथा उपन्यासों में पात्रों का क्यों न महत्व हो ? सत्य तो यह है कि विना पात्रों के कदाचित् उपन्यासों की कल्पना ही नहीं की जा सकती । कथा चाहे मानव की हो, या पशु-पक्षियों की हो, या किसी की भी हो । उसमें पात्र अनिवार्य रूप से होंगे । पर अभी तक प्रमुखतः मानव जीवन की ही कथा कहने का प्रयत्न किया गया है, इसीलिए अधिकांश पात्र भी मानवीय होते हैं। इन पात्रों का यदि चरित्र-चित्रण कुशलता-पूर्वक न किया जाय, तो ऐसे उपन्यास महत्व-शून्य ही होंगे, जिनमें ये निर्जीव पात्र होंगे ।

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की अनेक विधियाँ हैं । उन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

१ बहिरंग प्रणाली (Objective Method)
२ अन्तरंग प्रणाली (Subjective Method)

वैसे चरित्र-चित्रण की दो पद्धतियाँ और मानी जा सकती हैं—प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक और अप्रत्यक्ष या नाटकीय।[1] पर इन प्रणालियों की विशेषताओं का समावेश सरलता से ऊपर के वर्गीकरण में किया जा सकता है, इसलिए ऊपर के वर्गीकरण को ही स्वीकार करना अधिक सुविधा-जनक होगा ।

बहिरंग प्रणाली

बहिरंग प्रणाली में पात्रों का चरित्र-चित्रण कई पद्धतियों से किया जाता है । प्रथम तो उनके नामकरण इस प्रकार किए जाते हैं, जिससे उनके

1 "... ...The principal thing to remember is that conditions of the novel commonly permit the use of two opposed methods—the direct or analytical, and the indirect or dramatic. In the one case the novelist protrays his characters from the outside,.. .. in the other case, he stands apart, allow his characters to reveal themselves through speech and action and reinforces their self delineation by the comments and judgements of other characters in the story."

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (जून १९५८) लन्दन, पृष्ठ १४६-४७

चरित्र का एक हल्का आभास पहले ही पाठकों को प्राप्त हो जाता है। उपन्यासकार अपने पात्रों का नाम बहुत चुनकर रखता है, जिससे उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट हो सके। कल्याणी, सुजाता, प्रशांत, श्रद्धा, अपराजिता आदि ऐसे ही नाम हैं, जिनसे इन पात्रों की गम्भीरता एवं जीवनगत करुणा का परिचय प्राप्त होता है। दूसरा ढंग यह होता है कि उपन्यासकार अपने ही ओर से अपने पात्रों के सम्बन्ध में सब कुछ कह देता है। वहाँ पाठकों को सोचने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता। पात्रों की अच्छाई-बुराई का विवेचन उपन्यासकार स्वयं ही करता चलता है और अपना निर्णय भी देता चलता है। प्रेमचन्द में तो यह प्रवृत्ति बहुत ही है। एक उदाहरण 'गोदान' से इस प्रकार है : "मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी ही हँसी नहीं है। केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है, और जीए भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हँसती है, इसलिए कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं, उसका चहकना और चमकना इसलिए नहीं है कि वह चहकने और चमकने को ही जीवन समझती है। या उसने अपने निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे, अपने लिए ही करे। नहीं, वह इसलिए चहकती और विनोद करती है कि इससे उसके कर्तव्य का भार कुछ हलका हो जाता है।"[१] केवल इसी अंश में लेखक ने अपने पात्र की सारी विशेषताओं को स्वयं ही खोलकर प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रणाली में व्याख्या एवं विश्लेषण का सारा उत्तरदायित्व स्वयं लेखक पर ही होता है।

पर इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि पात्रों के क्रिया-कलापों में पाठकों का कोई भाग नहीं होता। सारी भूमिका उपन्यासकार को ही निभानी पड़ती है, जिसके कारण उपन्यासों की रोचकता पर तीव्राघात पहुँचता है। यही कारण है कि कुशल उपन्यासकार कलात्मक ढंग से नाटकीय प्रणाली या अन्तरंग प्रणाली पर ही अधिक बल देते हैं।[२] क्योंकि उससे वे उपन्यासों

१ प्रेमचन्द : गोदान (१९३६), बनारस, पृष्ठ २०९-२१०

2 "......The prudent novelist tends to prefer an indirect to direct method. The simple story teller begins by addressing himself openly to the reader, and then exchanges this method for another and another, and with each modification he reaches the reader from a

की रोचकता बराबर बनाए रखते हैं और स्वयं पाठकों को भी विचार-विमर्श एवं सोचने-समझने के लिये आमंत्रित करते हैं।

अंतरंग प्रणाली

वस्तुतः मनुष्य वह नहीं है, जो हम आप उसे देखते हैं, या वह स्वयं ही देखने में लगता है। मनुष्य से भी बलवती होती है उसकी अन्तः प्रेरणाएँ, जो पग-पग पर उसे निर्देशित करती हैं, उसके चरित्र को दिशाएँ देती हैं और उसका निर्माण करती हैं। ये अन्तःप्रेरणाएँ उसके प्रत्येक आचरण, प्रत्येक व्यवहार और प्रत्येक बात के मूल में होती हैं। विना इन अन्तः-प्रेरणाओं को समझे हम कभी भी उस व्यक्ति को भली भाँति नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि मनुष्य का चरित्र उस आइस वर्ग के समान है,[१] जिसका अधिकांश भाग पानी के भीतर रहता है और कुछ ही भाग ऊपर रहता है। बर्फ के उस पूरे भाग को समझने के लिए हमें पानी के भीतर छिपे हुए उस बर्फ के शेष भाग को भी भली भाँति समझना होगा। केवल ऊपरी भाग के आधार पर कोई निर्णय दे देना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा, क्योंकि वह अपूर्ण ज्ञान पर आधारित निर्णय है। उपन्यासकार भी अपने पात्रों के सम्बन्ध में पाठकों को पूर्ण ज्ञान देने के लिए उनकी अन्तःप्रेरणाओं (Internal motives) को स्पष्ट करता है। यही अन्तरंग प्रणाली कहलाती है।

प्रायः व्यक्तियों के सम्मुख उनकी दिशाएं स्पष्ट नहीं रहतीं। वे बराबर इसी उलझन में रहते हैं कि यह करें, या वह करें। इसे लेकर

---

further remove. The more circuitous procedure on the part of the author produces a straighter effect for the reader ; that is why, other things being equal, the more dramatic way is better than the less. It is in lirect, as a method; but it places the things itself in view, instead of recalling and reflecting and picturing it."

—पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९६०), लन्दन, पृष्ठ १४९-५०

१ एच० ए० मरे : एक्सप्लोरेशन्स इन पर्सनलिटी (१९३८), न्यूयार्क, पृष्ठ २४४

उनकी चेतना में बराबर घात-प्रतिघात चला करता है, जिसे हम व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं। उपन्यासकार का कार्य इस अन्तर्द्वन्द्व को भी स्पष्ट करना होता है। इससे पात्रों की आन्तरिक भावनाओं को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। हम अपने जीवन में सोते समय प्रायः स्वप्न भी देखते हैं। फ्रायडवादियों का विश्वास है कि कोई स्वप्न निरर्थक नहीं होता। उनके भी अर्थ होते हैं। इन स्वप्नों से व्यक्ति की मानसिक उथल-पुथल और पूर्णता-अपूर्णता का परिचय प्राप्त होता है। इसलिए उपन्यासकार अपने पात्रों के स्वप्नों का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन एवं चित्रण प्रस्तुत करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्मोहन प्रक्रिया (hypnotism) का भी प्रयोग किया जाता है, जिससे पात्रों के मन में छिपी हुई अनेक भावनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। इलाचन्द्र जोशी के 'जिप्सी' में इसका प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है।

इसी प्रणाली के अन्तर्गत उपन्यासकार अपने पात्रों के चरित्रों को दूसरे पात्रों द्वारा कहे गए कथोपकथनों से स्पष्ट करता है। दूसरे पात्र अपने वार्तालाप में ऐसी बहुत सी बातें करते हैं, जिनसे पात्रों के चरित्रों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और उपन्यासकार को अपनी ओर से कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती। पर जब इसी बहाने कथोपकथन लम्बे-लम्बे और बेडौल हो जाते हैं, तो बजाय नाटकीयता उत्पन्न करने के वे बोझिल से प्रतीत होने लगते हैं। चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए डायरी शैली का भी प्रयोग होता है, जिसमें कोई पात्र अपनी डायरी लिखता चलता है और अपने मनोभावों को स्वयं स्पष्ट करता चलता है। ऐसी बहुत सी बातें, जिन्हें लोक-लाज या ऐसे ही किन्हीं अन्य कारणों से वह दूसरों से नहीं कह सकता और जो उसके मन को बराबर उद्वेलित किए रहते हैं, वह अपनी डायरी के पृष्ठों में लिख डालता है, जिससे उसकी छिपी हुई रहस्यमय भावनाओं का परिचय मिलता है और उनका वास्तविक रूप पहचानने में हम सफल होते हैं। पर कभी-कभी इस प्रणाली के दुरुपयोग से बजाय सफलता के असफलता ही हाथ लगती है, विशेषतया जब डायरी के पृष्ठ मतवाद और सिद्धांत की तंग गली से गुजरते हैं। राजेन्द्र यादव के 'शह और मात' और जैनेन्द्रकुमार के 'जयवर्द्धन' में ऐसा ही हुआ है। इसका सर्वोत्कृष्ट रूप इलाचन्द जोशी के 'लज्जा' के अन्तिम अंशों में हुआ है, जिनमें राजू के

चरित्र की ऐसी अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। जिससे पाठक उसे पढ़ने के पूर्व सर्वथा अपरिचित रहता है। इन्हीं पंक्तियों के लेखक के 'एक और अजनबी' में स्वयं राजेश प्रारम्भ में उपन्यास में नहीं उपस्थित होता, बल्कि पूर्व-स्मृति-पद्धति (Flash-back method) के माध्यम से मीनल उसका चरित्र स्पष्ट करती है। यह पूरा उपन्यास डायरी-शैली में है, जिसे डॉ० प्रकाश की डायरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। बाहर के लोग डॉ० प्रकाश को कुछ और समझते थे, इनकी पूजा करते थे, उन्हें देवता समझते थे, पर कोई जब उनकी डायरी के पृष्ठों को पढ़ता है, तो उसकी आँखें खुली की खुली रह जाती हैं। वास्तव में आदमी दो जिन्दगी जीता है—एक बाहर और एक भीतर। डॉ० प्रकाश बराबर अपने अस्तित्व, अपने अहं और अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा में ही अपरोक्ष रूप से तल्लीन रहे। अतः नाटकीय प्रणाली में डायरी-शैली बड़ी सहायक होती है। पत्रों के प्रयोग से भी इस प्रणाली का विकास होता है और चरित्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया जाता है।

अन्तरंग प्रणाली के प्रयोग से, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उपन्यास की नाटकीयता में अभिवृद्धि होती है, और पाठक को भी कुछ न कुछ सोचने-समझने के लिए विवश होना पड़ता है। दूसरे शब्दों में वे स्वयं भी उपन्यास की घटनाओं में एक प्रकार से भाग लेने लगते हैं। इसकी नाटकीयता के कारण ही इसे सर्वोत्कृष्ट प्रणाली स्वीकार किया गया है। आज जबकि मनोविज्ञान का हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है, हम विना अपने तर्क की कसौटी पर कसे किसी बात को स्वीकार करने को तत्पर नहीं होते, तो ऐसी स्थिति में इस प्रणाली की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। उपन्यासकार जब कहता है कि उसका अमुक पात्र दुश्चरित्र है और ऐसे लोगों का समाज में न होना ही ठीक है, तो एकदम हम उसकी बात पर विश्वास नहीं कर लेते। हम यह पूछना चाहते हैं कि आखिर वह पात्र दुश्चरित्र है तो क्यों? इसके कारण क्या हैं? क्या वह जन्म से ही ऐसा है? अगर नहीं तो किन परिस्थितियों ने उसे ऐसा बनाया? और यदि हाँ, तो उसके अवचेतन मन में ऐसे कौन से भाव थे, जिन्होंने उसके चरित्र का इस प्रकार निर्माण किया। ये सब प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनका उत्तर बहिरंग प्रणाली में उपन्यासकार लाख चाहे, सफ़लता-पूर्वक नहीं दे

सकता। वास्तव में कहीं न कहीं उपन्यास के बीच में छिपे तौर पर उपस्थित होकर अपने पात्रों की रहस्यात्मकता और आन्तरिक प्रवृत्तियों को, बिना उपन्यास की स्वाभाविकता और सहजता पर आघात पहुँचाए, स्पष्ट करना उपन्यासकार के लिए आवश्यक होता है।[1] पर पात्रों के आन्तरिक जीवन में बार-बार अनावश्यक प्रवेश बिना कोई लाभ प्राप्त किए उपन्यास के प्रभाव को नष्ट कर देता है।

कथोपकथन

कथोपकथन का उपन्यास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। यदि उन्हें तर्क-संगत ढंग से एवं कुशलता-पूर्वक संगठित किया जाय, तो वे उपन्यासों के सर्वाधिक रोचक तत्व बन जाते हैं। कथोपकथनों की भावाभिव्यक्ति की नाटकीयता से ही पात्रों के चरित्रों पर सुन्दर ढंग से प्रकाश पड़ता है, उनका व्यक्तित्व पूर्णतया स्पष्ट होता है और पाठकों तथा पात्रों के मध्य निकट संपर्क स्थापित होता है। प्राय: उपन्यास कुछ तो ऐसे लिखे जाते हैं, जिनमें अधिकांश कथा का विस्तार कथोपकथनों के माध्यम से किया जाता है और उसी आधार पर प्राय: कह दिया जाता है कि उपन्यास और नाटकों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत: इतना तो स्पष्ट ही है कि कथोपकथन उपन्यासों में अपना उल्लेखनीय स्थान बना लेते हैं। उपन्यास पढ़ने के पूर्व ऐसे पाठक, जिनका उद्देश्य उपन्यास की केवल साहित्यिक आलोचना करना नहीं होता

---

1 "And it may be that the story can be kept in this condition while it is written, and that the completed book will be nothing but an account of things seen from the point of view of the author, standing out side the action, without and divulging of anybody's thought. But this is rare; such restraint is burden-some, unless in a very compact and straightforward tale. Somewhere the author must break into the privacy of his charaeters and open their minds to us."

—पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९६०), लन्दन, पृष्ठ ७४

और जो उपन्यासों को मनोरंजन मात्र के लिए पढ़ते हैं, प्रायः उपन्यास के दो-चार पृष्ठ पलटकर सरसरी दृष्टि से इस बात का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते हैं कि यह उपन्यास उन्हें रुचिकर प्रतीत होगा या नहीं और उन्हें इसे पढ़ना प्रारम्भ करना चाहिए या नहीं। ऐसी अवस्था में यदि कथोपकथन कुशलता-पूर्वक संयोजित न हुए तो उसकी रुचि न्यून हो जायगी और वह उपन्यास को एक ओर फेंक देगा। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि केवल कथोपकथनों के माध्यम पर उपन्यास का मूल्यांकन करना कहाँ तक उचित है। उपन्यास में और भी तो तत्व हैं ? कथानक, चरित्र-चित्रण, पात्रों का विकास, विचार एवं उद्देश्य, भाषा तथा शैली तथा स्वयं लेखक का अपना जीवन-दर्शन—इन सबके आधार पर भी तो उपन्यास का वास्तविक मूल्यांकन होना चाहिए, और सामूहिक तत्वों के इस मूल्यांकन में कथोपकथनों के महत्व का भी समावेश होना चाहिए। यह सत्य है और तर्क-संगत है, पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसे पाठकों की जो उपन्यास को केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं, और जिनकी प्रवृत्ति उपन्यास के साहित्यिक मूल्यान्वेषण की बिलकुल नहीं होती, संख्या अधिक होती है, और निश्चित रूप से उपन्यास पढ़ना प्रारम्भ करने के पूर्व वे उपन्यास और अपनी व्यक्तिगत रुचि में मेल बैठाना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में कथोपकथन ही सामने आते हैं।

यहाँ कथोपकथनों के उद्देश्य पर भी विचार कर लेना उचित होगा। कुशल उपन्यासकार कथोपकथन के माध्यम से कथानक का विकास करता है, इससे कथानक में नाटकीयता एवं सजीवता की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही औपन्यासिक शिल्प का श्रेष्ठ रूप सामने उपस्थित होता है। पर श्रेष्ठ शिल्प अनुकरण के लोभ में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अनर्थक कथोपकथन के प्रयोग एवं केवल कथोपकथनों पर ही कथानक के विकास का इतना उत्तरदायित्व डाल देना कि वे नितान्त बोझिल से जान पड़ें, कभी भी तर्क-संगत एवं प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। कथानक के विकास में कथोपकथनों का प्रायः प्रयोग किया जाना चाहिए, पर उसे ही साधन नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि कथोपकथनों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पात्रों से, उनके परस्पर संभाषण एवं चरित्र-विकास से होता है। अतः पात्रों के चारित्रिक विकास के माध्यम के रूप में कथोपकथनों का दूसरा उद्देश्य स्पष्ट किया जा सकता है। पात्रों की

भावनाओं, अनुभवों, उद्देश्यों, उस घटना प्रक्रिया में, जिसमें कि वे पात्र भाग ले रहे हैं, उनकी प्रतिक्रियाएँ जानने में और दूसरों के ऊपर वे अपने व्यक्तित्व एवं चरित्र तथा क्रिया-कलापों से कितना प्रभाव डाल रहे हैं, यह जानने में कथोपकथनों का अत्यन्त महत्व है। एक कुशल उपन्यासकार, जिसमें कलात्मक अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता एवं परिस्थितियों की यथार्थता एवं अनुभूतियों की गहनता की पकड़ है, कथोपकथनों के माध्यम से ही विश्लेषण एवं विवरण देने का भी कार्य करता है।[1] अतः पात्रों द्वारा जिस कथोपकथन का प्रयोग होता है, उससे उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पर्याप्त अनुमान लगाया जा सकता है, साथ ही उपन्यास की परिस्थितियों, उसकी जटिलताओं, पात्रों के रहस्यमय अन्तर्द्वन्द्वों आदि की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए कथोपकथनों द्वारा ही उद्देश्य की नाटकीय ढंग से पूर्ति होती है। कथोपकथनों का एक तीसरा उद्देश्य भी होता है। वह यह कि इन्हीं के माध्यम से लेखक अपने उद्देश्य एवं विचार तथा जीवन-दर्शन को भी स्पष्ट करता चलता है। पूर्व-प्रेमचन्द-काल में इस कार्य के लिए लेखक स्वयं बीच में आ टपकता था और "तो हे पाठक-गण!" के सम्बोधन से नैतिकता, आदर्शवादिता आदि के भाषण देना प्रारम्भ कर देता था। प्रेमचन्द-काल में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान रही, हालाँकि उसका स्वरूप भिन्न था। नैतिक उक्तियाँ इस काल में भी कही जाती थीं, किन्तु "तो हे पाठकगण" के सम्बोधन के साथ नहीं, वरन् थोड़े और कौशल के साथ। पर पाठकों को यह समझते देर नहीं लगती थी कि यह लेखक ही है, और किसी पात्र के व्यक्तित्व एवं कथानक से इन उक्तियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। उत्तर-प्रेमचन्द-काल में, जबकि औपन्यासिक शिल्प का और भी विकास हो गया, तो कथोपकथनों के माध्यम से ही लेखक अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करने लगा।

---

1 "Where this can be done naturally and effectively, the gain....is considerable. Even where the analytical method is freely used, dialogue will prove of constant service as a vivifying supplement to it."
— विलियम हेनरी हडसन : इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (मार्च १९६०), लन्दन, पृष्ठ १५४

कथोपकथन की अनेक विशेषताएँ होती हैं। कथोपकथन की अनुकूलता एवं सार्थकता मुख्य विशेषता होती है। जिस प्रकार का घटना-प्रसंग हो, जैसा वातावरण हो, वैसे ही कथोपकथनों का प्रयोग होना चाहिए। दुःखपूर्ण वातावरण में हास्यरस की सृष्टि करने वाले कथोपकथनों की अवतारण हास्यास्पद एवं असंगत होगी। वास्तव में कथोपकथनों को कथावस्तु से ऐसे घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होना चाहिए कि वह उसका एक अनुपेक्षणीय सार्थक अंग प्रतीत हो। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, दोनों ही रूपों से कथोपकथनों को कथानक का विकास करना चाहिए और पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए उनके चरित्र के सम्बन्ध में गोपनीय तत्वों का रहस्योद्घाटन करना चाहिए, जिससे पात्रों के सम्बन्ध में पाठकों की छिपी हुई जिज्ञासाएँ शान्त हो सकें और पाठक उनसे पूर्णरूप से परिचित हो सके। साथ ही पाठकों और पात्रों के मध्य कोई व्यवधान न रह जाय। ऐसी ही स्थिति में पाठकों का पात्रों से निकट तादात्म्य स्थापित हो सकेगा और उपन्यास की स्वाभाविकता में वृद्धि हो सकेगी। पर जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, कथोपकथनों को सप्रयत्न नहीं अपितु स्वाभाविक रूप में आने चाहिए, जिससे वे सार्थक प्रतीत हों। ऐसे कथोपकथनों का कभी भी और किसी भी सामान्य अथवा असामान्य परिस्थितियों में प्रयोग नहीं होना चाहिए, जिनका न तो कथानक के विकास में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से कोई सम्बन्ध है, और न ही वे पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट कर उनके चरित्र को प्रकाशित करने में सक्षम हैं। ऐसे अनर्थक सारहीन कथोपकथन, चाहे वे जितने ही रोचक, विचारोत्तेजक एवं कुशलता-पूर्वक उपस्थित किए गए क्यों न हों, उपन्यासों की कलात्मकता को न्यून कर उसे बोझिल बना देते हैं। उपन्यासों की एकता के मूलभूत नियम (Fundamental law of unity) को ऐसे कथोपकथन खंडित करते हैं। राजनीति, समाज, साहित्य, विज्ञान एवं कला पर ऐसे बहुत से अनर्थक कथोपकथन प्रेमचन्द, यशपाल, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव आदि के उपन्यासों में भरे पड़े हैं, जिनके कारण उनके उपन्यासों की रोचकता बहुत कुछ न्यून हो जाती है। यहाँ एक उदाहरण मोहन राकेश-कृत 'अंधेरे बन्द कमरे' (१९६१) से प्रस्तुत है —

"जीवन भार्गव माथे पर त्योरियाँ डाले उसकी तरफ देखता रहता और कभी-कभी बीच में बोल पड़ता, मैं नहीं समझता कि जो कला यथार्थ की

नकल है उसमें कलाकार की आत्मा किस तरह आ सकती है ? यथार्थ यथार्थ है और अपने असली रूप में कला की अपेक्षा कहीं अधिक सजीव है। भार्गव के स्वर से लगता जैसे वह अपने पर लगाए गए किसी अभियोग का उत्तर दे रहा हो। कैन्वस पर बनाया गया कोई पेड़ उतना सजीव नहीं हो सकता, जितना हवा में लहलहाता हुआ पेड़। कलाकार की अन्तरात्मा तो उन एब्सट्रैक्ट रूपों में ही अभिव्यक्त हो सकती है, जो यथार्थ से हटकर है और जिनकी वस्तु-कृति कलाकार की आत्मा में एक अनुभूति के रूप में ही होती है, उसके बाहर नहीं। उस एब्सट्रैक्ट अनुभूति को बाह्य आकार देने के लिए ही कलाकार प्रयोग करता है। वे वास्तव में लकीरों के प्रयोग नहीं होते, कला के सन्तुलन में एक ऐसी सचाई को पकड़ने के प्रयोग होते हैं, जो कि हमारे प्रत्यक्ष अनुभवों से कहीं गहरी और कहीं श्रेष्ठ होती है।"[1]

इस कथोपकथन में चाहे जितनी सत्यता हो, विचारोत्तेजना हो एवं कौशल हो, पर 'अंधेरे बन्द कमरे' में मधुसूदन भार्गव की कथा, या नीलिमा-हरबंस और शुक्ला की मुख्य कथा के विकास में इसका कोई महत्व नहीं है। स्वयं जीवन भार्गव का ही उपन्यास में अत्यन्त गौण स्थान है और उस सन्दर्भ में भी इस कथोपकथन की सार्थकता सन्दिग्ध है। उपन्यासकार को इस प्रकार के कथोपकथनों से बचना चाहिए। इस प्रकार के कथोपकथन, जो कथानक के विकास में नितान्त रूप से भी सहायक नहीं होते, का प्रयोग तभी होना चाहिए, जब वे किसी पात्र के चरित्र को प्रकाशित करने में सहायक हों[2] और उन्हें स्पष्ट करते हों।

संक्षिप्तता कथोपकथन की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता होती है। संक्षिप्त व्यंग्यात्मक, सार्थक और भावाभिव्यक्ति से पूर्ण कथानक रोचक माने जाते

---

१ मोहन राकेश : अंधेरे बन्द कमरे (१९६१), दिल्ली, पृष्ठ ७१

2 "Conversation extended beyond the actual needs of the plot is to be justified only when it has a distinct significance in the exposition of the character."

– विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (लन्दन), पृष्ठ १५५

हैं। प्रायः पूर्व प्रेमचन्द और प्रेमचन्द-काल में कथोपकथन-सम्बन्धी इन विशेषताओं का बिल्कुल ही ध्यान नहीं रखा गया। फलस्वरूप उपन्यासों में लम्बे-लम्बे, यहाँ तक कि दो-दो पृष्ठों से भी अधिक लम्बे कथोपकथन प्राप्त होते हैं। प्राय: होता यह है कि पाठक इन लम्बे कथोपकथनों को छोड़कर आगे बढ़ जाता है, क्योंकि ये मन को उबा देनेवाले होते हैं। साथ ही पाठक यह भी जानता है कि इन दो-तीन पृष्ठों को छोड़ देने से भी कथानक की सम्बद्धता पर कोई आँच नहीं आएगी और वह कथानक को दो-तीन पृष्ठ पहले जहाँ छोड़ चुका है, दो-तीन पृष्ठ पश्चात् भी कथानक उसे वहीं का वहीं मिलेगा। प्रेमचन्द में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक थी। बाद में यशपाल, अश्क आदि भी इस प्रवृत्ति को पूर्णतया छोड़ नहीं सके, और लम्बे-लम्बे उबा देनेवाले कथोपकथनों का सृजन करते रहे। जैनेन्द्र ने अपने कथोपकथनों की संक्षिप्तता पर विशेष ध्यान रखा है और नागार्जुन, अज्ञेय आदि ने उसे और भी कुशलता से प्रस्तुत किया है। संक्षिप्त कथोपकथन का एक उदाहरण इन पंक्तियों के लेखक के उपन्यास 'एक और अजनवी' से प्रस्तुत है—

"एक कोने में छोटा-सा ट्रंक रखा हुआ था। कमरे की दीवारें सादी थीं। एक पर दो चित्र लगे हुये थे–एक स्वामी विवेकानन्द का, दूसरा गांधीजी का। मैं सोच रहा था—क्या यह ज़िन्दगी है ? नहीं, शायद तपस्या। पर कैसी तपस्या ? और क्यों ? देखने में मीनल की उम्र सत्ताईस से अधिक नहीं थी। फिर यह सब ? कहीं उसके मन में क्लेश है। उसके भीतर कोई दीवाल है, जो टूटे नहीं टूटती। पर यह उम्र, और इतनी कठिनता।⋯ ⋯मीनल शायद मेरे सोचने को पा गई थी। बोली मैं सादगी में विश्वास करती हूँ।

—वह तो मैं देख ही रहा हूँ।

—क्या ?

—यह सादगी।

—और कुछ नहीं ?

—हूं⋯⋯आं⋯⋯यहाँ तुम अकेली ही रहती हो ?

—बिल्कुल अकेली।

—तुम्हारा कोई⋯⋯नातेदार-रिश्तेदार⋯⋯

—मैं अकेली हूँ। दुनिया में मेरा कोई नहीं है।

मैं इस पर थोड़ा सकुच आया। विस्फारित-सा उसे देखते हुए बोला—तो तुम्हारा जीव! यहाँ अकेला है ?

—न, अकेला नहीं है।

मैंने थोड़ा आश्वस्त होकर कहा—कोई है न ?

—हाँ साथ में मेरी दो सहेलियाँ हैं। एक मेरी कथा, दूसरी मेरी खामोश तनहाइयाँ।"[1]

यहाँ कथोपकथन की संक्षिप्तता के साथ डॉ० प्रकाश और मीनल के बीच होनेवाले संभाषण में परस्पर उदासीनता से पात्रों की मन: स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है, साथ ही मीनल के जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक सत्य उद्घाटित होते हैं। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि संक्षिप्त कथोपकथन, पर भावाभिव्यक्ति से पूर्ण, अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि कथोपकथन को उद्देश्यपूर्ण होना चाहिए। कथोपकथन को स्वाभाविक होना चाहिए एवं अनुकूलता एवं उपयुक्तता से पूर्ण होना चाहिए। कथोपकथन में पर्याप्त सम्बद्धता होनी चाहिए। कथोपकथन को नाटकीय होना चाहिए।

वातावरण

वातावरण का अभिप्राय किसी देश, समाज एवं जाति के आचार-विचार, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण है। उपन्यास में किसी विशेष देश, समाज एवं जाति को ही वातावरण के रूप में उपस्थित किया जाता है और उस देश, समाज या जाति की समस्त विशेषताएँ चित्रित की जाती हैं, इससे उपन्यास की स्वाभाविकता एवं सत्यता की अभिवृद्धि होती है। यहाँ तक कि उस देश की प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन भी औपन्यासिक कौशल के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार वातावरण की अनेक विशेषताएँ होती हैं, जिनका पालन करना उपन्यासकार के लिये उपन्यास की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए अनिवार्य सा हो जाता है। वातावरण में यथार्थता का रंग होना चाहिए। यदि धार्मिक काल का वातावरण हो, तो उसी काल से सम्बन्धित

१ सुरेश सिनहा : **एक और अजनबी**, (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ७१

सामाजिक परिस्थिति, सांस्कृतिक परिस्थिति, भाषा, धर्म, एवं रीति-रिवाजों का चित्रण होना अनिवार्य होता है। धार्मिक कालीन वातावरण में किसी पात्र का घड़ी लगाए रहना या मोजे और जूते पहनना, साइकिल या कार की सवारी करना या किसी वैज्ञानिक की परिकल्पना कर उसकी प्रयोगशाला का चित्रण करना हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार ऐतिहासिक वातावरण में भी यथार्थता की रक्षा आवश्यक होती है। वातावरण की दूसरी विशेषता उपन्यासों के माध्यम से कलात्मक कौशल से पूरे युग का इतिहास प्रस्तुत कर देना है। प्रायः उपन्यासकार अपने औपन्यासिक कौशल से युग, समाज एवं जाति विशेष कर ऐसा सजीव वातावरण उत्पन्न कर देता है कि उस युग, समाज या जाति का पूर्ण इतिहास उपन्यासों के साँचे में ढलकर पाठकों की आँखों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है, और सबसे बड़ी बात तो यह होती है कि इतिहास होते हुए भी वह विवरण इतिहास न होकर सामाजिक, राजनीतिक, या ऐतिहासिक उपन्यास ही होता है। वस्तुतः यह भ्रम उपन्यासकार के औपन्यासिक कौशल द्वारा वातावरण उपस्थित करने की कलात्मकता के कारण ही होता है।

वातावरण के दो रूप होते हैं—सामाजिक और भौतिक। सामाजिक वातावरण। कथावस्तु की प्रभावशीलता को गहन रूप प्रदान करने एवं प्रभावग्राहिता की अभिवृद्धि के लिए सामाजिक वातावरण का उपयोग किया जाता है। आज के उपन्यासकारों की प्रवृत्ति यह है कि वे अपने उपन्यासों में अत्यन्त व्यापक परिवेश को आबद्ध करना चाहते हैं और युगजीवन एवं समाज की लगभग सभी समस्याओं पर अपना विचार प्रकट करने के लिए तत्सम्बन्धित सामाजिक वातावरण की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गबन', 'गोदान',; यशपाल कृत 'झूठा सच', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'शहर में घूमता आईना', 'गर्मराख' 'गिरती दीवारें',; राजेन्द्र यादव कृत 'उखड़े हुए लोग',; मोहन राकेश कृत 'अन्धेरे बन्द कमरे' तथा मन्नू भण्डारी एवं राजेन्द्र यादव कृत 'एक इंच मुस्कान' 'बलवन्त सिंह कृत 'काले कोस'; मनहर चौहान कृत 'रात खो गई', हिरना सांवरी; कमलेश्वर कृत 'लौटे हुए मुसाफिर' तथा 'डाक बंगला' आदि उपन्यासों में लक्षित होती है। इस प्रकार समुद्री एवं सैनिक जीवन, उच्च-वर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, औद्योगिक जीवन, व्यावसायिक जीवन, कलात्मक

जीवन, क्लर्की जीवन और जीवन के अन्य रूपों के अनेक उपन्यास प्राप्त होते हैं। स्थानीय चरित्रों को प्रस्तुत करने के लिए भी सामाजिक वातावरण का सृजन किया जाता है। इन स्थानीय पात्रों को या तो वहाँ के प्राकृतिक परिवेश में प्रस्तुत किया जाता है या कभी-कभी उसकी विचित्रताएँ उसे दूसरे कन्ट्रास्ट वाले परिवेश में चित्रित किया जाता है। चाहे जो भी पद्धति अपनाई जाय, यदि उनमें मानव जीवन के विचित्र चरण चित्रित किये जाते हैं, उनमें चरित्र-चित्रण एवं सामाजिक वातावरण को घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया जाता है और प्रत्येक तत्व को एक दूसरे के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों में रखकर ही उन पर विचार किया जाना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही यह तथ्य भी सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि बहुत से महान् औपन्यासिक कृतियाँ केवल इसीलिए आकर्षक प्रतीत होती हैं और उनका साहित्यक मूल्य इसीलिए उच्च स्तर पर आंका जाता है, क्योंकि उनमें विशेष वर्गों, सामाजिक संगठनों और स्थानों के जीवन एवं घटनाओं का कलात्मक चित्रण सघन अनुभूतियों का साथ किया जाता है। इस प्रकार उपन्यासकारों के कार्य का मूल्यांकन उनके चित्रण की उपयुक्तता और प्रभावान्विति की शक्ति के सन्दर्भ में करना चाहिए। यही सिद्धान्त ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में लागू होते हैं, जिनमें कथानक एवं पात्रों की नाटकीय रुचि तथा किसी विशेष युग की सभ्यता एवं संस्कृति, लोक-व्यवहार, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के विशद चित्रण का परस्पर समन्वय होता है।

भौतिक वातावरण पात्रों की मानसिक परिवर्तनशीलता के स्पष्टी-करण के लिए प्रयोग में सिरजा जाता है। प्रत्येक पाठक ऐसे उपन्यासकारों में अन्तर से परिचित है जो जैनेन्द्र की भाँति अपने दृश्यों के प्रति प्रायः उदासीन से रहते हैं और दूसरे प्रेमचन्द या वृन्दावनलाल वर्मा की भाँति जो सड़कों, मकानों, गलियों, मकान के भीतरी भागों की छोटी-छोटी बातों का विवरण प्रस्तुत करने में विशेष सावधानी का पालन करते हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित करना अपेक्षित है। उपन्यासकार प्रकृति का वर्णन उसी रूप में कर सकता है, जिस रूप में एक लैन्डस्केप पेन्टर अपनी शक्ति के अनुसार करता है। परन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि एक भावुक कवि की भाँति वह प्रकृति का वर्णन अनेक ढंग से कर सकता है।

या तो वह प्रकृति का वर्णन इस रूप में करे कि उसके मानव जीवन से सम्बन्धित नाटक से कोई सम्पर्क न रहे और वह चित्रण वास्तव में प्रकृति के यथार्थ चित्रण हों। दूसरे वह इस प्रकृति चित्रण को उद्दीपन रूप में रखकर मानव जीवन से सम्बन्धित नाटक में समाविष्ट कर दे और कन्ट्रास्ट में रखकर विभिन्न चित्रों को प्रस्तुत करे। वह यह प्रकृति चित्रण अपने पात्रों या उनकी परिस्थितियों से सहानुभूति के रूप में भी प्रस्तुत कर सकता है। प्रेमचन्द के 'गोदान' में गर्मी की उतप्त दुपहरिया, चिलचिलाती धूप का वर्णन और होरी की मृत्यु दोनों ही कन्ट्रास्ट के रूप में उपस्थित किए गए हैं, इसीलिए वह चित्रण इतना संवेदनाजन्य बन पड़ा है। इस प्रकार सहानुभूतिपूर्ण चित्रण का स्थिति में नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए प्रकृति का उपयोग एक परिचित प्रतीक बन गया है।

इस विवेचन के पश्चात् वातावरण की विशेषताएं संक्षेप में स्पष्ट की जा सकती हैं। वातावरण की यथार्थता उपन्यास की स्वाभाविकता की वृद्धि करती है। वातावरण की प्रभावपूर्ण सृष्टि औपन्यासिक सहानुभूति एवं संवेदना उत्पन्न करने में सफल होती है। वातावरण का विवेकपूर्ण एवं ज्ञान आवश्यकता से परिपूर्ण सृजन किसी युग विशेष की पूर्ण झाँकी आँखों के सामने उपस्थित करने में समर्थ होती है। वातावरण की सृष्टि से पात्रों के चरित्र एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। वातावरण की सजीवता एवं सशक्तता उपन्यासों की भी सजीवता एवं सशक्तता होती है।

वातावरण की स्थानीयता (Local colour) से अभिप्राय वातावरण में उन तत्वों के समावेश से होता है जो किसी स्थान विशेष की सारी बातों का विवरण प्रस्तुत करती है। उसे दूसरे शब्दों में आंचलिकता भी कहा जा सकता है। उस स्थान-विशेष की भाषा, संस्कृति, लोक-व्यवहार, मुहावरे आदि का प्रयोग एवं सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण इस स्थानीयता की रक्षा के लिए किया जाता है। आंचलिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों में इस स्थानीयता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। कहा जा सकता है कि उपन्यास को किसी स्थान-विशेष की आंचलिकता की सीमाओं में बाँध देने से उसमें सीमितता आ जाती है और उसकी व्यापकता समाप्त हो जाती है। इस आधार पर वातावरण की स्थानीयता एवं आंचलिकता की आलोचना भी की गई है। पर यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि भोंडे

विडम्बना-पूर्ण चित्रण वाले उपन्यासों का कोई मूल्य नहीं होता। जिस स्थान-विशेष की पृष्ठभूमि बनाकर उपन्यास की रचना होती है, वहाँ की बातों को लेकर उपन्यास में यदि स्वाभाविकता का रंग नहीं भरा गया तो वह उपन्यास उस बेपेंदी के लोटे के समान होता है, जिसे चाहे जहाँ लुढ़काया जा सकता है। अज्ञेय के प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' का मनोविश्लेषणात्मक शैली एवं शैलीगत नवीनता के कारण चाहे जो महत्व हो और हिन्दी उपन्यास-साहित्य में वह चाहे जिस सम्मान-पद का अधिकारी हो, उसमें वातावरण की स्थानीयता की भीषण दुर्बलताएँ हैं। शेखर में भारतीय रक्त नहीं प्रवाहित होता और न वह भारतीय मिट्टी का ही बना प्रतीत होता है। वह जर्मनी का भी हो सकता है, फ्रांस का भी। वह अमरीकी भी हो सकता है, रूसी भी। इस उपन्यास के वातावरण को किसी भी देश के वातावरण की संगति में बैठकर देखा एवं परखा जा सकता है। शेखर, जिसकी रचना की प्रेरणा कदाचित् रोम्या रोलां के ज्यॉ क्रिस्तफ से ली गई है, ज्यॉ क्रिस्तफ की तरह अपनी देश की मिट्टी का नहीं है। अतः वातावरण में स्थानीयता का ध्यान रखना प्रायः आवश्यक-सा है।

अब अन्तिम बात रह जाती है—वातावरण के प्रस्तुतीकरण की सीमाएँ। वातावरण प्रस्तुत करते समय सदैव ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका मानव जीवन से सम्बन्धित नाटक से पूर्ण मेल और संगति होनी चाहिए। ऐसा न हो कि यदि उपन्यासकार प्रकृति चित्रण करना प्रारम्भ करे तो उपन्यास के कथानक का वह कोई ध्यान ही न रखे और पृष्ठ के पृष्ठ प्रकृति-वर्णन में ही रंगता जाय। वास्तव में वातावरण की सजीवता एवं स्वाभाविकता के लिए आवश्यक है कि वह सन्तुलित और समन्वित हो। वातावरण का ढंग अत्यन्त रोचक ढंग से होना चाहिए। उपन्यासकार को अपनी कुशल एवं सूक्ष्म दृष्टि से इन्हीं बातों को चुनना चाहिए जिससे वातावरण की यथार्थता भी आभासित हो सके और रोचकता एवं उत्सुकता भी बनी रह सके, जिसमें पाठकों का मन रमा रहे।

जीवन दर्शन

जीवन-दर्शन को हम उपन्यासकार के विचार एवं उद्देश्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। रीति परम्परा के आचार्यों के मतानुसार रस एवं आनन्द की उपलब्धि और उसका साधारणीकरण रसोद्रेक की मात्रा में

पाठकों तक पहुँचना ही साहित्य का उद्देश्य होता है और प्रत्येक लेखक को अपने साहित्य-सृजन में इसका अनिवार्यता के साथ पालन करना चाहिए। आधुनिक युग में कदाचित् इन मान्यताओं को न स्वीकार किया जायगा और निश्चित रूप से आज का साहित्यकार परिवर्तित परिस्थितियों में रीति आचार्यों की इन मान्यताओं को अस्वीकृत कर देगा। आधुनिक उपन्यासों के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। उपन्यास की अन्तिम परिणति रसोपलब्धि या आनन्दतत्व की प्राप्ति में हो, दूसरे शब्दों में उपन्यास केवल मनोरंजन के साधन हैं, इसलिए उनसे निश्चिय ही आनन्द एवं रस की प्रतीति होनी चाहिए—इन रूढ़ एवं संकुचित सीमाओं में उपन्यास को नहीं बाँधा जा सकता। नाटकों की भाँति उपन्यासों का भी प्रत्यक्षत: सम्बन्ध मानव-जीवन से होता है। समाज के पुरुषों एवं नारियों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों, उनके विचार एवं अनुभवों, दृढ़ इच्छाओं एवं उद्देश्यों, जिनसे वे जीवन में निर्देशित एवं गतिशील होते हैं, उनकी पीड़ाओं, सुखों, संघर्षों, असफलताओं एवं प्राप्त उपलब्धियों से होता है।[1] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उपन्यास ही मानव-जीवन है और मानव-जीवन ही उपन्यास है। उपन्यासकार मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को एक या विभिन्न शैलियों के माध्यम से उपन्यास में चित्रण करता है। ऐसी परिस्थितियों में इसके लिए यह कठिन ही नहीं प्राय: असम्भव सा है कि वह इन विविध जीवन पक्षों की अवहेलना करे या जीवन सत्य की गतिशीलता के प्रति कोई निर्देशन न दे या उन अनुभवों को उपन्यास के माध्यम से न उपस्थित करे जो उसने स्वयं प्रत्यक्षत: यह जीवन जीकर प्राप्त किया है। वर्ग वैषम्य, साधारण मानव-जीवन की कुंठाएँ एवं अतृप्त वासनाएँ तथा कामनाएँ, आर्थिक विषमताएँ, मध्यवर्ग का

1 "like the drama, the novel is concerned directly with life—with men and women, and their relationships, with the thoughts and feelings, the passions and motives by which they are governed and impelled, with their joys and sorrows, their strugles, succeses, failures."

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आँव लिट्रेचर (लन्दन), पृष्ठ १६३

शोषण, पूंजीवाद की असमानताएँ आदि ऐसी ज्वलन्त सामाजिक समस्याएं हैं, जिनसे उपन्यासकार का प्रभावित होना स्वाभाविक है, और इनके कड़वे मीठे अनुभवों से वह अपने कुछ निष्कर्ष निकालता है और विचार एवं उद्देश्य निर्मित करता है जिसे हम उपन्यासकार का जीवन दर्शन की संज्ञा दे सकते हैं।

किन्तु यहाँ एक विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए। उपन्यास प्रचार एवं सिद्धान्त-प्रतिपादक के सुलभ साधन होने के कारण सिद्धान्त प्रतिपादकों एवं प्रचारकों द्वारा अपना लिए गए हैं।[1] वे इसे समाज की कुरीतियों की आलोचना, यथार्थता से परिपूर्ण चित्रों एवं कथानकों के माध्यम से सामाजिक समाज पर प्रहार करने के लिए असीमित साधन के रूप में ही करते हैं। हांलाकि कहा गया है कि यह सत्य के निकट है कि कला का सृजन प्रचार के अभाव में नहीं हो सकता।[2] परन्तु असीमित साधन के परिप्रेक्ष्य में भ्रान्तिपूर्ण भावना के शिकार होकर उपन्यास को जब राजनीतिक धारणाओं एवं विशेष मतवादों के प्रचार एवं प्रसार का साधन बना लिया जाता है, तो साहित्य की सहजता समाप्त हो जाती है। राजनीति उस बन्धन के समान होती है जो साहित्य की सीमाओं को कठोरता से आबद्ध कर देती है,[3] और छह महीने से भी कम समय में वे पतन के गति में

1 "Theory mongers and satirists siezed upon the novel as a means of propagating ideas, and realizing the almost limitless possibilities of using it as a vehicle for social criticism, combined story and realistic characterisation with attacks on the foundations of contemporary society."

—एस० डायना नील : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवेल, (१९५१), लन्दन, पृष्ठ २०५

2 "It is probably near the truth to say that art cannot exist without propaganda, that the lack of formulated belief will lead to sterlity or at the best a literature of mindless sensation."

—पी० एच० नेवबी : द नॉवेल, (१९५१), लन्दन, पृष्ठ ११

3 "politics is a stone tied to the neck of literature which sinks it in less than six months."

—रॉबर्ट लिडिल : ए ट्रीटाइज ऑन द नॉवेल, (१९६०), लन्दन, पृष्ट १०८

डूब जाते हैं। विचार एवं उद्देश्यों तथा जीवन दर्शन का यह अभिप्राय नहीं है कि उन्हें उपन्यासों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उपन्यास पूर्णतया बोझिल से प्रतीत हों और उनकी सहजता एवं प्रवाहमयता समाप्त हो जाय। उपन्यासों में जीवन दर्शन इस प्रकार प्रस्तुत होना चाहिए कि उपन्यास समाप्त करने के पश्चात् पाठक स्वयं ही यह निष्कर्ष निकाले कि वस्तुत: लेखक इतने सारे पृष्ठों में क्या कहना चाहता था और लेखक के विचार एवं उद्देश्य क्या हैं ? वास्तव में वह कलात्मक ऊँचाई की बात है।

प्रश्न उठता है कि क्या उपन्यासों की रचना बिना उपन्यास के जीवन-दर्शन के नहीं हो सकती ? उनमें क्या किसी विचार एवं उद्देश्य का होना अनिवार्य है ? इसका उत्तर भी प्रश्न उठाने वाले स्वयं ही दे सकते हैं। वे कह सकते हैं, आज ऐसे तमाम उपन्यास लिखे जा रहे हैं और लिखे जा चुके हैं, जिनमें उपन्यासकार का न कोई जीवन-दर्शन है, न कोई विचार या उद्देश्य ही होता है, फिर भी वे 'उपन्यास' हैं, उन्हें पढ़ने में बड़ा 'आनन्द' प्राप्त होता है। ऐसा प्रश्न करने वाले और उनका उत्तर देने वाले—दोनों पर ही ऐसी स्थिति पर कम से कम मुझे तरस आएगा। यहाँ तथ्य उल्लेखनीय है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन-दर्शन होता है। यहाँ तक कि एक रिक्शा चालक और भिखारी भी जीवन के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ सोचते हैं और उनके सोचने की निश्चय ही कुछ उपलब्धियाँ होती हैं। उनकी ये उपलब्धियाँ ही उनका जीवन दर्शन हैं। यह दूसरी बात है कि उनमें इतनी बौद्धिक प्रतिभा और अध्ययनशीलता तथा ज्ञान-पिपासा की प्यास शांत करने की तीव्रता नहीं होती कि वे अपने जीवन दर्शन को पुष्ट करने एवं उच्च स्तर पर ले जाने का प्रयत्न करें। पर इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ जीवन दर्शन होता है। जब मानव-जीवन में जीवन दर्शन का इतना उल्लेखनीय स्थान होता है तो फिर उपन्यासों से उसे बहिष्कृत कैसे किया जा सकता है और उस अवस्था में उपन्यास को मानव जीवन की प्रतिकृति के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? यह विवाद ही सार-हीन है, अत: इसे यहीं छोड़ें। महान् उपन्यासकार सदैव ही जीवन एवं जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में मनन चिंतन करते रहते हैं और उनसे अपने निष्कर्ष निकालते रहते हैं। वे जीवन के निकट पर्यवेक्षक होते हैं और उनकी चेतना में उस जीवन से सम्बन्धित

जीवन-दर्शन निर्मित होता रहता है। वह देखता है कि मानवजीवन में कितनी विषमताएँ हैं। लोग पूँजीवाद के नीचे दबते जा रहे हैं। पारिवारिक व्यवस्था टूटती जा रही है। लोगों का नैतिक पतन होता जा रहा है। इसी वातावरण में उपन्यासकार का जीवन दर्शन निर्मित होता एवं निखरता संवरता रहता है, जिन्हें वह उपन्यासों के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाता है। कोई भी प्रबुद्ध पाठक इसकी अवहेलना नहीं कर सकता और वह उपन्यास में अभिव्यक्त जीवन-दर्शन में खो जाता है। उपन्यास में जीवन-दर्शन का कितना महत्व होता है, इसका परिचय हम केवल इसी से लगा सकते हैं कि किसी महान् उपन्यास को पढ़ते ही शीघ्र ही हम उसमें व्याप्त जीवन दर्शन में खो जाते हैं और जीवन के सम्बन्ध में सोचने लगते हैं। जैनेन्द्रकुमार कृत 'त्याग पत्र' में मृणाल की मृत्यु पर शीला के भाई या उसकी असामान्य परिस्थितियों से अधिक हमें समाज की उस विषमता से सहसा परिचित होने का अवसर प्राप्त हो जाता है जो मृणाल को वस्तुतः डस लेती है। जैनेन्द्र जो कुछ भी कहना चाहते थे, मृणाल की मृत्यु उसे स्पष्ट करती है। जीवन दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति मैं इसी को मानता हूँ।

यहाँ यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि मात्र जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए ही उपन्यासों की रचना हो और उसे कथानक एवं चरित्रों से भी अधिक महत्व प्रदान किया जाय। वास्तव में यह निष्कर्ष निकालना असंग ही नहीं, हास्यास्पद भी होगा। जीवन-दर्शन का होना अनिवार्य तो है, पर उसका प्रस्तुतीकरण उसी भाँति होना चाहिए, जिस प्रकार स्टेज पर कठपुतलियों का खेल होता है, किन्तु उनकी डोरें दूसरे के हाथों में रहती हैं। हम कठपुतलियों का खेल देखते हैं और आनन्द तरंगों में बहते भी हैं, यह जानते हुए कि इनके सूत्र संचालन का भार पर्दे के पीछे से एक या दो व्यक्तियों के कौशल से हो रहा है, पर हम उन्हें देख नहीं पाते और तब भी हमारी आनन्द-उपलब्धि में कोई न्यूनता नहीं आती। उसी प्रकार उपन्यास के कथानक और पात्रों के व्यक्तित्व में उपन्यासकार का जीवन दर्शन छिपा होना चाहिए। उपन्यास भाषण देने की जगह नहीं है। 'सेवासदन' में म्युनिसिपल कमेटी में वेश्यावृत्ति पर जो लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिए गए हैं, वे औपन्यासिक शिल्प पर बहुत बड़े धब्बे हैं। उपन्यासकार को इस प्रवृत्ति से बचना चाहिए। यशपाल, अमृतराय, राहुल सांकृत्यायन और

रांगेयराघव की औपन्यासिक प्रतिभा का बहुत बड़ा पतन इस प्रवृत्ति की अनुकृति के ही कारण हुआ है। चाहे आप 'देशद्रोही' या 'दादा कामरेड' ले लें, या 'बीज' ले लें, या 'जीने के लिए' 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' ले लें या फिर 'घरौंदे' 'मुर्दों का टीला' या 'विषादमठ' ले लें, इन सभी उपन्यासों में उपन्यासकार अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए औपन्यासिक शिल्प को लात मार उस अनियंत्रित घोड़े पर सवार आगे बढ़ता है जिसकी लगाम उसके भी हाथों में नहीं रहती, बल्कि उस पार्टी या मत के हाथों में रहती है, जिसका वह अनुयायी होता है और जिसके हाथों वह स्वयं कठपुतलियों की भाँति बेबस रहता है। वह पार्टी या मत उपन्यासकार से अपनी वांछित बातें करा लेता है। वस्तुतः यह उपन्यासकार का जीवन-दर्शन नहीं उस पार्टी या मत का 'जीवन-दर्शन' होता है। आश्चर्य तो तब होता है जब यशपाल जैसे उपन्यासकार भी इससे बच नहीं पाए हैं, जिन्हें मैं मानता हूँ कि यदि वे पार्टी की संकीर्ण दमघोट गलियों से बाहर निकल कर खुली सड़क पर साँस लें तो उनके उपन्यासों का स्वास्थ्य सुधरेगा और जिन्हें रुग्णावस्था और किसी ने नहीं स्वयं यशपाल ने प्रदान की है। हालाँकि वे उपन्यास यशपाल की औपन्यासिक प्रतिभा देखते हुए रोगी बनने के अधिकारी नहीं हैं। हिन्दी में अपना जीवन-दर्शन प्रस्तुत करने की अन्यतम शैली जैनेन्द्र और कृशण चन्द्र (मैं जानता हूँ कि कृशणचन्द्र को हिन्दी का उपन्यासकार मानने से लोग हिचकेंगे, फिर भी मैं उन्हें उर्दू के साथ हिन्दी का लेखक मानता हूँ, और यह स्वीकार न करना सत्य से मुँह मोड़ना तो होगा ही, साथ ही कृशणचन्द्र के साथ घोर अन्याय भी) के पास है।

उपन्यासकार के जीवन-दर्शन के स्वरूप और उसके मूल्यांकन की दो सीमाएँ हैं—उसकी सत्यता एवं सार्थकता तथा नैतिकता। पर आगे बढ़ने के पूर्व हमें सत्यता एवं नैतिकता के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाओं पर विचार कर लेना चाहिये। उपन्यासों में जिस सत्य की माँग की जाती है, उसकी विज्ञान के सत्य से कोई समानता नहीं है। दोनों परस्पर भिन्न हैं। प्लेटो ने यह भ्रम उत्पन्न कर एक भीषण गलती की थी कि सभी कल्पनावादी साहित्य असत्यता से परिपूर्ण है, क्योंकि अस्तित्व से सम्बन्धित वे सत्य तत्वों का प्रतिपादन नहीं करते। हमें ऐसे अनेक व्यक्ति मिलते हैं, जो अब भी उपन्यास और असत्य में कोई अन्तर स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं।

हालाँकि ये व्यक्ति 'गोदान', 'झूठासच' 'संगम' 'अँधेरे बन्द कमरे' 'उखड़े हुए लोग' आदि उपन्यासों को पढ़ें, तो उन्हें सहज ही पता चल जायगा कि मानवजीवन और औपन्यासिक जीवन में कोई अन्तर है या साम्य है। अरस्तू ने प्लेटो की धारणा की भ्रान्तियों का उचित पर्दाफाश किया और कहा कि कल्पना प्रस्तुत सभी महान् रचनाओं में एक 'कथानक सत्य' होता है, जो अधिक गहन और व्यापक है जितना कि हम एक इतिहासकार के कार्यों से आशा करते हैं। इतिहासकार उसी सत्य का आकलन करेगा जो वाह्य रूप से उसे प्राप्त है। श्री नेहरू के कहे गए शब्दों को इतिहास में प्रस्तुत करने का उसे अधिकार है, पर उनकी अन्तरात्मा की भावनाओं के प्रस्तुतीकरण की उसमें प्रतिभा नहीं है। पर उपन्यासकार का कदम इससे आगे होता है, जिसे अरस्तू ने आदर्श पूर्ण संभावनाएँ कहा है। इस प्रकार सत्य के दो रूप होते हैं—एक तो यह कि सत्यता क्या है ? दूसरे सत्यता क्या होनी चाहिए ? अरस्तू ने ज्ञान-पूर्ण साहित्य और शक्ति-पूर्ण साहित्य में अन्तर को भी स्पष्ट किया है। ज्ञान-पूर्ण साहित्य तो वह है, जिसमें हूबहू सत्य का आकलन होता है, और वह विज्ञान के निकट रहता है। इसका रूप हमारी जीव विज्ञान, रसायन शास्त्र या इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में प्राप्त होता है। पर शक्ति-पूर्ण साहित्य में सत्य उन महान् एवं अनिवार्य इच्छाओं, संवेगों व सिद्धान्तों, जिनसे पुरुषों एवं नारियों का जीवन निर्देशित एवं परिचालित होता है, कृतज्ञ होता है, शताब्दियाँ बीत जाती हैं, यह सत्य कभी प्राचीन नहीं पड़ता। इस सत्य का रूप भिन्न होता है।[1] और शाश्वत होता है।

अब यह बात रह जाती है नैतिकता की। आज जब कि नैतिकता का अत्यन्त पतन हो गया है और सभी देशों से सभ्यता एवं संस्कृति खंडित होकर मर्यादाएँ बिखर रही हैं, वासना का प्रचंड उद्दाम तीव्रता से वृद्धि प्राप्त कर रहा है।[२] और लोगों की मनोवृत्तियाँ कुण्ठित होकर नारी के रूप,

---

1 "The artist's work is real in so for as it is always ideal, in that it is never actual."

—गेटे

२. हैवलाक ऐलिस : द साइकोलाजी ऑव सेक्स (१९६१), लन्दन पृष्ठ ३६८

सौन्दर्य, उसके नेत्र, भृकुटियों, केशों तथा हाव-भाव पर अधिक सीमित होते जा रहे हैं, तो प्रश्न उठता है नैतिकता है क्या ? एक के लिए जो नैतिक है, दूसरे के लिए अनैतिक हो सकता है। एक व्यक्ति का अपने एक मात्र पुत्र की उपेक्षा करके अपनी सारी सम्पत्ति समाज के किसी कल्याणकारी कार्य में दान दे दिए जाने का समाज तो स्वागत करेगा तथा उसे नैतिकता का उचित मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति समझेगा, पर उसके पुत्र की दृष्टि में यह बहुत बड़ा नैतिक अपराध होगा। वास्तव में धर्म के अनुमोदन से समाज की प्रचलित परम्पराएँ ही नैतिकता के नियमों का रूप धारण कर लेती हैं और जब हम नैतिकता की बात करते हैं, तो यह निर्विवाद है कि वह वासनात्मक नैतिकता से सम्बन्धित है।[1] वासनात्मक नैतिकता स्वाभाविक मानवीय भावों को महत्व नहीं देती।[2] उपन्यासकारों का जीवन-दर्शन सत्यता एवं नैतिकता की सीमाओं के बीच ही निर्मित होता है। मानव-जीवन न मात्र अच्छाइयों से पूर्ण है, न कुरूपताओं से ही। वह दोनों का समन्वय है। यही सत् और असत् है। उपन्यासकार के जीवन-दर्शन में इस सत् और असत् का समन्वय होता है और अपने जीवन-दर्शन के माध्यम से वह अपने पाठकों को परिचित कराकर उन्हें जीवन में निर्देशित करने एवं उनके मार्ग को प्रशस्त करने का प्रयत्न करता है।

---

1 "when we speak of morality, we are understood, nine hundred and ninety nine times out of a thousent to refer······to sexual morality."

—आर० ब्रिफ्फालट : द मदर्स, तीसरी पोथी, (१९२८), पृष्ठ २५२

2 "Our sexual morality has disregarded natural human emotions and is incapable of understanding these who declare that to retain unduly traditional that [are opposed to the vital needs of human society is not a morality but an immorality."

—हैवलाक ऐलिस : स्टडीज इन द साइकोलाजी ऑव सेक्स छठी पोथी, (१९३८) लन्दन, पृष्ठ ३७३

भाषा

संक्षेप में भाषा पर भी विचार कर लें। उपन्यास म अन्य तत्वों की भाँति भाषा का भी महत्व होता है। पात्रानुकूल भाषा से उपन्यास की स्वाभाविकता में वृद्धि होती है। मुसलमान पात्र से संस्कृतनिष्ठ भाषा बुलवाना और गँवारे से अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करवाना हास्यास्पद प्रतीत होगा। भाषा पात्रों की प्रवृत्तियों एवं उनके व्यक्तित्व के अनुसार रखनी पड़ती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो भाषा का ध्यान और भी सावधानी के साथ रखा जाता है। उस युग की भाषा, तदनुसार शब्दों का प्रयोग और मुहावरों का समावेश भाषा ही नहीं उपन्यास की स्वाभाविकता के लिए उत्तरदायी होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा का सुन्दर स्वाभाविक रूप 'वाणभट्ट की आत्मकथा', 'चित्रलेखा', 'दिव्या', 'गढ़कुंडार' 'झाँसी की रानी', 'कचनार' आदि उपन्यासों में प्राप्त होता है। नगरी जीवन से सम्बन्धित भाषा का अन्यतम प्रयोग जैनेन्द्र के उपन्यासों में मिलता है।

प्रकृति चित्रण

प्रकृति चित्रण भी उपन्यास-शिल्प का एक आवश्यक तत्व है। उपन्यास का प्रकृति चित्रण काव्य के प्रकृति चित्रण से भिन्न होता है। प्रकृति चित्रण उपन्यासकार का वह सशक्त साधन है, जिसका उपयोग वह पात्रों के चरित्र चित्रण में, देश-कला, वातावरण निर्मित करने अथवा दृश्य विधान रचने में प्रयोग करता है। प्रकृति चित्रण से पात्रों की विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न मनःस्थितियों एवं प्रतिक्रियाओं तथा उनके संस्पर्श से उनके बनते-बिगड़ते चेतनमन की स्थिति का यथार्थ चित्रण किया जाता है। यह प्रकृति चित्रण मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर होता है और प्रतीक रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। ये प्रतीक सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं और उनकी शब्द-योजना बड़े कौशल से करनी पड़ती है। ये प्रतीक यदि भावाभिव्यक्ति की सशक्तता से सम्पन्न नहीं होते तो उपन्यासकार का उद्देश्य असफल ही रहता है, वृन्दावन लाल वर्मा : गढ़कुण्डार, (१९२७), मृगनयनी, (१९५०); भगवती चरण वर्मा : सामर्थ्य और सीमा, (१९६२); सुरेश सिनहा: तुमने मुझे पुकारा तो नहीं, (१९६१), एक और अजनबी, (१९६३); उपेन्द्रनाथ अश्क : शहर में घूमता आईना, (१९६३)] क्योंकि इन प्रतीकों के उलट-फेर

से उपन्यास की प्रभावशीलता नष्ट हो जाती है और पात्रों के विशिष्ट मूड तीव्र रूप में उपस्थित नहीं हो पाते। प्रकृति चित्रण देश-काल एवं वातावरण को सजीव बनाने में भी प्रयुक्त होता है, जो दो रूपों में सामने आता है—आलम्बन रूप में और उद्दीपन रूप में। आलम्बन रूप में किए जाने वाले प्रकृति चित्रण का मूल उद्देश्य किसी भाव या टेम्पो को तीव्रता प्रदान करना होता है, जिससे देशकाल और वातावरण में अधिक यथार्थता एवं सप्राणता का समावेश होता है, [जयशंकर प्रसाद के उपन्यास या फणीश्वर नाथ रेणु कृत परती: परिकथा, (१९५७)]। उद्दीपन भाव में किया जाने वाला प्रकृति चित्रण विशेष भावों को उद्दीप्त करने के लिए किया जाता है, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाठकों के हृदयस्थल को उत्तेजनात्मक संस्पर्श देना होता है, [अज्ञेय के उपन्यास]। कभी-कभी प्रकृति चित्रण केवल दृश्य-विधान निर्मित करने के लिए ही किया जाता है, जिसके पीछे लेखक का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता, सिवाय इसके कि वह अन्य बातों के साथ प्रकृति चित्रण भावुकता के साथ करना चाहता है। हिन्दी के प्रारम्भकालीन उपन्यासों से लेकर आज तक यह प्रवृत्ति कमो-बेश सभी उपन्यासों में प्राप्त हो जाती है। प्रकृति चित्रण कभी-कभी इन सब बातों से अलग विशिष्ट उद्देश्य से—कथानक के विकास, पात्रों की भेंट या किसी घटना को तीव्रता प्रदान करने के लिए भी किया जाता है। उपेन्द्र नाथ अश्क के 'गर्मराख' (१९५२) में सत्या के जगमोहन को आत्मसमर्पण करने वाली घटना के पूर्व पानी का बरसना तथा काली घटाओं का चित्रण साभिप्राय हुआ है। ऐसा हिन्दी के सभी उपन्यसों में किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में अवश्य होता है। उपन्यासों में किए जाने वाले प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में कुछ ऐसी अनिवार्य बातें हैं, जिनका ध्यान रखना आवश्यक होता है। उपन्यास वस्तुत: मानव-जीवन की यथार्थता से प्रतिच्छायित होते हैं, अत: प्रकृति चित्रण में मान-वीयता होनी चाहिए। उनमें मानव भावों का संस्पर्श उन्हें मानव जीवन के निकट लाकर उन्हें सजीव बना देता है। यह प्रकृति चित्रण उचित संगति में होना चाहिए, जिसमें स्थानीय रंगों (Local Colours) का समावेश बड़ी सतर्कता से किया जाना चाहिए, जिससे उसकी यथार्थता किसी भी प्रकार विनष्ट न होने पाए। प्रकृति चित्रण काल्पनिक आधार पर निर्जीव हो जाता है, अत: उसकी प्राण-प्रतिष्ठा यथार्थवाद की स्वाभाविक भूमि पर

होना चाहिए, तभी उपन्यासों में उनकी प्रभावशीलता अभिवृद्धि प्राप्त कर सकती है।

उपन्यास प्रकार

उपन्यासों का वर्गीकरण उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार कई प्रकार से किया जाता है। यहाँ प्रवृत्तियों के अनुसार ही वर्गीकरण किया गया है, जो इस प्रकार है—

१. यथार्थवादी उपन्यास
२. प्रकृतिवादी उपन्यास
३. अस्तित्ववादी उपन्यास
४. मनोविश्लेषणवादी उपन्यास
५. समाजवादी उपन्यास
६. आदर्शवादी उपन्यास
७. व्यक्तिवादी उपन्यास
८. सामाजिक उपन्यास
९. ऐतिहासिक उपन्यास
१०. आंचलिक उपन्यास
११. पारिवारिक उपन्यास
१२. राजनीतिक उपन्यास
१३. हास्यरस के उपन्यास
१४. चरित्रप्रधान उपन्यास

इन उपन्यासों की विशेषताएं तृतीय खण्ड में औपन्यासिक प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में स्पष्ट की गई हैं।

———
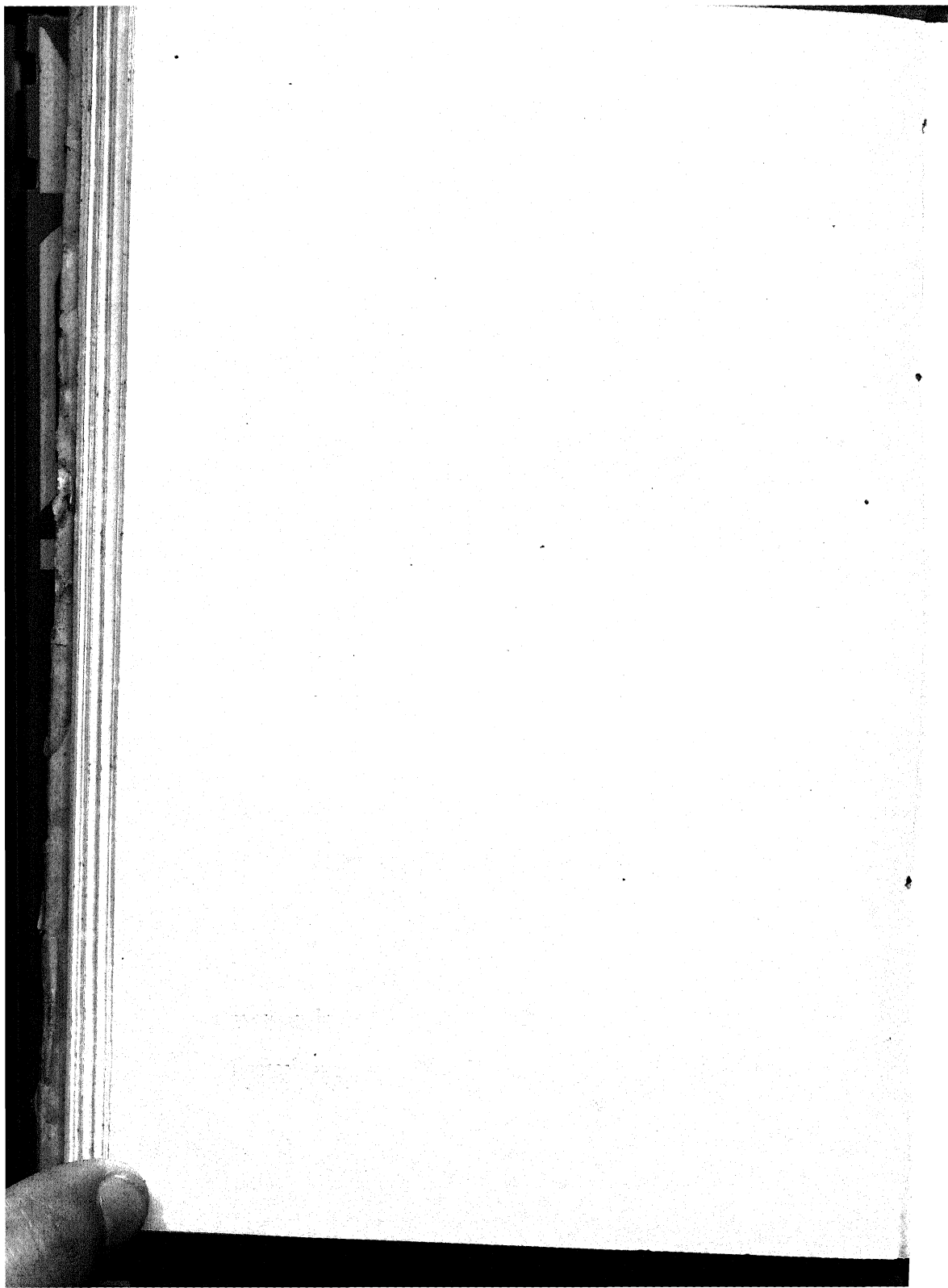
यथार्थवाद

यथार्थवाद (Realism) का वास्तविक सम्बन्ध फ्रेंच यथार्थवादी स्कूल से है। इसका प्रथम प्रयोग सन् १८३५ ई० में आदर्शवादी विचारधारा में विश्वास रखनेवालों के विरुद्ध सौन्दर्यवादी विवरण के रूप में हुआ था। बाद में १८५६ ई० में एक पत्रिका 'रियलिज्म' की स्थापना के पश्चात् इसका प्रयोग साहित्य में होने लगा। दुर्भाग्य से यथार्थवाद का विशेष महत्व फ्लावेयर जोला और उनके सहयोगियों द्वारा साहित्य में अपनाई जानेवाली अनैतिक मान्यताओं एवं 'निम्नकोटि' के विषयों के विरुद्ध उठे कटु विवाद में बहुत कुछ अंशों में न्यून हो गया। इसके परिणामस्वरूप यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद के भिन्न रूप के ही अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा। यह वास्तव में फ्रेंच यथार्थवादियों के विरोधियों द्वारा ग्रहण किए गए दृष्टिकोण से प्रतिध्वनित रूप था। उसने उपन्यास लेखन शिल्प के ऊपर अपना स्थायी प्रभाव डाला और साहित्य के जितने भी रूप उस समय प्रचलित थे, उनमें उपन्यास-साहित्य ने इस प्रभाव को अधिकाधिक अंशों में ग्रहण किया। यथार्थवाद की आधार शिला पर ही उपन्यासों का ताना-बाना निर्मित होना प्रारम्भ हुआ और तभी वह जन-जीवन के अधिक निकट भी आया। इससे उपन्यासों की लोकप्रियता में भी आशातीत वृद्धि हुई, क्योंकि इस नयी स्थिति में उपन्यासों में सत्यता एवं स्वाभाविकता का आभास अधिक मात्रा में प्रतिध्वनित होने लगा। अभी तक कल्पनाशीलता और अस्वाभाविकता के जिस वातावरण ने उपन्यासों को अपने आवरण में जकड़ रखा था, यथार्थवाद ने समय से उसका मूलोच्छेदन करके उपन्यासों को उचित रूप से दिशोन्मुख किया।

यथार्थवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में साहित्य में अनेक भ्रान्तियां प्रसारित हैं और कुछ तथाकथित अध्यवसायी एवं प्रतिक्रियावादी आलोचकों ने तो यह

घोषित भी कर दिया कि यथार्थवाद ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को दिग्भ्रान्त कर दिया है और उसमें एक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न कर दी है। ऐसी भ्रमपूर्ण धारणा वस्तुतः यथार्थवाद को न समझने के कारण ही उत्पन्न हुई है। यथार्थवाद वास्तव में वस्तुओं के यथातथ्य चित्रण पर नहीं; अपितु सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण पर बल देता है। यदि कोई उपन्यास केवल इसलिए यथार्थवादी है कि उसमें जीवन का चित्रण तटस्थ दृष्टि से किया गया है, तो यह केवल अन्वेषित रोमांस ही होगा। यथार्थवाद वास्तव में बहुविधीय मानव अनुभवों के पूर्ण एवं सत्य चित्रण पर बल देता है, न कि किसी विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण पर। यथार्थवाद उस जीवन प्रकार में नहीं अवस्थित रहता, जो उपन्यासों में प्रस्तुत किया जाता है। वरन् उस जीवन प्रकार के प्रस्तुतीकरण की शैली में और उसी रूप में विकसित भी होता है।

यह वास्तव में स्वयं फ्रेंच यथार्थवादियों की स्थिति के अत्यधिक निकट है, जिनका मत था कि यदि उनके उपन्यास बहु प्रचलित एवं ख्याति-प्राप्त नीतिशास्त्र सम्बन्धी सामाजिक एवं साहित्यिक मान्यताओं के क्रोड़ में प्रस्तुत मानवता के अतिरंजित चित्रों से भिन्न हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि उनके उपन्यास जीवन के आवेशहीन और वैज्ञानिक परीक्षण से प्रभावोत्पन्न सृजन प्रक्रिया के परिणाम हैं, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यथार्थवाद इस सत्य का समर्थन करता है कि साहित्य-सृजन न तो किसी प्राणहीन स्तर पर जीवित रह सकता है, जैसा कि प्रकृतिवादियों (Naturalists) ने दावा किया था और न किसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर, जो स्वयं अपने स्वत्व का शून्य में विलय कर देता है। वास्तविक महान् यथार्थवाद इस प्रकार मानव और समाज का उनके पूर्ण रूप में चित्रण करता है और उनके एक या दो विशेषताओं मात्र के चित्रण के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करता है।

दर्शनशास्त्र में 'यथार्थवाद' से अभिप्राय एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से है, जो मध्ययुगीन यथार्थवादियों के दृष्टिकोण से निकट साम्य रखता है कि सत्य यथार्थ विश्वव्यापी भावनाएँ, वर्ग-समाज और उनके निचोड़ तत्व हैं, न कि वे भावनाएँ, जो इन्द्रियों के मनन एवं मंथन से स्पष्ट होती हैं। उपन्यासों के संदर्भ में यह विचार प्रायः व्यर्थ एवं सारहीन प्रतीत होगा।

क्योंकि उपन्यासों में अन्य साहित्य-विधाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में सत्य अन्तर्निहित रहता है। पर इससे एक तथ्य निश्चय ही स्पष्ट होता है और वह उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता की ओर इंगित करता है, जो आज यथार्थवाद के परिवर्तित दार्शनिक अर्थ से मिलता-जुलता है। यह युग कुछ इस प्रकार का है, जिसमें साधारण बौद्धिकता निर्णयात्मक रूप से मध्यकालीन उपलब्धियों से सर्वजनीनता की अस्वीकृति या कम-से-कम अस्वीकृत करने की प्रति प्रयत्नशीलता के कारण अलग कर दी गई थी। अतः आधुनिक यथार्थवाद वास्तव में इस स्थिति से प्रारम्भ होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तिगत भाव-अनुभावों से सत्य का आविष्कार नहीं कर सकता, बल्कि वाह्य सृष्टि सत्य है और व्यक्ति के अपने भाव-अनुभाव ही उसे उसका सत्य विवरण देते रहते हैं। यद्यपि इस धारणा से साहित्यिक यथार्थवाद पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता और न साहित्य में समझे जाने वाले यथार्थवाद की रूपरेखा पर उनका अभिप्राय ही स्पष्ट होता है। इसका कारण साफ है। प्रत्येक युग में लगभग सभी ने इस रूप में या उस रूप में वाह्य सृष्टि के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से निकाला है, और साहित्य कुछ सीमाओं तक प्रायः इन्हीं भावनाओं एवं निष्कर्षों का स्पष्टीकरण करता रहा है। ऐसी धारणाएँ और इनसे सम्बन्धित तीव्र विवादों में प्रायः इतनी स्वभावगत समानता है कि साहित्य पर उनका प्रभाव आगे चलकर अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया।

दार्शनिक यथार्थवाद की दृष्टि सामान्यतः आलोचनात्मक है और वह परम्परा के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करता है। इसकी पद्धति उन व्यक्तिगत अन्वेषकों के प्राप्त अनुभवों के विवरणों का अध्ययन करना है, जो कम-से-कम प्राचीन अनुमानों से मुक्त हैं और परम्परागत ढंग में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं, यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। परम्पराओं एवं पूर्व-अर्जित अनुमानों एवं विश्वासों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं करता। उपन्यासों के साहित्यिक रूप के उदय होने के पूर्व जितनी भी साहित्यिक विधाएँ थीं, वे परम्परागत सत्य की ही जाँच करती तथा उनका ही विवरण प्रस्तुत करती थीं। क्लॉसिकल और नवीन क्रान्ति के युग की अधिकांश रचनाओं के प्लॉट उदाहरण-स्वरूप प्राचीन इतिहासों पर ही आधारित थे और लेखकों की प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी शैली की प्रतिभा की

जाँच सामान्य रूप से उन्हीं साहित्यिक मापदण्डों के माध्यम से होती थी, जो परम्परागत ढंग से अपरिवर्तित रूप से चले आ रहे थे और उसी रूप में स्वीकृत भी कर लिए गए थे। यह पूर्णतया असंगत एवं हास्यास्पद था, साथ ही साहित्य की प्रगतिशीलता एवं उसकी परिवर्तनशीलता के प्रति अनास्था प्रकट कर परम्परावाद एवं प्रतिक्रियावादियों की बहुत बड़ी विजय थी। इस साहित्यिक परम्परावाद को सर्वप्रथम सबसे बड़ी चुनौती उपन्यासों ने दी—जिनका सर्वप्रथम कार्य व्यक्तिगत अनुभवों का सत्य प्रतिपादित करना था। ये व्यक्तिगत अनुभव बराबर ही असाधारण और इसीलिए सर्वथा नवीनता धारण किए रहते थे। उपन्यास इस प्रकार उस संस्कृति का एक तर्क-पूर्ण साहित्यिक मापदण्ड है, जिसने पिछली कुछ शताब्दियों में मौलिकता पर आधारित असाधारण मूल्यान्वेषण किया है। यथार्थवाद इससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

पर यहाँ भ्रम की स्थिति नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। दर्शन वास्तव में भिन्न स्थिति रखता है और साहित्य उससे अलग इन दोनों में परस्पर जो भी साम्य है, उससे यह अनुमान कदापि न लगाना चाहिए कि दर्शन की यथार्थवादी परम्परा से ही उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा का जन्म हुआ। यदि उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा पर दर्शन की यथार्थवादी परम्परा का कोई प्रभाव है भी, तो वह लॉक के ही कारण; जिसके विचार अठारहवीं शताब्दी में प्रत्येक स्थान पर विचारों के क्षेत्र में गहनतम रूप से छाए हुए थे। दार्शनिक और साहित्यिक नवीनताओं—दोनों को ही महान् परिवर्तनशीलता के समान स्तर पर आँका जाना चाहिए। यहाँ हम एक सीमित दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं कि उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा एवं दर्शन की यथार्थवादी परम्परा की परस्पर समानता उपन्यासों की वर्णनात्मक स्थिति को स्पष्ट करने में कहाँ तक सहायक होती है। यह जैसा कि कहा गया है, साहित्यिक शैलियों का निष्कर्ष है, जहाँ उपन्यासों द्वारा मानव जीवन के अंकन की प्रक्रिया तथा सत्य को स्पष्ट करने एवं उसके विवरण देने की प्रयत्नशीलता की प्रक्रिया में उस पथ का अनुगमन करती है, जो दार्शनिक यथार्थवाद से प्रभावित है। ये प्रक्रियाएँ किसी भी रूप में केवल दर्शन तक ही सीमित नहीं हैं, वास्तव में किसी भी घटना की अन्वेषण-सम्बन्धी प्रक्रिया में जो यथार्थ संदर्भ में होती है, अपनाई जाती हैं।

यथार्थ की अनुकृति अंकित करने के औपन्यासिक ढंग को अदालतों में न्याय करने के ढंग के समान सिद्ध किया जा सकता है। उपन्यास के पाठकों और अदालतों में अनेक अंशों में समानता है। दोनों ही किसी दिए हुए मामले में प्रत्येक तथ्यों से पूर्णतया अवगत होना और सत्य से परिचित होना चाहते हैं। किसी प्रकार का रहस्य या दुराव-छिपाव उन्हें रुचिकर एवं न्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होता और वे इसे श्रेयस्कर नहीं समझते। वे जानना चाहते हैं कि अमुक घटना कब, कहाँ और किस समय घटित हुई। दोनों ही सम्बन्धित पक्षों की पहचान से पूर्णतया सन्तुष्ट होना चाहते हैं और किसी भी ऐसे व्यक्ति, जो परिचित और सामान्य नहीं है, के सम्बन्ध में कोई साक्ष्य स्वीकृत नहीं करेंगे और वे ऐसे गवाहों की भी आशा करेंगे, जो अपने शब्दों में सारी कहानी कहे और मामले को संतोषजनक ढंग से स्पष्ट करे। वास्तव में न्यायाधीश का जीवन के प्रति चतुर्मुखी दृष्टिकोण होता है और टी० एच० ग्रीन के शब्दों में उपन्यासों का दृष्टिकोण भी यही होता है।

उपन्यासों की उस वर्णनात्मक प्रणाली को जिसके माध्यम से यह चतुर्मुखी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है, रूपगत यथार्थवाद की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। रूपगत इस अर्थ में क्योंकि 'यथार्थवाद' का सम्बन्ध किसी विशेष साहित्यिक सिद्धान्त या उद्देश्य से नहीं, वरन् कुछ वर्णनात्मक प्रणालियों से है, जो एक साथ उपन्यासों में प्राप्त होती हैं। ये दूसरी साहित्यिक विधाओं में दुर्लभ होती हैं। चूँकि उपन्यासों में मानवीय अनुभवों का पूर्ण एवं अधिकृत विवरण रहता है। इसीलिए उपन्यासकार के ऊपर यह दायित्व होता है कि वह ऐसी घटनाओं, पात्रों एवं स्थानों तथा तथ्यों का विवरण उपन्यासों में उपस्थित करे, जिससे पाठकों को इस बात का विश्वास हो जाय कि वह उपन्यासों में मानवीय अनुभवों का ही पूर्ण एवं अधिकृत विवरण प्राप्त कर रहा है। यह विवरण उपन्यासों के अतिरिक्त किसी भी अन्य साहित्यिक विधा में इतनी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसीलिए रूपगत यथार्थवाद ने उपन्यासों के गढ़न पर गहरा प्रभाव डाला है। वास्तव में रूपगत यथार्थवाद साक्ष्य नियमों की ही भाँति है। यहाँ इसका अभिप्राय यह कदापि न लगाना चाहिए कि उपन्यासों में प्रस्तुत मानवीय अनुभवों के विवरण सत्य एवं यथार्थ होते हैं तथा अन्य साहित्यिक विधाओं में प्रस्तुत ऐसे विवरण अयथार्थ होते हैं। ऐसा वस्तुतः

नहीं है। और न यह कोई शर्त ही है कि उपन्यासों में प्रस्तुत मानवीय अनुभवों के विवरण अन्य साहित्यिक विधाओं में भिन्न प्रणालियों के माध्यम से प्रस्तुत ऐसे ही विवरणों की अपेक्षा अधिक सत्य होने ही चाहिए। वस्तुतः दोनों की अपनी अलग-अलग स्थितियाँ एवं सीमाएँ हैं और कुछ यथार्थ-वादियों एवं प्रकृतवादियों का यह भ्रम कि किसी सत्य तथ्य का ज्यों-का-त्यों चित्रण किसी महान् यथार्थवादी, एवं चिरस्थायी रचना-प्रक्रिया की सृजनात्मकता का कारण बनती है, सर्वथा विडम्बना है। ऐसा कभी नहीं होता और उनका अतिवादी विश्वास एवं भ्रम ही वास्तव में यथार्थवाद और उसके समस्त कार्यों के प्रति उत्पन्न होनेवाले बहुचर्चित अरुचि के लिए उत्तरदायी है। यह अरुचि हमें एक भिन्न मार्ग की ओर प्रशस्त कर अन्य अनेक भ्रम उत्पन्न कर सकती है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि यथार्थवादी स्कूल में कुछ कमियाँ हैं जो प्रायः सभी उपन्यासों में पाई जाती हैं और जिनका निराकरण करने में प्रायः सभी उपन्यासकार असमर्थ रहे हैं। यदि इन कमियों को हम भूल जायँगे तो यथार्थवाद पर ऐसा गहन अन्धकार आच्छादित हो जायगा जिसका नए सिरे से निराकरण करना कठिन होगा, और न हमें यही भूलना चाहिए कि रूपगत यथार्थवाद-मात्र एक परम्परा ही है पर अन्य साहित्यिक परम्पराओं की भाँति इसके भी अपने अनेक उपयोगी लाभ और विशेषताएँ हैं।

भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाओं द्वारा यथार्थवाद का चित्रण करने की सीमाओं में अनेक उल्लेखनीय अन्तर हैं और उपन्यासों का रूपगत यथार्थवाद अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा मानवीय अनुभवों की अनुकृति शीघ्र ही अपने विशिष्ट वातावरण में कर लेता है। फलस्वरूप उपन्यास अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा पाठकों पर अधिक गहरा प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं और यही कारण है, पिछले लगभग ८५ वर्षों में पाठकों ने अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा उपन्यासों को अधिक अपनाया है, क्योंकि यह उन्हें अधिक आत्मसंतुष्टि देता है और वे जीवन और काया के मध्य निकट तादात्म्य स्थापित कर सकने में सफल हो पाते हैं।

यथार्थवाद लेखक से इस बात की आशा करता है कि वह प्राप्त सत्यों का पूर्ण कलागत ईमानदारी से अपनी कृतियों में उपयोग करेगा—ऐसे सत्य,

जो इतने यथार्थ एवं सर्व सम्मत हैं; जितनी कि इस सृष्टि का अस्तित्व। इससे अस्वीकृति नहीं हो सकती क्योंकि यथार्थ वास्तव में यथार्थ ही होता है, जिसे भावनाएँ, चेतना या दोनों ही अनुभव करती हैं। इसीलिए यथार्थ निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। यथार्थवाद त्रुटि-पूर्ण विषयों एवं उद्देश्यों के बीच कोई समझौता करता है, ऐसा समझना भ्रामक होगा। यथार्थवाद एक ऐसे मार्ग के अनुगमन पर बल देता है, जो विकसनशील स्रजन-प्रक्रिया से संबंधित है। इस विकसनशील स्रजन-प्रक्रिया के मार्ग में जो भी शक्तियाँ अवरोध उपस्थित करती हैं, यथार्थवाद उन्हें तिरस्कृत कर उनके प्रति अनास्था का भाव प्रकट करता है। इस प्रकार यथार्थवाद ऐसे सत्य को उद्घोषित एवं समर्थित करता है कि साहित्य-स्रजन न तो प्राणहीन तथ्यों की प्रतिकृति-मात्र बन सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियों का पूर्ण विश्वास था और न ही किसी ऐसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर अवस्थित है, जिसके अनुगमन से किसी भी परिणाम की आशा नहीं, वरन् शून्य की निरापद स्थिति ही उपलब्ध होती है। अतः वास्तविक यथार्थवाद मानव और समाज को उनके पूर्ण रूप में ही चित्रित करता है। उनके खंडित एवं असत्य रूप उन्हें सह्य नहीं हैं और वह उन्हें अस्वीकार करता है। वह केवल एक पक्ष या दो पक्ष का चित्रण करके ही संतोष नहीं कर लेता है। इस प्रकार यथार्थवाद का अभिप्राय बहुमुखी रूप से प्रतिबिम्बित होता है, जो अपना सम्बन्ध स्वतन्त्र जीवन, पात्रों एवं मानवीय सम्बन्धों से जोड़ता है। यह किसी भी रूप में भावुक एवं बौद्धिक प्रतिमानों को अस्वीकृत नहीं करता जो अनिवार्य रूप से आधुनिक युग में साथ-साथ विकसित होते हैं। यथार्थवाद यदि कुछ अस्वीकृत करता है, तो केवल मानव व्यक्तित्व की पूर्णता का बिखराव और व्यक्ति तथा परिस्थितियों के प्रति क्षणिक भावुकता के माध्यम से अतिवादी दृष्टिकोण का। इन अवरोधक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में यथार्थवाद का प्रमुख उद्देश्य प्रतिध्वनित होता है।

यथार्थवाद यद्यपि कल्पना का पूर्ण तिरस्कार नहीं करता पर कल्पना से उसका सम्बन्ध वहीं तक रहता है, जहाँ तक उसकी अनिवार्यता होती है। कल्पना हमारी उस मानसिक प्रक्रिया की द्योतक है जो अन्तरमन में अनेक चित्र बनाती है और उसका स्वरूप हमारी संवेदनाजन्य परिस्थितियों पर निर्मित करती है। कल्पना और तर्क-शक्ति में परस्पर कोई साम्य नहीं, वरन् एक

अन्तर्विरोध सा रहता है। उपन्यास में यथार्थवाद इस कल्पना को साथ-साथ लेकर चलता है। यदि कल्पना का तिरस्कार कर हम जीवन का लोगों के आने-जाने, बात करने और सोचने का जैसा हमारे पड़ोसी नित्य-प्रति करते हैं, बिल्कुल वैसा ही चित्रण करें, तो वह कभी भी प्रभावशाली नहीं बन सकता। यह एक सतही यथार्थवाद होगा, जो कल्पना की हत्या कर देता है और जो चिर-परिचित उद्देश्यों का समर्थन मात्र कर देता है। ऐसा यथार्थवाद हमारे सामने एक दर्पण प्रस्तुत करता है न कि कोई चित्र। ऐसे यथार्थवाद के आधार पर लिखे जानेवाले उपन्यास केमराईपन की दृष्टि से तो सत्य हो सकते हैं, पर काल्पनिक रूप से नहीं। केमराईपन से परिपूर्ण यथार्थवाद इसलिए भी अव्यावहारिक है, क्योंकि वह सौन्दर्य के विरुद्ध है। यदि उपन्यास साहित्य में इस प्रकार के यथार्थवाद को प्रश्रय दिया जाने लगेगा तो मेरा यह निश्चित मत है कि वह कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप होने का गौरव खो देगा और केवल पत्रकारों एवं संवाददाताओं की रिपोर्टों तक ही सीमित रह जायगा। उपन्यास में कल्पना के माध्यम से ही वर्णन का अनावश्यक विस्तार एवं तथ्यों का अनावश्यक समावेश रोका जा सकता है। पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के सत्य के अभाव में कल्पना केवल नाटकीय बन सकती है, यथार्थ नहीं। प्रकृति के सत्य के साथ मिलकर ही कल्पना मिश्रित यथार्थवाद ने विश्व के सर्वश्रेष्ठ क्लॉसिकल यथार्थवादी उपन्यासों की रचना की है।

केवल तथ्यों का संग्रह अपने आप में पूर्ण एवं सत्य हो सकता है, पर पाठकों के लिए वह केवल भद्दा और अतिवादी प्रतीत होगा। ज़ोला और फ्लावेयर ने यही किया और इसीलिए उन पर तीव्र प्रहार भी किए गए। उनके उपन्यासों के प्रत्येक पृष्ठ पर तथ्यों की भीड़ सी लगी हुई है और यद्यपि ये भविष्य में आँकड़े एकत्रित करनेवाले विशेषज्ञों के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे, उनमें एक भी ऐसी मर्मस्पर्शी भावना का चित्रण नहीं हुआ है जो चिरस्मरणीय बनी रहेगी। गन्दी गलियों, अशोभन कमरों और कुप्रवृत्तियों के चित्रण इस अभाव को किसी भी रूप में पूर्ण नहीं कर सकते, क्योंकि जीवन के यथार्थवादी तथ्य चाहे जो भी महत्व रखते हों, उपन्यास-कार द्वारा पर्यवेक्षित वास्तविक सत्य उसकी समर्थता का केवल एक अंश मात्र है। सत्यता का पर्यवेक्षण मात्र करने से आगे उसे कुछ और भी कर

सकने में समर्थ होना चाहिए। उपन्यास-कला वास्तव में तथ्यों के हूबहू अथवा वैज्ञानिक आकलन करने से भी आगे कुछ और है। ऐसे उपन्यासों में यथार्थवाद नहीं केवल यथातथ्यवाद ही होगा, क्योंकि यथार्थवाद स्वयं ही ऐसे पात्रों एवं घटनाओं के प्रति जो कि नितान्त साधारण एवं आकर्षणहीन प्रतीत होती हैं, इसलिए कार्यशील रहता है, ताकि वह इस प्रकार के चित्रण से उनके सही अर्थों का मूल्यान्वेषण कर सके। अतः यथार्थवाद उस सत्य की स्थापना करता है, जिसे हम महत्वहीन समझते हैं और जिनके प्रति विचार भी नहीं करना चाहते। यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक सत्य का अपना विशिष्ट महत्व होता है, जो अनुपेक्षणीय हैं। यथार्थवादी उपन्यासकार वास्तव में एक जादूगर की भाँति होता है, जो एक तथ्य को अपनी मुट्ठी में बन्द करता और कुछ क्षण इधर-उधर करने के पश्चात् जादूगर की भाँति अपना करिश्मा दिखाता हुआ कहता है, लो देखो, यह तथ्य कितना बदल गया है। अब यह उस जैसा नहीं रहा, जैसा कि पहले था। वह यह करिश्मा कल्पना के ही आश्रय से करता है। यथार्थवाद का चित्रण करने वाले उपन्यासकारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि आन्तरिक सत्य जो समय, स्थान एवं परिस्थितियों की सीमाओं से मुक्त होते हैं, हमारे लिए तभी यथार्थ एवं प्रभावशाली प्रतीत हो सकते हैं, जब उन्हें उपन्यास में स्थान देने के पूर्व कल्पना के आवरण में बाँध दिया जाय। कला-सम्बन्धी कोई भी श्रेष्ठ सृजनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब कल्पना और यथार्थ समन्वित रूप से नवीन निर्माण-कार्य में संलग्न होते हैं। चेखव ने एक स्थान पर लिखा है कि यथार्थवाद वाह्य जगत का ही अनुगमन नहीं करता, वरन् वह महती उद्देश्यों से भी प्रेरित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि यथार्थ तथ्यों का ज्यों-का-त्यों चित्रण करना किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है। इसीलिए कल्पना का आश्रय साहित्य-सृजन में किया जाता है। जिससे वे चीजें जो यथार्थ हैं और प्रस्तुत करने के लिए वांछनीय हैं, एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक विशेष परिवेश में उपस्थित हो सकें। यथार्थवाद इसीलिए सामयिक परिस्थितियों पर अधिक बल देता है और कल्पना के अनिवार्य आवश्यकता के माध्यम से उसे प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि चीजें जिस रूप में हैं या जिस स्वरूप में दृष्टिगत होती हैं, चित्रित करने के लिए उपन्यासकार अपने चित्रण

को कल्पना के परिवेश में बाँधता है। इससे यथार्थवाद का अर्थ-गाम्भीर्य भी बढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप यथार्थवाद उस कला को कहा जा सकता है, जिसके माध्यम से उन बातों को, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, वह ऐसा चित्रित कर देता है, जिससे वे यथार्थ प्रतीत होने लगती हैं। यहाँ तक कि वह असम्भव बातों को भी इस रूप में चित्रित कर सकता है कि वे संभव प्रतीत होने लगें। कला का कार्य वहीं समाप्त हो जाता है, जहाँ वह तथ्यों को इतनी यथार्थता से अभिव्यक्त कर दे, जिससे कि दूसरा भी वही अनुभूति ग्रहण करने के लिए बाध्य हो जाय, जो लेखक का स्वयं कला के सृजन करते समय अनुभूत था, यह यथार्थ चित्रण भी तभी सफल स्वीकार किया जा सकता है। अतः यथार्थवाद वह साहित्यिक मिश्रण है, जो चयन शक्ति एवं सृजनात्मकता से पाठकों की यथार्थ समझने की शक्ति को विकसित करता है। वह हमारी मानसिक उदात्तता की प्रेरणा का प्रतीक बनकर उभरता है और हमें काल्पनिकता की कृत्रिमता से हटाकर जीवन की सत्यता की ओर मोड़ता है।

यथार्थवाद वेदना से निवृत्ति नहीं स्वीकारता। मानव-जीवन की कुंठाएँ, वर्जनाएँ एवं असंतोषप्रद स्थितियों की भयंकरता से यथार्थवाद मुख नहीं मोड़ता, उनका साहस के साथ चित्रण करता है। वह मानव की अखण्डता पर तो विश्वास करता है, पर आदर्शवादियों की भाँति उसे देवता नहीं बना देता। मनुष्य कुरूपताओं एवं विशेषताओं के परस्पर समन्वय का ही रूप होता है। यथार्थवाद इसी समन्वय के दोनों पक्षों पर समान बल देता है और सत्य स्थिति के चित्रण में हिचकता नहीं।

यथार्थवाद की मध्यवित्तीय सौन्दर्यवादी समस्या पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के उपयुक्त प्रस्तुतीकरण से सम्बन्धित है। किन्तु जैसा कि कला के प्रत्येक अधिकृत दर्शन में होता है, वैसे ही यथार्थवाद भी सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के अन्त तक क्रमागत अनुसरण शुद्ध सौन्दर्यवादी स्तर तक मार्ग प्रशस्त करता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, यथार्थवाद दर्शन से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। यथार्थवाद रूप (Form) को अस्वीकृत करता है, और मानव की सौन्दर्यावगाहिनी प्रकृति (Aesthetic Nature) को चुनौती देता है। यथार्थवाद कला को समसामयिकता प्रदान करने तथा चिरस्थायी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। वह कला के क्षेत्र में आदर्शवादी प्रवृत्तियों को

अस्वीकृत कर सृजन प्रक्रिया के लिए नवीन और सामयिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण एवं सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के चित्रण में सहायक होता है।

यथार्थवाद समाज की प्रमुख एवं ज्वलन्त समस्याओं को ही अपने चित्रण के लिए चुनता है और समकालीन घुटन-पीड़न आदि के यथार्थ चित्रण में ही कलाकारों की लेखकीय स्थिति सुरक्षित रहती है। यही मानवीय घुटन और पीड़ाएँ, उनके प्रेम और घृणा की दिशाएँ एवं उद्देश्य निर्धारित करती हैं और इन्हीं भावनाओं के माध्यम से वे यह भी निश्चित करती हैं कि वे अपने काव्यात्मक दृश्य-बिन्दु में इन्हें क्या और कैसे देखते हैं। इसी-लिए इस प्रक्रिया में उनके चेतन सृष्टिगत दृष्टिकोण और उनके दृश्य बिन्दु में देखे गए सृष्टि में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि उनके चेतन सृष्टिगत दृष्टिकोण के सन्दर्भ में ही उनकी सृष्टि से सम्बन्धित विचार प्रक्रिया निर्मित होती है। और उनके विचारों की वास्तविक गहनता, महत्वपूर्ण युगीन समस्याओं से उनके गहन सम्बन्ध और लोगों के घुटन, उत्पीड़न एवं विषादों से उसकी हार्दिक सहानु-भूति उनके चरित्रों के निर्माण एवं निर्वाह में ही उपयुक्त ढंग से मुखरित हो सकती है और इसी आधार-भूमि पर महान् यथार्थवाद तथा लोकप्रिय मानवतावाद का समन्वय स्थापित होता है। यथार्थवाद मानवता की सहज वृत्तियों की उपेक्षा नहीं करता और मनुष्य को मनुष्य के निकट लाकर मानवता के उत्थान का प्रयत्न करता है। प्रत्येक महान् यथार्थवादी लेखक युगीन समस्याओं, मानवीय उत्पीड़न एवं कुंठाओं तथा वर्जनाओं को अपने ढंग से सोचता, समझता एवं मनन करता है तथा अपने ढंग के आत्म-चिंतन से उनको उपन्यासों के माध्यम से सारी मानवता के सम्मुख प्रस्तुत कर उनका समाधान भी अपने ही दृष्टिकोण से करता है। वह किन्हीं नियंत्रित शक्तियों से बाध्य नहीं होता और समस्याओं को ग्रहण करने, मनन-चिन्तन एवं प्रस्तुतीकरण के ढंग तथा समाधान के सम्बन्ध में वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। इस पर उसके कलात्मक व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, किन्तु लेखकों की इस भिन्नता के बावजूद भी उनमें समानता है ये सभी लेखक अपने समय की सृष्टि की महान् समस्याओं की गहराई में पैठकर यथार्थ के वास्तविक सत्यों का उद्घाटन करते हैं। इस समूचे युग में कोई भी लेखक तभी महान् बन सकता है, जब वह दिन-प्रतिदिन की लहरों के प्रति

सत्यता एवं ईमानदारी से संघर्षरत हो। वह इसलिए क्योंकि यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। तथ्य विज्ञान पर आधारित होते हैं और इन्हीं तथ्यों का अन्वेषण करना यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति होती है।

सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों का ठोस प्रस्तुतीकरण तभी सम्भव है, जब उन्हें ऐसे उच्च स्तर तक उठाया जा सके, जिससे ठोसपन 'रूप' अर्थात् अंगों की एकता (Unity of Diversity) के रूप में अन्वेषित और प्राप्त किया जा सके, जैसा कि कार्ल मार्क्स का कहना है। आधुनिक यथार्थवादी जिन्होंने बूर्जुआ आदर्शवादी दृष्टिकोण के पतन के फलस्वरूप सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों से सम्बद्ध अपनी गहन ज्ञान चेतना को खो दिया है और इसके साथ उनकी अमूर्तीकरण की शक्ति सामाजिक पूर्णता और उसके वास्तविक उद्देश्यों एवं निर्णयात्मक विश्वासों के चित्रण का असफल एवं विद्रूप प्रयत्न करती है।

यथार्थवाद की सबसे बड़ी शर्त एवं माँग है कि लेखक बिना किसी भय, संकोच एवं पक्षपात-पूर्ण दृष्टि के अपने सृष्टि के सादृश्य से प्राप्त अनुभवों एवं अपने चारों ओर के परिवेश का ईमानदारी के साथ विवरण प्रस्तुत करे। महान् यथार्थवाद की इस विषयपरक शर्त की एक निश्चित परिभाषा की आवश्यकता है। क्योंकि यथार्थवादी लेखकों की यह केवल विषय-परक चेतनता ने स्वयं ही यथार्थवाद को पतन से बचाया किन्तु कला और दर्शन के क्षेत्र में इस पतन द्वारा उत्पन्न परिणामों से नहीं बचा सकी। लेखक की विषयपरक ईमानदारी सत्य यथार्थ का निर्माण तभी कर सकती है, यदि वह इस प्रकार के सामाजिक आन्दोलन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हो कि उसकी समस्याएँ लेखक को एक ओर तो उसके प्रधान तथ्यों के निरीक्षण एवं चित्रण के लिए संचालित करे और दूसरी ओर अपनी सजगता एवं विश्वास को अधिक उपयोगी बनाने का साहस एवं शक्ति प्रदान करे। एक लेखक में किसी युग के सामाजिक विकास का रहस्योद्घाटन करने तथा चित्रित करने की समर्थता होनी चाहिए। चाहे उसके दृष्टिकोण में प्रतिक्रिया-वादी तत्व कितने ही अंशों में समाए हुए हों। इससे उसकी सजगता का वस्तुगत मूल्य न्यून नहीं होगा। ऐसी परिस्थितियों में भी लेखकों की सजगता उन्हें किसी सामाजिक आन्दोलन की यथार्थता का सत्य चित्रण करने की समर्थता प्रदान करेगी, बशर्ते उस सामाजिक आन्दोलन में वास्तविक

समस्याएँ निहित हों। वास्तव में महान् लेखकों की सजगता का मूल्यांकन किसी ऐसे सामाजिक आन्दोलन के किसी प्रतिनिधि के वक्तव्यों से नहीं किया जाना चाहिए और न ऐसे महान् लेखकों के स्वयं के वक्तव्यों से ही। उनकी सजगता की सीमाएँ ऐसे सामाजिक आन्दोलनों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की सीमाओं तथा मानवीय तत्वों के उद्घाटन की महत्ता पर निर्भर करती हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि महान् यथार्थवादी लेखकों के सृष्टिगत विचार परिवेश में प्रतिक्रियावादी तत्वों के आ जाने के बावजूद भी सामाजिक यथार्थ के विशद, उचित एवं वस्तुगत ढंग से चित्रण करने में उनके मार्ग में अवरोध उपस्थित नहीं होता। किन्तु यहाँ इस तथ्य को पुनः स्पष्ट कर देना अधिक उचित होगा कि यह किसी और सृष्टिगत दृष्टिकोण से सम्बद्ध नहीं है। सामाजिक आन्दोलन से प्रेरित काल्पनिक चित्रण जो ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य है, लेखक को वस्तुगत सत्य के साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने से रोकता नहीं। उसे स्वयं इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए या जो कुछ भी वह चित्रण करता है, उनका उसे पर्यवेक्षण-मात्र करना चाहिए—यह प्रश्न केवल कला के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, इसका सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से लेखक के पूर्ण सम्बन्ध से भी है। पहले के लेखक स्वयं ही सामाजिक संघर्षों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वाले व्यक्ति होते थे और उनका लेखकीय व्यक्तित्व या तो इसी संघर्ष का एक भाग होता था या अपने समय की गहन समस्याओं की प्रतिकृति या सैद्धांतिक एवं साहित्यिक समाधान होता था। यदि यथार्थ के संदर्भ में लेखक केवल पर्यवेक्षक का पद ग्रहण कर लेता है तो इसका अभिप्राय यह है कि वह बूर्जुआ समाज का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है और प्रायः उससे घृणा एवं निराशा से मुख मोड़ लेता है। इस प्रकार नवीन ढंग का यथार्थवादी लेखक साहित्यिक अभिव्यक्ति के विशेषज्ञ के रूप में परिणत हो जाता है, जो वर्तमान सामाजिक जीवन के चित्रण को अपनी विशेषता बना लेता है। यथार्थवाद की वर्तमान दिशा कुछ इस प्रकार निर्धारित हो गई है कि जीवन के किसी भी चित्रण में वस्तुओं एवं स्थानों का सत्य चित्रण यथार्थवाद की आधी मंजिल तय कर लेना है।

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है

कि यथार्थवाद के प्राचीन स्कूल की तुलना में आज का लेखक अधिक नियंत्रित और सीमित जीवन सामग्री का उपयोग करता है। अगर नवीन यथार्थवादी जीवन की कुछ विशेष समस्याओं का चित्रण करना चाहता है, तो वह अपने मार्ग से थोड़ा हटकर उन्हें प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करने का प्रयत्न करेगा। स्पष्ट है, पहले वह उन समस्याओं को स्वयं समझने, मनन करने और उनका मूल्यांकन करने तथा निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेगा, और यदि लेखक सचमुच प्रभावशाली एवं मौलिक है, तो वह उनमें मौलिक तत्वों के अन्वेषण के प्रति प्रयत्नशील होगा और मौलिक ढंग से पर्यवेक्षित विस्तारों को अत्यन्त उच्च स्तर पर साहित्यिक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करेगा। किसी साहित्यिक रचना की कलात्मक पूर्णता उसके द्वारा अनिवार्य सामाजिक तत्वों के चित्रण की पूर्णता पर निर्भर होती है। अतः यह केवल लेखक के स्वयं के सामाजिक समस्याओं के अनुभवों पर आधारित होती है। इस प्रकार के अनुभव के माध्यम से अनिवार्य सामाजिक तत्वों के रहस्योद्घाटन और उनके चारों तरफ की समस्याओं के स्वतन्त्रतापूर्वक एवं स्वाभाविक ढंग से कलात्मक प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सकता है। महान् यथार्थवादी लेखकों की रचनाओं का आन्तरिक सत्य इस तथ्य पर आधारित होता है कि वे स्वयं जीवन के ही क्षेत्र से आगे बढ़ते और विकास करते हैं तथा उनका कलात्मक चरित्र-चित्रण स्वयं लेखक द्वारा जीए जानेवाले सामाजिक रूप विधान की प्रतिकृति होता है।

यथार्थवाद ने कला का सम्बन्ध विज्ञान से स्थापित किया और उसे विश्लेषण शक्ति से विभूषित किया है। यथार्थवाद कट्टर सामाजिक व्यवस्थाओं, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के प्रति अनास्था का भाव प्रकट करता है। यथार्थवाद की सीमाएँ केवल उच्चवर्गीय व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं हैं। वह मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय व्यक्तियों को भी समान रूप से अपने चित्रण का आधार बनाता है। वह पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं को स्वीकार करता है और आदर्शवादियों की भाँति उन्हें एक विशिष्ट मोड़ दे देना उसे स्वीकार्य नहीं है। यथार्थवाद लघुता के प्रति कभी अपनी विरक्ति नहीं प्रकट करता और न ही दैवीय शक्तियों के प्रति उसकी आस्था रहती है। यथार्थवाद जीवन के सत्य को चित्रित करता है और उन जीवन सत्यों में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखता। यथार्थवाद स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होता

है और परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा वैचारिक दृष्टिकोणों से प्रेरणा ग्रहण कर कला को नवीन वातावरण में गतिशील करता है। यथार्थवाद व्यक्ति को समाज का अभिन्न अंग स्वीकार कर उसकी अखण्डता के प्रति आस्थावान है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एवं समाज निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार करता है। प्रतिभा के अभाव में यथार्थवादी चित्रण एक विद्रूप बन जाता है और कलात्मकता का अभाव उसकी विशेषताओं को न्यून कर देता है। यथार्थवाद की दृष्टि बहुमुखी है और वह जीवन के विविध पक्षों के चित्रण के प्रति पूर्ण कलागत ईमानदारी से प्रयत्नशील होता है। यथार्थवाद कोई यथातथ्यवाद नहीं है और वह तथ्यों का आकलन-मात्र नहीं करता, वरन् कल्पना से उन्हें माँजकर, सँवारकर, प्रभावशाली बनाकर इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि वे अपने आपमें एक आदर्श बन जाते हैं और सम्पूर्ण मानवता को नवीन अभियान के प्रति दिशोन्मुख करने के प्रतीक स्वरूप बन जाते हैं। यही संक्षेप में यथार्थवाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं, जिनका विश्लेषण किंचित् विस्तार से ऊपर किया गया है।

यथार्थवाद की आवश्यकता उपन्यासों में क्यों है, ऐसे प्रश्नों में कोई सार नहीं, वे पूर्णतया तथ्य-हीन हैं। यथार्थवाद उपन्यासों की मूल भित्ति है। यदि उपन्यास जीवन के सत्य का प्रतिनिधित्व करते हुए मानव जीवन की सम्पूर्णता का चित्रण करते हैं, तो यह कार्य बिना यथार्थवाद की सहायता से संभव हो ही नहीं सकता—यह निश्चित है। यथार्थ उपन्यासों के माध्यम से न केवल ऐसे तथ्यों एवं सत्यों से हमें परिचित कराता है, जो आधुनिक युग में साहित्य के सबसे बड़े आकर्षण हैं; वरन् उपन्यास में इस दृष्टि से यथार्थवाद आवश्यक भी है क्योंकि वह मानव-स्वभाव के अध्ययन में भी सहायक होता है। एक लेखक चाहे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी; उसे व्यापक परिवेश में पूरी सृष्टि के परिप्रेक्ष्य में मानव-जीवन का चित्रण तथा प्रगतिशील तत्वों को उत्कर्ष प्रदान करना चाहिए। जिससे कोई भी चित्रित जीवन को चाहे इस आँख से या उस आँख से देखे—उसे यथार्थ एवं स्वाभाविक प्रतीत हो। प्रत्येक महान् ऐतिहासिक युग नवीन क्रान्तियों, भावनाओं एवं विचारों से उद्भूत होता है। युग की माँग प्राचीनता एवं रूढ़िवादिता का विरोध तथा नवीनता एवं प्रगतिशीलता का आह्वान करना होता है। युग में प्राचीन मानव तिरस्कृत तथा नवीन मानव निर्मित

होता है। एक ऐसी नवीन सामाजिक चेतना एवं रूपविधान का उदय होता है, जो नव-निर्माण की भावना से ओत-प्रोत होती है और वह नए प्रेरणा-दायक मार्ग का अनुगमन कर अग्रसर होती है। ऐसी अवस्था में साहित्य का उत्तरदायित्व गहन हो जाता है। साहित्य का दायित्व भी निर्माण का होता है, विध्वंस का नहीं। विध्वंसक साहित्य को साहित्य की संज्ञा से किन्हीं भी परिस्थितियों में अभिहित नहीं किया जा सकता, चाहे उन्हें कुछ और भले ही कहा जाय। ऐसे कठिन निर्माणाधीन और नवोन्मेष की भावना से प्रेरित युग में केवल मात्र महान् एवं सत्यता से प्रेरित यथार्थवाद ही साहित्य के इन दायित्वों को पूर्ण कर सकता है, कोई अन्य औपन्यासिक प्रवृत्ति या साहित्यिक परम्परा नहीं।

यथार्थवाद की अपनी कुछ सीमाएँ भी होती हैं। आज का यथार्थवादी केवल यथार्थवाद का प्रतिबिम्ब ही नहीं उतार देता, उसे यथार्थ से लगाव होता है, जिससे उसे अस्वीकृति नहीं होती। वस्तुतः यही चीज उसे लेखक का यथार्थ स्वरूप प्रदान करती है। वह यथार्थ के क्रम का यथातथ्य रूप में अनुगमन न कर अपनी इच्छानुसार वस्तुओं का चयन कर उनका पुनर्गठन करता है। वह सृष्टि को खण्ड-खण्ड कर फिर उन खण्डों से एक भवन निर्मित करता है, जो यथार्थ से पूर्ण होता है। अतः यथार्थवाद स्रजनशील होता है। उस परिस्थिति में यथार्थ का वास्तविक एवं पूर्ण रूप सामने नहीं आ पाता, क्योंकि यथार्थ से लगाव रखने वाले प्रत्येक कलाकार के सामने कुछ आदर्श होते हैं, जिन्हें वह घुमा-फिरा कर प्रस्तुत करना चाहता है। यह आदर्श यदि यथार्थ के आवरण में लपेट कर प्रस्तुत किया जाय तो उस यथार्थ का स्वरूप खण्डित अथवा दूषित नहीं होता, पर इसके लिए संयम, अपूर्व औपन्यासिक कौशल एवं संतुलित दृष्टि की नितान्त आवश्यकता होती है, जिससे कम ही उपन्यासकार विभूषित होते हैं। वास्तव में यथार्थ घटनाओं का संयोजन कुछ इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे अपने आदर्श की कहानियाँ स्वयं कहें। लेखक को खुल्लमखुल्ला कोई आदर्श रखने का मुटोपिया निर्मित करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अन्ततोगत्वा उपन्यासकार समाज को वास्तविक यथार्थ से परिचित कराने में उपन्यास के माध्यम से एक निमित्त मात्र ही है। वह प्रत्यक्ष रूप से उपदेशक अथवा प्रचारक नहीं है। यह वह अप्रत्यक्ष रूप से यथार्थवाद के पर्दे के पीछे से ही

बन सकता है, जिसका आभास अप्रकट रहना चाहिए। एक लेखक ने यथार्थ-वाद की एक सीमा का उल्लेख करते हुए बताया है कि जिस तटस्थता का दावा यथार्थवाद करता है, वह सत्य नहीं है।[1] किन्तु इससे ही यथार्थवाद तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सत्यान्वेषण की दिशा में अपनी तमाम न्यूनताओं के बावजूद भी गतिशील होता है और साथ ही सफल भी।

यथार्थवाद ने उपन्यास शिल्प के ऊपर भी अपना विशिष्ट प्रभाव डाला है। महान् यथार्थवादियों द्वारा चित्रित पात्र स्वयं अपना व्यक्तिगत जीवन जीते हैं। उनका पतन एवं उत्कर्ष तथा उनकी स्थिति का निर्णय उनके अपने सामाजिक जीवन एवं वैयक्तिक अस्तित्व के माध्यम से ही होता है। कोई भी लेखक तब तक सच्चा यथार्थवादी नहीं हो सकता—यहाँ तक कि वह अच्छा लेखक भी नहीं स्वीकार किया जा सकता—यदि वह अपने पात्रों को किसी भी प्रकार से नियंत्रित करता है, तथा कठपुतली बनाकर अपने संकेतों पर परिक्रमा करने को बाध्य करता है। पात्रों की यथार्थता के लिए यह आवश्यक है कि लेखक उन सभी तथ्यों का—उनके कार्य करने का ढंग, उनकी आदतें, राय आदि जैसा कि सभी साधारण मानव करते हैं—समावेश अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में करे। लेखक को चाहिए कि उस यथार्थ जीवन के चुने हुए लोगों को, जिसमें वह स्वयं अपना जीवन जीता है, अपने उपन्यासों में यथार्थता से ले आए। इस प्रकार यथार्थवाद सत्य तथ्यों से परिचित कराने के साथ ही जातीय पात्रों को जातीय परिस्थितियों में यथार्थ ढंग से पुनर्जीवन देता है।[2] उपन्यास के पात्र के व्यक्तित्व की वही विशेषताएँ होनी चाहिए, जो साधारण जीवन में उसी प्रकार के किसी भी व्यक्ति की हो

---

1 'The error of realism has been to believe that the real reveals itself to contemplation and that consequently one could draw an impartial picture of it. How could that be possible since the very perception is partial'.— सार्त्र : व्हाट इज़ लिट्रेचर, पृष्ठ ४४।

2 'Realism to my mind implies besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances'.

—एंजिल्स का मार्ग्रेट हार्कनेस को अप्रैल १८८८ में लिखा गया पत्र।

सकती हैं।[1] इसके लिए उपन्यासकार में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक होता है, जिससे वह अपने चारों ओर के लोगों के जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को भी समझ सके और उसी स्वाभाविकता से उपन्यास के पात्रों में भी मूर्तिमान कर दे। पात्र वस्तुतः तभी यथार्थ प्रतीत होंगे। उपन्यास का प्रयत्न इस बात के प्रति होना चाहिए कि पात्रों की स्थैतिक (Static) प्रवृत्तियाँ ही नहीं, सम्पूर्ण विशेषताएँ उभरें, ताकि वे पात्र एक स्थैतिक प्रभाव डालने के बजाय पूर्ण प्रभाव पाठक के मन पर डाल सकें। लेखक बाह्य जगत का आश्रय लेकर अन्तर्जगत की व्याख्या कर सकता है और स्थूलता से आगे बढ़कर सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति कर सकता है। उसके ऐसा करने में ही पात्रों का यथार्थवादी स्वरूप सुरक्षित रहता है। पात्रों को इतना यथार्थवादी होना चाहिए कि उनमें हम अपने आपको प्रस्तुत कर सकें और वातावरण इतना यथार्थ हो कि उसमें हम उसी प्रकार आसानी से चल फिर सकें, जिस प्रकार हम साधारण जीवन में करते हैं।[2] ऊपर कहा जा चुका है कि उपन्यासकार को अपने पात्रों को नियंत्रित नहीं करना चाहिए। नियंत्रण से यहाँ यही अभिप्राय है कि उपन्यासकार को अपनी किसी प्रवृत्ति, सिद्धान्त या विचार को पात्रों के ऊपर आरोपित नहीं करना चाहिए और न उसके लिए पात्रों के जीवन में ऐसे विशिष्ट मोड़ देने चाहिए जिससे उनकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाय और उनकी यथार्थता में सन्देह होने लगे। उपन्यास के पात्र जितने ही मानवीय होंगे, वे उतने ही यथार्थ होंगे और उतने ही प्रभावशाली होंगे। उपन्यासकार का यह दायित्व है कि वह पात्रों के ऐसे तथ्यों एवं प्रवृत्तियों का चित्रण करे, जिन्हें वह जीवन में गहनतम रूप से पाता है ताकि पाठक बिना किसी टीका-टिप्पणी के उन्हें सहज ढंग से स्वीकार कर ले।

---

1 'In fiction personality consists of essentially the same qualities as belong to it in the actual life'.
—वाल्टर एल० मायर्स : द लेटर रियलिज्म, (१९२७), शिकागो पृष्ठ ३।

2 'The characters must be so real that we can throw ourselves into them and the background so real that we can walk about in it'.
—जॉन कूपर पॉविस : दस्तायवस्की, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १५।

कथानक के संगठन के सम्बन्ध में भी यथार्थवाद का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। कहानी का एक निश्चित उद्देश्य, स्वरूप एवं सीमाएँ होती हैं। वह शिथिल रेखाचित्रों का संग्रहमात्र नहीं है। पाठक का ध्यान प्रत्येक क्षण कथानक पर ही रहता है, अतः उसका और पात्रों में यथार्थ सामंजस्य होना चाहिए और घटनाओं को सम्भावित एवं विश्वसनीय होना चाहिए, जिससे वे यथार्थ प्रतीत हों। कथानक के स्वाभाविक एवं सम्भावित विकास से अपने उद्देश्य की प्राप्ति में ही यथार्थवाद की भी सफलता सन्निहित रहती है, साथ ही उपन्यासकार का औपन्यासिक कौशल भी स्पष्ट होता है। लेकिन घटनाओं के यथार्थ संयोजन एवं विकास पर बल देना उपन्यास को यथार्थ मानव जीवन के अत्यधिक निकट लाना केवल एक कदम है, विषयवस्तु इसके अतिरिक्त शेष रह ही जाती है, जो मानव जीवन का वास्तविक प्रतिबिम्ब और यथार्थ की प्रतिच्छाया होनी चाहिए। पर यह सब बहुधा परम्परागत उपन्यासों में स्वयं उपन्यासकार की स्पष्ट उपस्थिति से नष्ट हो जाता है। यथार्थ विषयवस्तु के होने के बावजूद भी उपन्यास का यथार्थवाद उस समय पूर्णतया समाप्त हो जाता है जब उपन्यासकार स्पष्ट रूप से अपने दायित्व को बहुत सतही ढंग से निभाते हुए निःसंकोच अपने पाठकों को कथानक की मुश्किलें समझाते हैं, पात्रों के सम्बन्ध में बताते हैं कि उसने यह काम क्यों किया या वह काम क्यों किया और बीच-बीच में अपने दर्शन की विस्तार से व्याख्या भी करते चलते हैं। उपन्यास लेखक का अपना ही रंगमंच है, जिसमें उससे यथार्थवाद स्वाभाविक पात्रों, सत्य एवं विश्वसनीय घटनाओं की माँग तो करता है, पर साथ ही वह उसके रंगमंच से स्वयं उसी की अनुपस्थिति की भी माँग करता है। पात्रों के मनोविश्लेषण से प्रायः कथानक को उपन्यासकार बोझिल बना देते हैं। यथार्थवाद इसका विरोध करता है। वह पात्रों का मनोविश्लेषण चाहता तो है, पर स्वयं उपन्यासकार के माध्यम से नहीं वरन् वह चाहता है कि इस मनोविश्लेषण को क्रियाओं एवं संवादों में अनुवादित कर दें। उनका यह औपन्यासिक कौशल सामान्य जनों की आँखों से छिपा हुआ होना चाहिए। यथार्थवाद का चित्रण करनेवाले उपन्यासकार को यह समझ लेना चाहिए कि कहानी उपन्यास का एक महत्वपूर्ण अंग है और उसमें अतिशय विश्लेषण यथार्थता की हत्या कर देता है। पात्रों को तो कहानी के सामंजस्य में इस तरह

प्रस्तुत करना चाहिए कि उनके संवाद और कार्य-व्यापार उनका विश्लेषण तो करें ही साथ ही हम उन्हें अपने यथार्थ जीवन से अलग न समझें। और पात्रों एवं कथानक की यथार्थता के लिए आवश्यक है कि लेखक उनका अपनी तरफ से परिश्रम करके मनोविश्लेषण न करे। उनकी अपनी गति होनी चाहिए। वास्तव में प्रौढ़ कला यही है कि उनका विधान नाटकीय होना चाहिए और उन्हें अपनी प्रवृत्ति एवं व्यक्तित्व के अनुसार ही कार्य करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। यदि उपन्यास को जीवन के प्रति सत्य और ईमानदार रहना है, तो उसे उस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए, जिसे हम कुछ और नहीं स्वयं जीवन की यथार्थ प्रवृत्ति ही कहते हैं। इसके लिए स्वयं उपन्यासकार के लिए आत्मत्याग की नितान्त आवश्यकता होती है। यह आत्मत्याग केवल इसीलिए नहीं कि वह बार-बार स्पष्ट रूप से पात्रों और पाठकों के बीच अपने अनावश्यक हस्तक्षेप से उपन्यास की यथार्थता को समाप्त करता है, वरन् इसलिए भी कि वह जीवन सत्य की स्वाभाविक एवं सहज स्वरूप को समाप्त कर उसे बयान देने की सीमा तक सीमित कर देता है। प्रत्येक बात को बयान देने की सीमा तक सीमित करके और अपना दर्शन, सिद्धान्त एवं विचार आरोपित करके उपन्यासकार पाठकों को इस बात से भी वंचित कर देता है कि वे उपन्यास पढ़कर स्वयं अपना निष्कर्ष निकालें।

वास्तव में कथानक की पहचान अनेक घटनाओं एवं प्रसंगों के क्रम से होती है, जिनके प्रति हमारे अधिकांश आकस्मिक अनुभव आकार ग्रहण करते हैं। एक उपन्यासकार जो उपन्यास में जीवन के विविध पक्षों को व्यापक कैन्वेस पर यथार्थता से प्रस्तुत करना चाहता है, उसे केवल अलग-अलग प्रसंगों एवं घटनाओं से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए, बल्कि अनेक घटनाओं की श्रेणी को प्रदर्शित करना चाहिए, जिसमें पूर्ण यथार्थता के साथ ऐसी ही घटनाएँ होनी चाहिए जो हमारे नित्य-प्रति के जीवन में घटित होती हैं। कला का एक उद्देश्य पूर्णता को प्रस्तुत करना होता है, जो इस श्रेणी से ही संभव होता है। एक उपन्यास जो घटनाओं की इस श्रेणी को न प्रस्तुत कर विश्रृंखलित रहता है, जिसमें एकसूत्रता न होकर जीवन बिखरे हुए रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, उसकी यथार्थता एवं प्रभावशीलता नगण्य रहती है। जो आलोचक इस तथ्य का समर्थन करते

हैं कि उपन्यासों का एक निश्चित अन्त होना चाहिए, वे बहुत से यथार्थ-वादियों के इस मत को एक प्रकार से तर्क-हीन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं जो इस बात को पूर्णतया अकलात्मक और अस्वाभाविक समझते हैं कि उपन्यासों का एक निश्चित अन्त विशेषतया सुखान्त होना चाहिए। इस सम्बन्ध में विचारकों के कई वर्ग हैं। एक वर्ग कहता है कि जीवन में बिखराव है, पूर्णता नहीं। अतः उसका एक निश्चित अन्त हो ही नहीं सकता। दूसरा वर्ग समझता है कि जीवन का एक निश्चित समाधान होता है। पर इस विवाद से अपने को असम्बद्ध रखते हुए यथार्थवादी उपन्यासकार का यह कर्तव्य है कि वह कथानक का इस प्रकार यथार्थ संगठन करे जिसमें जीवन अपने पूर्ण रूप में प्रस्तुत हो सके। कला प्रकृति के दुभाषिए का काम करती है न कि उसे विभ्रान्त करने का और उपन्यास में—जैसा कि सभी साहित्यिक विधाओं में होता है, जो विश्रृंखलता के स्थल पर पूर्णता का वर्णन करता है, वही महान् है। महान् यथार्थवादी उपन्यासकारों का उद्देश्य उनके पात्रों में अन्तर्निहित रहता है, जो पात्रों को नाटकीय ढंग से यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत करने में ही प्राप्त किया जा सकता है।

यही कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की इन आवश्यकताओं को पूर्ण कर कला के सभी रूपों में उपन्यास बहुत ऊँचा उठ जाता है। इससे अधिक एक उपन्यासकार से और क्या माँग की जा सकती है कि वह अपने उपन्यास में स्त्री-पुरुष को उसी रूप में चित्रित करता है, जिस रूप में कि वे सत्य जीवन में होते हैं। वह उनकी कुरूपताओं एवं विशेषताओं को एक दूसरे से पूर्ण सामंजस्य स्थापित करते हुए प्रस्तुत करता है। वह इन पात्रों को ऐसे सन्दर्भों में उपस्थित करता है जिससे उनके प्रति हमारी सहानुभूति इस रूप में उभरती है, जैसे वे मानव अनुभव की गम्भीर समस्याएँ हों। अतः उपन्यासों को मानव अनुभव का ही वास्तविक प्रतिबिम्ब होना चाहिए।

उपन्यास में एक अर्थ गाम्भीर्य भी होता है, जो बौद्धिकता के परिवेश में सन्निहित उपन्यास की पृष्ठभूमि में रहता है। उपन्यासकार को सुधारक एवं उपदेशक होने का दावा छोड़कर यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में कला का ध्यान रखना चाहिए। यदि वह उपदेशक एवं सुधारक के रूप में बार-बार उपन्यास के बीच में उपस्थित होगा, तो संभव है, उसमें स्वयं जीवन की ही भाँति

नैतिकता के यथार्थ मानदण्ड न उभर सकें। एक उपन्यासकार को किसी नैतिक उद्देश्य को महत्व देने के बजाय यथार्थ कला को अधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि पूर्ण सजगता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया जाने वाला यथार्थवाद अपने साथ स्वयं नैतिकता के मानदण्ड विकसित करता है। नैतिक मानदण्ड उपस्थित करने का यह कोई ढंग नहीं है कि उपन्यास में लेन-देन का कोई खाता खोल दिया जाय जो उपन्यास लिखे जाने के पूर्व ही वांछनीय एवं अवांछनीय—दोनों ही प्रकार के पात्रों को समाप्त कर देगा। यह यथार्थवाद के सत्य प्रस्तुतीकरण में भी गम्भीरता-पूर्वक हस्तक्षेप करता है। नैतिकता के ऊँचे मानदण्ड उपस्थित करनेवाले उपन्यासों के साथ कठिनाई यह है कि वे मानव जीवन एवं अनुभवों के यथार्थ चित्र किसी भी रूप में नहीं बन पाते, वरन् एक सुनिश्चित योजना के स्वयं चालित चित्र बन जाते हैं, जिनका सूत्रधार उपन्यासकार रहता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य उपन्यास में अच्छाइयों एवं आदर्शों की किसी-न-किसी रूप में विजय चित्रित करना होता है। उपन्यास में किसी मानव आदर्श या धार्मिक भावनाओं को कार्य-व्यापार के रूप में ही प्रस्तुत करना चाहिए—उन्हें उपन्यास में हस्तक्षेप करने की अनुमति न देनी चाहिए—यथार्थता इससे खण्डित होती है। एक उपन्यास का अन्त उच्च नैतिकता एवं आदर्श से परिपूर्ण तभी स्वीकारा जा सकता है, जब लेखक उसकी घटनाओं, प्रसंगों एवं पात्रों का संयोजन अपना अपूर्व औपन्यासिक कौशल प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार करता है कि उसके चित्रित अन्त के अतिरिक्त कोई और अन्त हो ही नहीं सकता—इसका पाठकों को विश्वास हो जाय। यह महान् यथार्थवादी उपन्यासकारों का यथार्थ से परिपूर्ण उपन्यास शिल्प एवं उनकी सजग सामाजिक चेतना, सामाजिक जवाबदेही तथा पूर्ण कलागत ईमानदारी ही है जो उपन्यास को मनोरंजन के सस्ते स्तर से उठाकर यथार्थ से परिचित कराने, आँखें खोलने और विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले गम्भीर माध्यम के ऊँचे स्तर तक पहुँचा देती है।

किन्तु यथार्थवाद ने कुछ समस्याएँ उपस्थित कर दीं, जो यदि नैतिकता से नहीं तो सुरुचि से सम्बन्धित हैं और जिन्होंने इसके क्षेत्र को व्यापकता प्रदान कर जीवन के उन क्षेत्रों को भी ग्रहण किए जाने का आग्रह प्रकट किया, जिसके प्रति उपन्यास की आँखें बन्द रहती थीं। यह स्वीकारना

पड़ेगा कि स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) ने केवल अच्छाइयों एवं शुद्धता से ही अपना सम्बन्ध बनाए रक्खा। यदि उपन्यासों के क्षेत्र में यह विधान नहीं है कि वे नैतिकता एवं आदर्शों की शिक्षा दें तो उसके साथ ही यह भी विधान नहीं है कि वे अनैतिकता एवं विकृतियों का प्रसार करें। यथार्थवादी उपन्यास जो कर सकते हैं--और सचमुच उन्होंने यही किया भी है—वह यह कि वे गम्भीर एवं ज्वलंत समस्याओं के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करें। मानवीय भावनाओं पर उपन्यास क्या प्रभाव डाल सकते हैं, वह ऐसे यथार्थवादी उपन्यासों से स्वयंमेव स्पष्ट हो जाता है। उपन्यासकार का सामाजिक उद्देश्य विकृतियाँ प्रस्तुत करते समय यही रहता है कि सामाजिक समस्याएँ उपन्यास में किस प्रकार उठाई जाएँ। उपन्यास यद्यपि तथ्यों पर ही आधारित रहते हैं, पाठकों की भावनाओं पर गहरा प्रभाव डालते हैं। अतः उपन्यासकार को यदि वह जीवन का यथार्थ चित्रण करना चाहता है, तो समाज की ज्वलन्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं में से उसे इतनी पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सकती है कि उसका उद्देश्य पूर्ण हो सके। पर जैसे कि नैतिकता को उपस्थित करते समय यथार्थ सत्यों का ध्यान रखना आवश्यक होता है, वैसे ही उपन्यास में सामाजिक समस्याओं को भी सौन्दर्यमूलक सीमाओं के परिवेश में ही स्थान मिलना चाहिए। सामाजिक समस्याओं को यथार्थ पूर्ण ढंग से निभाना इतना कठिन होता है कि बहुत से उपन्यासों में यदि नैतिकता कथानक के साथ पृष्ठभूमि में कदम-से-कदम मिलाती हुई चलती नहीं प्रतीत होती, तो उसका यही कारण है कि उपन्यासकारों की भाग्यवादी भावना स्वयं नैतिकता को ही पलायनवादी बना देती है। नैतिकता के यथार्थ चित्रांकन के सम्बन्ध में दूसरी बात यह आवश्यक है कि राजनीतिक और सामाजिक जीवन में ऐसी अनेक लज्जाजनक बातें हैं जो पूर्णतया अशोभन हैं। इनका चित्रण उपन्यास में बड़ी सतर्कता से करना चाहिए। इन्हें संकेतों के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। पर यदि उन्हें विशेष रूप में उपस्थित करना आवश्यक हो ही जाय तो उसका प्रस्तुतीकरण इस रूप में होना चाहिए कि उसमें पाठक भी भाग ले सकें और उसे कुछ बेहतर रूप में होना चाहिए। एक अच्छे कलात्मक परिणाम के लिए यह निश्चित रूप से अनिवार्य होता है। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि उपन्यास को उन पर ही अधिक बल न देते हुए उन्हें

यथार्थ ढंग से जैसी कि वे हैं, प्रस्तुत कर देना चाहिए, क्योंकि उपन्यासकार का काम दलील देना नहीं है।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह रह जाती है कि प्राय: हम देखते हैं कि उपन्यास समाचार-पत्रों का रूप धारण कर लेते हैं और उनमें हाल के मानव अनुभवों का व्यौरा भर दिया जाता है। उपन्यासकार को इस बात की जैसे बहुत जल्दी होती है कि वह उन बातों का चित्रण शीघ्रता से कर दे, जो लोग अभी करते ही रहते हैं और जो समाप्त भी नहीं होने पातीं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कला का एक सर्व-प्रमुख उद्देश्य स्थायित्व का होता है और जब लेखक जानबूझ कर किसी विशेष उद्देश्य को तुरन्त ही चित्रित करना चाहता है तो उस विशेष समय के निकल जाने के पश्चात् उसकी कृति की भी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। उपन्यास इस प्रकार जल्दी में किसी बात पर राय देने या राय लेने की कोई मशीन नहीं है जो ऐसे लोगों की परवाह करे या उनकी पात्रों के रूप में परिकल्पना करे, जब तक कि वे सब लोगों द्वारा प्रकट किए जाने वाले मतों का प्रतिनिधित्व न करने लगें और वे बातें भी एक अन्तिम रूप न ग्रहण कर लें। एक उपन्यास की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है, जबकि पाठकों की चेतना उसके पात्रों को शीघ्र ही विस्मृत कर दे और उनके पल्ले केवल कुछ सिद्धान्त ही लगें। यथार्थवाद के अनुसार यथार्थ की पवित्रता से अभिप्राय वृद्धि प्राप्त सामाजिक जवाबदेही से ही होता है। उनके लिए जो यथार्थवाद को केवल एक ढंग समझते हैं, इसका अभिप्राय एक वैज्ञानिक प्रक्रिया से है। हमारे अधिकांश उपन्यासकार यथार्थवाद का वास्तविक महत्व न समझते हुए ऐसे साहित्यिक मिश्रण की खोज में अनुसंधानकर्ता बन जाते हैं, जिसके माध्यम से वे हमारे सामने जीवन की हर बातों का नमूना उपस्थित कर सकें। वे एक फॉर्मूला रखने का प्रयत्न करते हुए इस प्रकार का पोज करते हैं, जैसे कि हमारे ऊपर बहुत एहसान कर रहे हैं। वे यथार्थ से इस प्रकार मुँह मोड़कर कृत्रिमता की ही आत्मसात करते हैं।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में यथार्थवाद का आंशिक चित्रण प्रारम्भिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था और उसका पर्याप्त विकास प्रेमचन्द एवं उनके समकालीन उपन्यासकारों ने ही किया था, पर शुद्ध यथार्थवादी उपन्यास लिखने की परम्परा का प्रारम्भ प्रेमचन्द के बाद ही हुआ, जब 'गिरती

दीवारें', 'गर्म राख', 'पत्थर-अलपत्थर', 'शहर में घूमता आईना', (उपेन्द्रनाथ अश्क); 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'झूठा-सच', 'पार्टी कामरेड', (यशपाल); 'सागर लहरें और मनुष्य', 'लोक-परलोक', 'शेष-अशेष', (उदयशंकर भट्ट); 'बूंद और समुद्र', 'महाकाल' (अमृतलाल नागर); 'पतन', 'आखिरी दाँव', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'भूले-बिसरे चित्र', (भगवतीचरण वर्मा); 'भूदान', 'यथार्थ से आगे', (भगवतीप्रसाद वाजपेयी); 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', (फणीश्वरनाथ रेणु); 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बरुण के बेटे', 'हीरक जयन्ती', 'उग्रतारा', (नागार्जुन); 'जंगल के फूल', (राजेन्द्र अवस्थी); 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'सारा आकाश', (राजेन्द्र यादव); 'अन्धेरे बन्द कमरे', (मोहन राकेश); 'तुमने मुझे पुकारा तो नहीं', 'एक और अजनबी', (सुरेश सिनहा); 'रात चोर और चाँद', 'काले कोस', 'एक मामूली लड़की' तथा 'रावी पार', (बलवन्त सिंह); 'हिरना साँवरी', 'रात खो गई', 'टूटा व्यक्तित्व', (मनहर चौहान); तथा 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', 'डाक बंगला, 'लौटे हुए मुसाफिर', (कमलेश्वर); आदि यथार्थवादी उपन्यासों की रचना हुई। यद्यपि इनमें से अनेक उपन्यासों की भी अपनी सीमाएँ हैं। किसी में मनोविश्लेषण की, किसी में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, किसी में मार्क्स-वादी सिद्धांतों का आधिक्य और किसी में अन्य ऐसी ही अनेक बातों का प्राधान्य हो गया है, पर जहाँ तक जीवन के यथार्थ चित्रण का प्रश्न है, ये सभी उपन्यास यथार्थवादी ही हैं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यास यहाँ तक कि 'गोदान' भी आदर्श से अनुप्राणित है, इसीलिए वे यथार्थवादी नहीं हैं। पुराने उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा ने 'अमरबेल' 'कभी न कभी', 'संगम' आदि अनेक यथार्थवादी चित्रण करनेवाले उपन्यासों की रचना की है। इस प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, उदयशंकर भट्ट, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, सुरेश सिनहा तथा राजेन्द्र अवस्थी आदि पुरानी और नई पीढ़ी के ऐसे ही कुछ उपन्यासकार हैं, जो अपने उपन्यासों में यथार्थवाद के सफल चित्रण का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके हाथों में यथार्थवाद का भविष्य हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में उज्ज्वल है, साथ ही सुरक्षित है, यह निश्चित है।

आदर्शवाद

आदर्शवाद की व्याख्या करते समय प्रायः कहा जाता है कि सृष्टि पूर्ण रूप से मस्तिष्क की प्रक्रिया है। अथवा उसकी सत्ता प्रतिकृति है। मस्तिष्क और मूल्यों के मध्य अविच्छिन्न सम्बन्ध रहते हैं, इसीलिए आदर्शवाद को सरलता से मूल्यों के भाषानुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति कहा जाता है। इसे प्लेटो की धारणानुसार अच्छाइयों का विचार भी कहा जा सकता है। वस्तुतः आदर्शवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अनुसार इस सृष्टि में इन विशेषताओं को, जो अत्युत्तम उपयोगी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल स्वीकृत हैं, अत्यन्त व्यापक एवं चरम रूप प्रदान कर विस्तृत पृष्ठभूमि पर निरन्तर उच्च स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। इन विशेषताओं को व्यष्टि से समष्टि की ओर गतिशील कर जन-मानस में सर्वव्यापी ढंग से उसका विकास कर कल्याणकारी भावनाओं का विकास करना ही आदर्शवाद का मूल उद्देश्य होता है।

प्लेटो के अनुसार भावनाओं का जगत् यथार्थ संसार नहीं है जिसे हम विचारों की संज्ञा से विशेषतः अच्छाइयों के विचार से अभिहित करते हैं—वही यथार्थ है और गहन् एवं अधिकारिक ज्ञान मानवीय चेतना की एकता को पूर्व ज्ञात वस्तुओं से सम्बन्धित करते हैं। प्रतिभाशाली सृष्टि निश्चय ही आदर्शवादी सृष्टि के समानार्थक होनी चाहिए। इस प्रकार प्लेटो का 'आदर्शवादी' संसार ही सत्य संसार है और 'ज्ञान' का मुख्य उद्देश्य (राय के विरुद्ध) सदैव ही आदर्शवादी होता है। आदर्श से ज्ञान के उद्देश्यों का आविर्भाव नहीं होता, वरन् इसके माध्यम से सत्य एवं अनिवार्य अस्तित्व से भी सम्बन्धित होते हैं। यहाँ यह तथ्य स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्श-वाद वस्तुतः दर्शन का ही एक रूप है।[1] आदर्शवाद उस सत्य से अनुप्राणित

---

1 "Idealism is the phoenix of philosophy and any philosophy reckons ill that leaves it out. The imperishable element in idealism is the curious fact that, in so far as its essence is concerned, whenever we deny it we somehow affirm it. It was for this reason that Royce (एक पाश्चात्य विद्वान) liked to hear condemnations and refutations of idealism for they

है, जो समस्त भौतिक जगत में कुत्सित वृत्तियों के नाश और सात्विक प्रवृतियों की विजय उद्‌घोषित करता है। आदर्शवाद का मूल स्वरूप इन्हीं सात्विक प्रवृत्तियों की व्यापकता पर ही निर्मित होता है, जो मानव के चारित्रिक विकास, उसकी चित्तवृत्तियों का एक सामान्य स्तर पर सामूहिक कल्याण की विषद भावना की ओर दिशोन्मुख करने, समष्टि की व्यष्टि पर विजय एवं वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना के विस्तार तथा पाप, घृणा एवं असत्य के पूर्णतया नष्ट होने की भावना पर आधारित है।

अत: आदर्शवाद का मूल स्तर मस्तिष्क एवं यथार्थ और चेतना के समन्वय से नहीं सम्बन्धित है।[1] विश्व की जितनी भी महत्वपूर्ण सभ्यताएं हैं, उनकी पृष्ठिभूमि में आदर्शवाद ही क्रियाशील रहा है। वह केवल निर्माण तक ही नहीं सम्बन्धित है, बल्कि एक क़दम आगे बढ़कर व्यापक सुधार की अनिवार्यता पर बल देता है और मानवीय आत्मबल के विकास एवं मानव सुधार की आवश्यकता सिद्ध करता है। अपनी इसी प्रमुख सृजनात्मकता के कारण वह केवल मानव जीवन को ही निर्माण एवं विकास की ओर दिशोन्मुख नहीं करता, वरन् प्रत्येक ज्ञान एवं दर्शन के मूल स्तर एवं आत्मा का भी स्पष्टीकरण सशक्त, स्वरों में करता है। स्वाभाविक आदर्शवाद जीवन का वह महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसमें मानवीय आत्मा अपने अमरत्व की माँग करती है और मूल्य मर्यादा युक्त परिवेश में निरंतर गौरव एवं आत्मसम्मान की रक्षा की दिशा में अग्रसर होती है।

प्रत्येक राष्ट्र समाज, संस्कृति एवं सभ्यता की प्राचीन मान्यताएँ, परम्पराएँ एवं गौरवशाली मर्यादाएँ होती हैं। यद्यपि दृष्टिभेद की स्वाभा-

---

served only to bring out more clearly the inrefutable element in idealism".

—लुडविज स्टीन : लेक्चर्स ऑव मॉडर्न आयडियलिज्म, पृष्ठ २४०

1 "The driving force if idealism, as I understand is not furished by the question how mind and reality can meet consciousness, but by the theory of logical stability (Italics mine) which makes it plain that nothing can fulfill the conditions of self existence except by possessing the unity that belongs only to mind".

—बोसांके : लॉजिक, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ३२२

विकता के कारण अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की तुलना में अन्य राष्ट्रों एवं समाज की सभ्यता एवं संस्कृति हमें अधिक महत्वपूर्ण न जान पड़े, ऐसा सम्भव हो सकता है। पर हमें यह सदैव ही स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक राष्ट्र और समाज अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कभी भी मूल्यहीन नहीं समझता और वहाँ के लेखक अपनी इन्हीं गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादापूर्ण मान्यताओं को अपने साहित्य में जीवित करने और शताब्दियों तक अग्रसर करने का प्रयत्न करते हैं। कहना न होगा, इस प्रक्रिया में उपन्यास ही सर्वाधिक सहायक सिद्ध होते हैं। आदर्शवादी उपन्यासकार अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादापूर्ण मान्यताओं के प्रति गहन रूप में अस्थावान् होते हैं और किसी भी रूप में उनका खण्डन-मंडन अथवा तिरस्कार एवं अस्वीकृति उन्हें सह्य नहीं होती। वे उनकी महत्ता सिद्ध करने एवं उनकी उपयोगिता स्पष्ट करने के लिए ही कथानक का ताना-बाना बुनते हैं और अपने मंतव्य को तर्कों-सहित उपस्थित करते हैं। वे इस सम्बन्ध में यथार्थ की उपेक्षा करते और उसकी तरफ़ से आँखें बन्द किये रहते हैं। उदाहरण-स्वरूप प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में सुमन का चरित्र आदर्शवादी ढंग से विकसित कर भी उसका समाधान आदर्शवाद में खोजा है और यथार्थवाद को पूर्णतया भुला दिया है। उसका विवाह सदन सिंह से इसीलिए नहीं होता इसके कारण स्पष्ट हैं। तब की परिस्थितियों में वेश्या-विवाह के लिए तमाम अपील और लेक्चरबाजी के बावजूद भी वेश्या-विवाह सामाजिक रूप से मान्य नहीं हो पाये थे। प्राचीन भारतीय परम्पराओं में भी इसका समर्थन कहीं नहीं था इसीलिए प्रेमचन्द ने अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद इसके लिए एक सुधार आश्रम की स्थापना करवा दी है। वस्तुतः यह कुछ और नहीं लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है जो उसे यथार्थ की कठोर या स्वाभाविक भूमि पर आने से रोकती है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है आदर्शवादी लेखक समाज में कुत्सित वृत्तियों का पूर्ण नाश और सात्विक वृत्तियों की पूर्ण विजय चाहता है। वह समाज में नैतिकता का पूर्ण उत्थान एवं मंगलकारी भावनाओं का पूर्ण प्रसार चाहता है, जिससे समाज निरन्तर सत्पथ पर अग्रसर होता रहे, सभी का जीवन सुखी एवं समृद्ध रहे, सभी को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त हो और सभी आपसी सहयोग एवं सहानुभूति पूर्ण वातावरण में जीवन जी सकें। किशोरी

लाल गोस्वामी ने अपने अनेक उपन्यासों में इसी आदर्शवादी विशेषता का परिचय देते हुये कुत्सित पथ पर चलने वाले अनेक पात्रों की मृत्यु कुष्ट आदि रोगों से पीड़ित होते हुए तथा जीवन में अनेक दारुण दुख झेलते हुये चित्रित किया है।

आदर्शवाद की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता तो यह है कि वह कटु यथार्थ का पूर्णतया तिरस्कार करता है। वह कभी नहीं स्वीकारता कि आज का मानव जीवन पूर्णतया खण्डित है। मूल्य एवं मर्यादाएं बिखर रही हैं। विचित्र सी कटुता, अनमापी कथा, विषाद की तीखी प्रतिक्रियाएं मानव जीवन पर गहन रूप से आच्छादित हो रही हैं। सर्वत्र घृणा, असत्य एवं पाप का प्रसार हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ एवं प्राप्त आशा के पीछे स्वयं अपने आप को भूलता जा रहा है। वह खुदगर्जी के पीछे यह भूल गया है कि वह किसी को कुछ दे सकता है, दूसरे के मस्त एवं अपूर्ण जीवन को अपनी सहानुभूति से पूर्ण बनाने का छोटा-सा प्रयत्न भी कर सकता है। इन सब सामाजिक विकृतियों ने आज के मानवीय जीवन को विचित्र-सी दिशा प्रदान कर उसे कटुता से इतना विषाक्त कर दिया है कि सहज सम्भाव्य रूप में उसका जीना भी दुर्लभ हो गया है। आदर्शवाद जीवन की इस पीड़ादायक स्थिति का पूर्ण तिरस्कार कर भावुकता की काल्पनिक पृष्ठभूमि पर एक ऐसे स्वप्निल संसार की सृष्टि करने का प्रयत्न करता है जिससे सर्वत्र आनन्द तत्व ही संचारित होता रहे, सभी को सुख एवं संतोष की उपलब्धि होती रहे और पीड़ा एवं असहनीय व्यथा का कहीं नामोनिशान भी न हो। आदर्शवादी अपनी इस प्रवृत्ति का पोषण करते हुये यह तर्क उपस्थित करते हैं कि उनका इस सम्बन्ध में यथार्थवाद की अपेक्षा करना बुद्धि-हीनता का परिचायक नहीं-है। सत्य तो यह है कि हमारा जीवन निरन्तर कटुता एवं विषाद की छत्र-छाया में ही पलता है और हम बराबर असंतोष में ही जीते हैं। जब हम दिन भर इसी विषक्त वातावरण में श्रान्त-क्लांत होकर अवकाश पाने पर थोड़ा मनोरंजन करने और सरसता प्राप्त करने के लिए उपन्यासों की ओर मुड़ते हैं और यदि वहाँ भी उसी कटुतापूर्ण वातावरण की भयंकर छाया प्रतिध्वनित होती रहेगी तो पाठक रोष में आकर पुस्तक एक ओर पटक देगा। इस प्रकार उपन्यासों का महत्व शून्य हो जायगा। अत: उपन्यासों को लोकप्रिय बनाने एवं उनके महत्व की वृद्धि के लिए आदर्शवाद का प्रश्रय लेना अनिवार्य

सा हो जाता है इसीलिए यथार्थवाद की उपेक्षा प्रायः कर दी जाती है। पर यदि तर्क-पूर्ण ढंग से आदर्शवादियों की इस धारणा की परीक्षा की जाय तो उनका दावा पूर्णतया निराधार एवं तर्कहीन सिद्ध हो जायगा। यह सत्य है कि दिन-भर पीड़ादायक एवं असंतोष-पूर्ण परिस्थितियों में कार्य करने के पश्चात् अवकाश प्राप्त करने पर व्यक्ति उपन्यास-पठन की ओर प्रवृत्त होता है, पर यह सत्य नहीं है कि ऐसा वह केवल मनोरंजन के लिए करता है। साथ ही यह भी सत्य नहीं है कि उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य मनोरंजन एवं आनन्द तत्वों का प्रतिपादन ही होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य सृजनात्मक होता है और जीवन की यथार्थता एवं सत्यता से परिचित कराना, व्यक्ति व्यक्ति के मध्य निकट सामीप्य स्थापित करना और मनुष्य के असंतोष एवं पीड़ादायक परिस्थितियों में आशा और विश्वास उत्पन्न कर निर्माण की ओर दिशोन्मुख करना ही होता है। मनोरंजन उपन्यास रचना की प्रक्रिया का केवल एक अंश हो सकता है, अन्तिम उद्देश्य नहीं। वस्तुतः जीवन की सत्यता से मुख मोड़ना अपने आप से ही नहीं सारे राष्ट्र एवं समाज को गुमराह करना होता है। उपन्यासकार का वास्तविक दायित्व मानव जीवन की सत्यता एवं स्वाभाविकता से पाठकों का निकट तादात्म्य स्थापित करना होता है और इस कर्तव्य एवं दायित्व की उपेक्षा करना कला के प्रति जबर्दस्त विश्वासघात होता है। लेखक अपने दृष्टिकोण में आदर्शवादी हो सकता है पर आदर्शवाद का यह उद्देश्य कदापि नहीं होना चाहिए कि वह सत्य और यथार्थ से आँखें मूँद कर एक नितान्त यान्त्रिक, अस्वाभाविक एवं काल्पनिक जगत में अपने पाठकों को ले जाए और विचित्र सी भूल भुलैया में डाल कर उन्हें एक स्वप्निल नशे से उन्माद-ग्रस्त और दिग्भ्रांत करे। इसका प्राप्य क्या होगा? यदि उपन्यास जीवन को गतिशीलता प्रदान करने एवं दिशोन्मुख करने के साधन हैं तो क्या उसे भ्रमपूर्ण मरीचिकाओं में, जो अवास्तविकताओं से आच्छादित है ले जाने से ही इस दायित्व की पूर्णता होगी? और यदि नहीं, तो फिर प्रेमाश्रम, सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, परख, प्रेमपथ, निमंत्रण और पतिता की साधना जैसे उपन्यास किस आदर्श की पूर्ति करते हैं? ये सभी उपन्यास जिस आदर्श की स्थापना करते हैं, अगर वैसी स्थिति समाज में स्थापित हो जाय तो उससे अच्छी और कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। पर जिस प्रक्रिया के दौरान से

होकर ये उपन्यास विभिन्न आदर्शों की स्थापना करते हैं, क्या इस सृष्टि में वे सहज सम्भव हैं—अब इस प्रश्न पर हम विचार करने को प्रस्तुत होते हैं, तो अपने को निरे शून्य की स्थिति में पाते हैं। वे आध्यात्मिक जगत की बातें तो हो सकती हैं, पर निश्चय ही इस सृष्टि की नहीं, जिसमें हम साँस ले रहे हैं, जी रहे हैं।

आदर्शवाद न्यायपूर्ण मान्यताओं एवं विचार-धाराओं के प्रति गहनतम आस्था रखता है और अन्याय का दमन कर न्याय की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकार करता है। इस न्याय-पक्ष की विजय के सम्बन्ध में आदर्शवादी इतना आश्वस्त रहता है कि उसे अपनी आत्मा का हनन कर आत्म प्रवंचना का शिकार बनने में भी कोई संकोच नहीं होता। इस संदर्भ में उसे आत्म-सम्मान और आत्मगौरव का किंचितमात्र भी ध्यान नहीं रहता और एक प्रकार से वह न्याय की भीख माँगता है। वस्तुतः न्याय क्या है ? न्याय की मान्यताएँ भी समाज और काल की दृष्टि से परिवर्तनशील हैं। पहले बाल-विवाह न्याय था, आज बाल-विवाह नियमोल्लंघन है। रूसो ने एक स्थल पर लिखा है, पहले (लगभग १७वीं शताब्दी में) नारियों का सुन्दर होना ही उनके अच्छे भाग्य एवं जीवन के लिए अनिवार्य माना जाता था। उन्हें ही प्रत्येक क्षेत्र में प्राथमिकता दी जाती थी और उन्हें ही थोड़े-बहुत अधिकार प्राप्त थे। तब की स्थिति में नारी का अतीत सौंदर्य ही न्याय था, पर आज कोई ऐसी बात सोच भी नहीं सकता। हो सकता है कि शीघ्र ही कोई ऐसी व्याख्या आए (और निश्चय ही आएगी) जब मृत्यु दण्ड और अन्य दण्डों के स्थान पर सुधार करने के अनेक मनोवैज्ञानिक ढंग अपनाए जाने लगें। यह अवश्य है, इसमें शताब्दियाँ लग सकती हैं। इसी परिवर्तनशील न्याय के लिए आदर्शवादी दुहाई देता फिरता है। वह कहता है, व्यक्ति जूते खाता रहे, पर उसे न्याय-पक्ष की विजय की आशा कभी नहीं छोड़नी चाहिए क्योंकि अन्त में न्याय-पक्ष की विजय होगी ही। रंगभूमि में सूरदास ऐसा ही पात्र है, जो निरन्तर दुःख के थपेड़े खाते रहने पर भी न्याय-पक्ष की विजय का दामन कभी नहीं त्यागता। 'गोदान' में भी होरी की यही स्थिति है। पर यह विशेषता भी एक काल्पनिकता से सम्बन्धित है। संसार में सदैव न्याय-पक्ष की विजय नहीं होती है और आज की परिवर्तित परिस्थितियों में तो सत्य एवं न्याय से बढ़कर खोखले और कोई शब्द नहीं हैं। यह ठीक है कि सदैव

न्याय की विजय होनी चाहिए, पर यह दूसरी बात है। जहाँ तक उपन्यासों का सम्बन्ध है, यदि न्याय-पक्ष की विजय, कथानक के स्वाभाविकता की रक्षा के साथ होती है, तो किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती, पर यदि यह सब यांत्रिक ढंग से होता है तो वह विवेक हीनता मात्र है।

आदर्शवाद का पात्रों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदर्शवाद अपनी धारणाओं एवं मान्यताओं के अनुसार ऐसे पात्रों की परिकल्पना पर बल देता है जो उपर्युक्त विशेषताओं से तो सम्पन्न हों ही, साथ ही उनमें चारित्रिक निष्ठा भी हो और उनका चरित्र दुर्बल तत्वों से पोषित न हो। आदर्शवादी यह नहीं चाहता कि उनके द्वारा सिरजे गए पात्र परिस्थितियों से विवश होकर अनैतिकता की राह अपनाए, हत्या करे, चोरी करे, असत्य बोले, स्वयं भी गुमराह हो, आर दूसरों को भी गुमराह बनाए। असत्य पक्ष को अपनाकर जीवन के उन दुर्बल पक्षों को आत्मसात करे, जो मानवतावादी दृष्टिकोण से नितान्त रूप से भी मेल न खाती हों। आदर्शवादी पात्र कुछ इस प्रकार का होगा कि संसार की सभी आदर्शवादी मान्यताएँ उसमें सिमट आएगी और वह प्रकाश के किसी देदीप्यमान पुंज की भाँति चमत्कृत होता रहेगा। उसके जीवन का सात्विक पक्ष इतना प्रबल होगा कि किसी भी प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियाँ उसके निकट नहीं आती प्रतीत होंगी और वह सद्प्रवृत्तियों का एक पुतला मात्र बन कर रह जायगा। स्पष्ट है, ऐसा पात्र स्वाभाविकता की सभी सीमाएं लांघ जायगा और हमारे सामने एक स्वप्निल संसार का निर्माण करेगा। पर न तो कोई व्यक्ति-मात्र सात्विक प्रवृत्तियों से ही ओत-प्रोत रहता है और न किसी व्यक्ति में केवल आसुरी प्रवृत्तियां ही आसन जमाए रहती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या तो केवल देवता ही बनकर रह जायगा या मात्र असुर। ऐसे पात्र इस मानवीय सृष्टि के पात्र नहीं हो सकते यह सुनिश्चित है। यों संभव है कि अपवादों के रूप में कहीं कोई ऐसा व्यक्ति निकल आए, पर उपन्यासकार का यह दायित्व नहीं है कि वह केवल इन अपवाद स्वरूप पाए जाने वाले व्यक्तियों को चित्रण का आधार बनाए और उपन्यास की रचना क्रिया में प्रवृत्त हो। कथा का वैशिष्ट्य सामान्य व्यक्तियों के यथार्थ चित्रण में है, अपवाद-स्वरूप पाए जाने वाले व्यक्तियों के अस्वाभाविक चित्रण में नहीं। इस दृष्टिकोण से जब हम हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करते हैं तो पूर्व प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल में ऐसे अस्वाभाविक आदर्श-

वादी पात्रों का बाहुल्य प्राप्त होता है। पर यहीं यह स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इन पात्रों की सृजनात्मकता की पृष्ठभूमि में आदर्शवादी मान्यताएँ क्रियाशील थीं, यह तो ठीक है, पर उन परिकल्पनाओं का प्राप्य क्या हुआ ? इस प्रश्न पर हमें साहित्य एवं समाज दोनों के ही संदर्भ में व्यापक दृष्टि से विचार करना होगा। ऐसे आदर्शवादी पात्र जीवन और जगत् को अपने आदर्शों से चमत्कृत अवश्य ही कर सकते हैं और कुछ थोड़े से भावुक व्यक्तियों की मन:स्थिति को प्रभावित भी कर सकते हैं, पर स्पष्टतः वे यथार्थ से कोसों दूर रहते हैं और कभी-कभी तो लेखक की विवेक शून्यता की स्थिति में वे पात्र अस्वाभाविकता की भी चरम सीमा स्पर्श कर जाते हैं। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग के पाठकों के लिये ये आदर्शवादी पात्र कुछ विशेष महत्व नहीं रखते। क्योंकि यह तो स्पष्ट रहता ही है कि ऐसे पात्रों के चरित्रों में जो भी परिवर्तन होते हैं सभी यान्त्रिक होते हैं और स्वयं पात्रों का उन परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। यह बात सदैव ही स्मरणीय है कि साहित्य में वही पात्र शाश्वत होते हैं एवं युग-युगों तक अमर रहते हैं, जो मानव जीवन की सत्यता के प्रतीक होते हैं तथा जिनका ताना-बाना स्वाभाविकता के परिवेश में निर्मित होता है। इसे हम दूसरे शब्दों में यथार्थवादी प्रक्रिया की कला कह सकते हैं। जो तथ्य यथार्थ से दूर है, वह जीवन से भी दूर है और इसीलिए वह जीवन-महत्व शून्य है।

इस विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि आदर्शवाद विषय-वस्तु तथा भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मूल सत्य को अधिक महत्व प्रदान करता है। उसकी दृष्टि बौद्धिकता पर आधारित है। जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को अत्यधिक उल्लेखनीय स्थान प्रदान करने के कारण वह आध्यात्मिक भी है। हमारे चारो ओर के परिवेश में जो दृश्यमान जगत् स्थित है, वह किसी चेतन सत्ता की सृष्टि है, आदर्शवाद यह स्वीकार करता है। वह मानव जीवन के आन्तरिक पक्षपर अधिक बल प्रदान करता है। जीवन का आन्तरिक पक्ष में मानसिक सुख, प्रसन्नता, परितोष एवं आनन्द की गणना की जाती है। मनुष्य जब तक आन्तरिक सुख नहीं प्राप्त कर लेता उसका जीवन अव्यवस्थित रहता है। उसे वास्तविक आनन्दोपलब्धि भी नहीं होती। आदर्शवाद उन्हीं मानव मूल्यों को ग्रहण करता है, जो कल्याणकारी हैं, शुभ संदेश सूचक है, एवं सृजनात्मक हैं। आदर्शवाद भाव और कला की निरन्तर ऊँचायियों को स्पर्श करने का प्रयत्न

करता है। उसकी प्रवृत्ति मुख्यतया अन्तर्मुखी है, इसीलिए उसकी चेतना कभी-कभी आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी सीमा तक पहुंच जाती है जो उसे स्वाभाविकता से दूर हटाकर कृत्रिमता के परिवेश में पहुंचा देती है। आदर्शवाद उच्च नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सौन्दर्यपरक प्रतिमानों को स्वीकार करके उन्हीं के अनुसार जीवन और समाज को नए साँचे में ढालकर उनका रूप-विधान परिवर्तित करने की प्रेरणा देता है। आदर्शवाद का मूल स्वर नैतिक होता है। यह आदर्शवादी नैतिकता किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति की मूलात्मा होती है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने वर्तमान से संतुष्ट नहीं होता और अपने जीवन और समाज को महती आदर्शों की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। उसकी यह प्रवृत्ति नैसर्गिक है। टॉलस्टॉय, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, रोम्याँ रोलाँ, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि साहित्य के माध्यम से इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन करते रहे। प्रारम्भ में इस प्रवृत्ति का प्रभाव वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, निराला, जैनेन्द्रकुमार, सियाराम शरण गुप्त आदि पर भी था। पर यह प्रभाव आंशिक रूप में ही था। आगे चल कर इन सभी ने यहाँ तक कि स्वयं प्रेमचन्द ने ही 'गोदान' में इन मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया था।

आदर्शवाद की प्रमुख विशेषताओं पर इस निष्कर्ष के पश्चात् हम यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर सकते हैं कि क्या इन अनेक दुर्बलताओं के बाद भी आदर्शवाद को पूर्णतया तिरस्कृत किया जा सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है। जैसा कि ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आदर्शवाद नैतिक मान्यताओं, संस्कृति, सभ्यता एवं आदर्शों के ही स्तम्भों पर आधारित है। जो साहित्य मूल मर्यादा रहित है, आदर्शयुक्त है, वह हमारे लिए मूल्य-हीन है। प्रत्येक शाश्वत साहित्य किसी उच्च आदर्श को सामने रख कर ही रचा जाता है और तभी उस साहित्य का कोई वास्तविक मूल्यान्वेषण हो सकता है। पर इस आदर्श की रक्षा या प्रस्तुतीकरण का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आदर्श का आवरण साहित्य पर इतने गहन रूप से आच्छादित हो जाय कि उसकी सीमाओं के बन्धनों में साहित्य का दम घुटने लगे और उपयुक्त वायु में श्वास ग्रहण करने के लिए उसकी आत्मा छटपटाने लगे। अनावश्यक नियंत्रण साहित्य को बोझिल कर देता है, उसका गला घोंट देता है, शाश्वतता के लिए आदर्श को यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होने का प्रयत्न करना होगा, तभी

रचा गया साहित्य मूल्य मर्यादा युक्त भी होगा, साथ ही उसमें स्थायित्व भी होगा। हमें यह बात सदैव ही स्मरण रखनी होगी कि सर्वत्र आदर्श ही आदर्श से व्याप्त साहित्य मूल्य-हीन है, क्योंकि आज का हमारा मानव जीवन भी इस आदर्श से कोसों दूर है। आज का मानव जीवन कहीं से पूर्ण नहीं है। वह निम्नलिखित है, जर्जर है और विवशता की प्रक्रिया में जीने की एक प्रक्रिया-मात्र है। साहित्य कभी भी इस यथार्थ एवं सत्य के प्रति उपेक्षणीय नहीं रह सकता। वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना आदर्श एवं यथार्थ के परस्पर समन्वय से ही हो सकता है।

समाजवादी यथार्थवाद

यथार्थवाद का चित्रण जब लेखक समाजवादी दृष्टिकोण से करता है, तो वह समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) कहलाता है। समाज-वादी यथार्थवाद समाज और उसकी समष्टिगत चेतना से सम्बन्धित है। यह सामाजिक जन क्रांतियों से अधिक अंशों में प्रेरित रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी का लगभग सम्पूर्ण रूसी साहित्य यथार्थवाद को समाजवादी सन्दर्भ में चित्रित कर ही गतिशील होता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद में समष्टिगत चेतना का उन्मीलन होता है, जिसके पर्याय के रूप में इतिहास अवस्थित है। सामाजिक और समाजवादी में अन्तर है। सामाजिक से एक पग आगे बढ़कर समाजवादी कला का एक रूप है, जिसमें जन-मन के स्पन्दनों के संस्पर्श से फार्म का आविर्भाव होता है। समाजवादी भावना इसी जन-मन को फार्म के आश्रय एवं स्रोत के रूप में ग्रहण करता है। व्यष्टि मन जन-मन की एक लघु लहर के रूप में ही है जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। समाजवादी यथार्थवाद सौन्दर्य की स्थिति वस्तु में स्वीकार करता है।

समाज को ऐसी विविध प्रवृत्तियाँ प्राप्त रहती हैं या समाज में उनका उदय एवं विकास होता रहता है, जिनके माध्यम से समाजवादी रूप-विधान की स्थापना कर शोषण, वर्ग-वैषम्य, आर्थिक असमानता एवं सामाजिक अत्याचार की स्थापना की जा सकती है। इससे समाज के लोगों में प्रगतिशीलता आएगी। सजग सामाजिक चेतना सम्पन्न कलाकार का यह दायित्व है कि इन विविध प्रवृत्तियों के स्वरूप को पहचाने और उनका पूर्ण कलागत ईमानदारी से

चित्रण कर समाजवादी रचना-विधान में सहायता प्रदान करें। उचित संगति में जब वह इन प्रवृत्तियों का यथार्थवादी चित्रण करता है तो वह समाजवादी यथार्थवाद का ही चित्रण करता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी समाज के उद्देश्यों एवं विशेषताओं से सम्बद्ध रहता है, जैसे कि वे हैं या जैसे कि वे निर्मित हो रहे हैं।[1] समाजवादी यथार्थवाद साहित्य में समाजवादी रचनात्मक प्रवृत्तियों-जिस रूप में वे वास्तविक रूप से वर्तमान हैं-का सत्य प्रतिबिम्ब होता है।[2] समाजवादी यथार्थवाद का क्रांतिकारी अर्थ यही है कि वह समाजवादी समाज का पूर्ण विश्वास के साथ समर्थन करता है, समाजवादी यथार्थवाद के द्वारा संचारित आशावाद के अपने तर्क हैं। वास्तव में यह अस्तित्व को क्रियात्मक रूप में स्वीकारता है। वह यह भी मानता है कि यह अस्तित्व निर्माण है, तथा यह मनुष्य की उन शक्तियों की पूर्णता है, जिनके माध्यम से उसने प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त किया है।

समाजवादी यथार्थवाद वास्तविक चित्रण के साथ सामाजिक संघर्षों के चित्रण पर बल देता है। वह पूंजीवादी व्यवस्था के विच्छिन्न होने की प्रवृत्तियों के एवं उन विकासोन्मुख प्रवृत्तियों—जिनसे इस सत्य की प्रतीति हो सके कि समाजवाद किस प्रकार उभर रहा है, के चित्रण पर बल देता है। वह ऐसे समाजवाद का वर्णन करता है जो सहज रूप से नहीं प्राप्त है, वरन् प्रतिक्रियावादी शक्तियों से संघर्ष करते हुये विकसित होता है।[3] इस प्रकार

---

1 Socialist Realism concerns itself with the aims, qualities and manifestations of socialist society as it exists and as it is in the making '
—जार्ज रीवे : सोवियट लिट्रेचर टुडे, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ २०

2 'Socialist Realist in literature can appear only as a reflection of the facts of socialist creative activities as they exist in actual practice.'
—मैक्सिम गोर्की : लिट्रेचर एण्ड लाइफ,(१९४६),लन्दन पृष्ठ१४४

3 'Select all phenomena which show how the system of capitalism is being smashed, how socialism is growing not embellishing socialism but showing, that it is growing in battle, in hard toil and sweat.'
—कार्ल रैडेक का भाषण—हर्बर्ट रीड : आर्ट एण्ड सोसायटी (१९३७), लन्दन, पृष्ठ २६९-२७०

वह पूंजीवादी बूर्जुआ संस्कृति को एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के ही रूप में देखता है और प्रकृति की अवरोधक शक्ति के रूप में स्वीकार करता है तथा इनका पूर्ण पतन चाहता है। उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता और ज्ञान के प्रकार के रूप में कल्पनात्मक रचना की स्वीकृति का परस्पर समन्वय ही वास्तव में समाजवादी यथार्थवाद है। इसका मूलमन्त्र संघर्ष' है। बूर्जुआ और पूंजीवादी वर्ग शोषण, वर्ग-वैषम्य एवं सामाजिक अत्याचार में विश्वास रखता है और शोषण के मार्ग पर ही गतिशील होता है। शोषित लोगों की भावनाएँ, उनके स्वप्न, इच्छाएँ सभी कुछ उनकी स्थिति की दयनीयता, विवशताजन्य परिस्थितियाँ, वर्ग-वैषम्य के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक दासता के कारण मूल्य-हीन हैं। इसीलिए उनके हाथ में कोई अधिकार नहीं है। प्रकृति ऐसा नहीं चाहती, पर शोषक वर्ग ऐसा जबर्दस्ती करने का प्रयत्न करता है और प्रकृति के मार्ग में अवरोध उपस्थित करता है। समाजवादी यथार्थवाद इस बात की मांग करता है कि प्रत्येक जागरूक एवं प्रगतिशील लेखक ऐसे संघर्ष को बल प्रदान करे जो इन शोषक वर्गों का नाश कर प्रकृति की अवरोधक शक्तियों को मिटाए। वह घृणित, कुत्सित एवं नग्नचित्रण के प्रति नितान्त रूप से भी आग्रहशील नहीं है, वरन् उसका तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी रचना-विधान के पथ पर संघर्ष के माध्यम से अग्रसर कर समाजवादी मानवतावाद (Socialist Humanism) के निकट हमें ले आता है। यह समाजवादी, मानवतावाद मनुष्य की असीम शक्तियों के प्रति गहन रूप में आस्थावान रहता है और मनुष्य पर उसकी प्रवृत्तियों पर एवं उसके रचनात्मक कार्यों पर पूर्ण विश्वास रखते हुए उसे समाजवाद की ओर दिशोन्मुख करता है।

समाजवादी यथार्थवाद इस तथ्य को अस्वीकार करता है कि मनुष्य की जीवन प्रक्रिया कई स्तरों पर गतिमान रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामों में होता रहता है। वह मनुष्य के आत्मन्वेषण को केवल बूर्जुआ संस्कृति एवं पूंजीवादी मनोवृत्ति द्वारा अपने स्वार्थपूर्ति के लिए जबर्दस्ती उत्पन्न भ्रान्ति के रूप में स्वीकारता है और इतिहास की अनिवार्यताओं की पूर्ति के साधन के रूप में मूल्यांकित करता है। समाजवादी यथार्थवाद व्यक्ति को समाज की एक सामान्य इकाई के रूप में स्वीकारता है। वह वैयक्तिक स्तर पर व्यक्तिगत अनुभूतियों को, अहंवादी शक्तियों को एवं अस्तित्ववादी भ्रांतियों

को अस्वीकृत करता है, वह जो कुछ भी निरखता या परखता है, समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यापक धरातल पर समाजवादी दृष्टिकोण से। इस प्रकार समाजवादी यथार्थ समष्टि की व्यष्टि पर विजय प्रतिपादित करता है और समष्टि की वर्गाश्रित प्रवृतियों की समीक्षा करता है। वह प्रकृति को निरंतर गतिशील मानते हुए जीवन की व्याख्या करता है।

समाजवादी यथार्थवादी में साहित्य का आधार आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है इसके लिए आवश्यक है कि समाज में क्रांन्ति हो। बहुसंख्यक ग्रस्त, पीड़ाग्रस्त एवं आर्थिक विवशताओं से पीड़ित लोगों के हाथ में ऐसे अधिकार हों कि वह पूँजीवाद को समूल नष्ट कर दें, जिसमें समाज से शोषण का अन्त हो, वर्ग-वैषम्य समाप्त हो। किसी को असमानता का शिकार न होना पड़े। राष्ट्रीय आय का समान वितरण हो और वितरण, उत्पादन पर सामूहिक नियंत्रण हो।

समाजवादी यथार्थवाद इस पर बल देता है कि यथार्थ के क्रांतिकारी पहलू को प्रत्येक यथार्थवादी लेखक को आत्मसात कर ही साहित्य सृजन में प्रवृत्त होना चाहिए, जिससे जीवन के उदात्ततत्व तो विकसित ही हों, पूँजीवाद के काले कारनामों और सफेदपोशी का सनसनीदार रहस्योद्घाटन हो। प्रश्न उठता है कि ये यथार्थ के क्रांतिकारी पहलू क्या हैं? यह वह शक्ति है जो पूँजीवादी व्यवस्था एवं शोषण पर आधारित सामाजिक रूप—विधान को समूल उखाड़ फेंकेगी और वे अल्पसंख्यक लोग, जो समाज के सरमायेदार हैं 'राष्ट्रीय' आय के पूर्ण भाग के दावेदार हैं और सारी पूँजी के परिश्रमहीन भागीदार है; नष्ट हो सकें जिससे समाजवादी व्यवस्था की पूर्ण स्थापना हो सके। जो उपन्यासकार इस यथार्थ के क्रांतिकारी पहलू को पहचानने में असमर्थ हैं, वह कभी भी सच्चा समाजवादी यथार्थवाद चित्रित नहीं कर सकता, फलस्वरूप उसमें साहित्य का उद्देश्य भी सफल नहीं हो सकता। आधुनिक मनोविज्ञान ने निर्विवाद रूप से हमारे सम्मुख व्यक्ति के उन रहस्यों का उद्घाटन किया है, जिससे अभी तक हम अपरिचित थे। इस प्रकार प्रथम बार हम व्यक्ति के वास्तविक रूप को समझ सकने में समर्थ हुए हैं। पर यह सोचना उचित नहीं होगा कि केवल इस रहस्योद्घाटन से ही व्यक्ति के सभी कार्य-प्रक्रियाओं, विचारों तथा भावनाओं को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। यदि मनोवैज्ञानिक मनुष्य के कार्य—प्रक्रियाओं, विचारों तथा भावनाओं की

व्याख्या विषयगत कारणों से करता है, तो यथार्थवादी इसका विरोध करता है। फ्रायड, हैवलाक एलिस या पॉवलोव आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों की सहायता से व्यक्ति का कभी कोई पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं किया जा सकता तथा मनुष्य को उसके व्यक्तिगत क्रांति में नहीं चित्रित किया जा सकता। हालांकि यह स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इनकी वैज्ञानिकों ने मानव ज्ञान की यथेष्ट मात्रा में वृद्धि की है और उसे नवीन परिवेश में नित्य नवीन आयाम प्रदान किए हैं और यदि उपन्यासकार इनकी उपेक्षा करता है, तो वह उसका अविवेकपूर्ण दुराग्रह है। लेकिन इस नवीन मनोवैज्ञानिक ज्ञान ने व्यक्ति को उसके पूर्ण रूप में और उसके सामाजिक रूप में परख करने में अपने आपको नितान्त रूप से असमर्थ पाया है। उन्होंने हमें जीवन का वह असत्य, कृत्रिम और अस्वाभाविक दृष्टि-परिवेश प्रदान किया है, जिसने जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द जोशी और अज्ञेय को उनके कला-सृजन में सहायता प्रदान की है। उन्होंने इसी कृत्रिमता के आवरण में बजाय पूर्ण मानव व्यक्तित्व के निर्माण के खण्डित मानव व्यक्तित्व का ध्वंसात्मक सृजन किया है। आज मानव जीवन में भीषण विषमताएं हैं। मानव की प्रमुख समस्या रोटी की है, प्रेम की नहीं। हमारे राष्ट्र की सीमाओं पर बर्बर एवं पशुवत् चीनी आक्रमण से राष्ट्र की स्वतन्त्रता को जबर्दस्त चुनौती दी गई है। आज हमारी परीक्षा का समय है। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में अभी तक हम अपने ही द्वारा निर्मित एक कृत्रिम सृष्टि में साँस ले रहे थे और आगे बढ़ रहे थे। चीनी आक्रमण ने उस कृत्रिमता का पर्दाफास किया है और हमें एक नए सत्य से परिचित होने का अवसर दिया है। हमारी कृषि अवस्था बहुत अधिक संतोषजनक नहीं है। हमें अधिकांश मात्रा में अपनी अन्न की माँग भिन्न राष्ट्रों से पूरी करनी पड़ती है, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का काफी भाग अनावश्यक रूप से विदेशों को चला जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य में घृणा का प्रसार हो रहा है। शोषण में वृद्धि और पूंजीवाद को शक्ति प्राप्त हो रही है। जो देश के शासक हैं, मन्त्री हैं, वे भ्रष्टाचार के दलदल, परिवार-पोषण, मित्र-वर्ग पोषण और आत्मपोषण में संलग्न हैं। युद्ध की स्थिति बनी हुई है। बेरोजगारी बढ़ रही है। व्यक्ति मर रहा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को इस रूप-विधान को पूर्णतया परिवर्तित कर नवीन क्रांतिकारी समाज की

रचना के लिए महान् संघर्ष करना पड़ेगा। यह एक ऐसा द्विपक्षीय संघर्ष है [1] जिससे दोनों ही पक्ष एक दूसरे के ऊपर प्रभाव डालते और प्रभावित होते हैं। मनुष्य को इस तथा कथित सभ्यता को परिवर्तित करने के लिए क्रान्ति करनी पड़ेगी। मनोविज्ञान ऐसी प्रेरणा देने में असमर्थ रहता है। यह प्रेरणा व्यक्ति के स्वयं उसकी विषमताएँ, उलझनें, कुंठाएँ, वर्जनाएँ और समकालीन संकट ही प्रदान कर सकते हैं। मानवीय आत्मा में पूँजीवाद जो अराजकतावाद प्रसारित कर रखा है और निरन्तर उसके खून की एक-एक बूंदे चूसकर उसका शोषण कर रहा है और प्राण-हीन बनाकर उसे दिशाहारा की भाँति भटकने के लिए विवश कर रहा है, उसी पूंजीवाद के नाश के लिए व्यक्ति को क्रान्ति करनी होगी, नहीं तो वह जीवन-पर्यन्त ही नहीं, आगे आनेवाली अनेक शताब्दियों तक घुट-घुट कर मरता रहेगा, पूंजीवादी निर्दयता उस पर कभी तरस नहीं खाएगी। व्यक्ति को समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए सामूहिक रूप से जुटना होगा।

---

1 "It is in this dual struggle, each side of which in turn influences and is influenced by the other, that the end of the old and artificial division between subjective and objective realism will come. we shall no longer have the old naturalistic realism, no longer have the novel of endless analysis and intuition, but a new realism in which the two find their proper relationship to one another. Certainly the modern realists the heirs of Zola and Maupassant, have felt the inadequacy of the method of their masters. But lack of dialectic, of a philosophy which enables them really to understand and to penceive the world, has led them along the false trail of supplementing that naturalism by a creaking, artificial symbolism."

—रैल्फ फॉक्स : द नॉवेल एण्ड द पीपुल, (१९५४), मॉस्को, पृष्ठ १३७

पर यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल ऐसी स्थितियों के चित्रण करने से ही समाजवादी यथार्थवाद का उद्देश्य नहीं पूर्ण हो जाता है। हिन्दी को बहुत से मार्क्सवादी सिद्धान्तों में विश्वास रखनेवाले लेखक अपने उपन्यासों में किसी सामाजिक क्रान्ति का चित्रण करते हैं, हड़ताल कराते हैं। समाजवाद की स्थापना पर लम्बे-लम्बे भाषण देते हैं, वे वास्तव में अपने उपन्यासों की पृष्ठभूमि को ही सर्वोच्च महत्व प्रदान करते हैं। यह उनकी भयंकर भूल है। केवल इससे ही उनके उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद को स्वाभाविक अभिव्यक्ति और प्राण नहीं दे सकते। इसके लिए आवश्यक है कि इस पृष्ठभूमि में व्यक्ति का पूर्ण विकास चित्रित किया जाए, जो समाजवादी यथाथवाद का चरम लक्ष्य है। मनुष्य-मनुष्य है, जिसमें स्वयं उसके और उसकी कार्य-प्रक्रियाओं के मध्य कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। वह अपना जीवन स्वय ही जीता है और स्वयं ही उसमें परिवर्तन करता है। मनुष्य स्वयं अपना निर्माण और सृजन करता है। अतः समाजवादी यथार्थवाद को मनुष्य का पूर्ण विकास उसी के सन्दर्भ में चित्रित करना चाहिए। एंगिल्स और मार्क्स दोनों ने ही शेक्सपियर को एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया है कि मानवीय व्यक्तित्व का प्रस्तुतीकरण किस प्रकार होना चाहिए और समाजवादी यथार्थवाद चित्रित करने वाले लेखकों को शेक्सपियर के पात्रों से और उसकी पद्धति से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। मानवीय व्यक्तित्व को जनमत का भी प्रतिनिधि होना चाहिए और स्वयं अपना भी प्रतिनिधित्व करना चाहिए। यह तथ्य, इस संदर्भ में, विशेष उल्लेखनीय है कि पूँजीवादी और समाजवादी यथार्थवाद में अन्तर है। एक स्पष्टतः सीमित परिवेश में गतिशील होता है, दूसरा असीमित सीमाओं में दिशोन्मुख होता है। यह राजनीतिक या दलगत दृष्टिकोण नहीं है, वरन् व्यापक रूप से यह एक विशेष दृष्टिकोण है।[1] वास्तव में पूँजीवादी यथार्थवाद शोषण

---

1 "There is difference between bourgeioust and socialist realism, the one is fairly rigidly limited the other is potentially unlimited. And again it must be repeated that is not a matter of part or political affiliation but outlook and perception in the broadest sense."

—हावर्ड फास्ट : लिट्रेचर एण्ड रियल्टी, (१९५०), दिल्ली, पृष्ठ ४६-४७

और विध्वंस तक ही सीमित है। पर इसके विपरीत समाजवादी यथार्थवाद निर्माण एवं व्यक्ति के विकास पर बल देता है।

साहित्य में एक और भ्रान्ति की स्थिति फैली हुई है कि समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करने के लिए कम्युनिस्ट होना आवश्यक है। हमारे हिन्दी उपन्यास साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करने वाले सभी उपन्यासकार अपने को मार्क्सवाद का उत्तराधिकारी समझते हैं और अपने उपन्यासों में इसका खुलकर प्रचार किया है उनकी इस प्रचार वृत्ति का कोई और प्रभाव पड़ा हो या न पड़ा हो, इतना तो उन्होंने प्रचारित कर ही दिया है कि जो मार्क्सवादी नहीं है, उसे समाजवादी यथार्थवाद चित्रित करने का कोई अधिकार नहीं है। पर यह भ्रम-पूर्ण है। समाजवादी यथार्थवाद के चित्रण का और कम्युनिस्ट होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे क्षेत्रों से आनेवाले ऐसे लेखक, जो साम्यवादी नहीं हैं भी समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण कर नवीन आयाम इस दिशा में स्थापित करने में समर्थ होते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे अपने को साम्यवादी होने की घोषणा करें और अपने उपन्यास के पृष्ठों में केवल इसी सत्य को प्रचारित करने का प्रयत्न करें। साम्यवादी उपन्यासकार जब तक इसे नहीं स्वीकार करते, वे अपने क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर देते हैं[1]। समाजवादी यथार्थवाद समाज की विषमताओं और उनसे व्यक्ति के संघर्ष एवं स्वयं मानवीय व्यक्तित्व के विकास का चित्रण करता है। पर केवल 'संघर्ष' और क्रान्ति शब्दों के आ जाने से उसे साम्यवादी रंग में रंगना तर्क-संगत नहीं है। समाजवादी यथार्थवाद का परिवेश इस सीमित दायरे से भी अधिक व्यापक है और उसे संकुचित अर्थों में ग्रहण करना विवेकहीनता का परिचायक है। समाजवादी यथार्थवाद भविष्य के प्रति आशावान रहता है और सत्य की प्रतिष्ठा करना अपना धर्म समझता है। समाजवादी यथार्थवाद मानव का नवीन भावभूमियों पर मूल्यांकन कर सत्य मूल्यान्वेषण पर बल देता है और मानवीय व्यतित्व का विकास कर उसमें आशा और विश्वास का संचार करता है। समाजवादी यथार्थवाद वर्ग वैषम्य को समाप्त कर पूँजीवाद का नाश चाहता है, और ऐसे समाज की स्थापना चाहता है जिसमें विकास करने, जीवन जीने,

---

१ स्टीफेन स्पेन्डर : न्यू रियलिज्म, (प्रथम संस्करण)।

सुखी रहने का सबको समान अवसर प्राप्त हो। समाजवादी यथार्थवाद मनुष्य में आशा एवं आत्मविश्वास की भावना जगाकर उसे नवीन प्रेरणा देता है। हिन्दी में यशपाल, रांगेयराघव, नागार्जुन आदि ने समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करने का प्रयत्न किया है, पर वे अपनी प्रचारवादी नीति के कारण अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सके।

समाजवादी यथार्थवाद साहित्य और कला में यथार्थवादी चित्रण पर बल देता है। मानवीय शक्तियों के विकास के प्रति वह आग्रहशील है। वह मानव-प्रगति की अवरोधक शक्तियों का रहस्योद्घाटन करता है। उसका कार्य अतीत काल का व्याख्यात्मक चित्रांकन मात्र नहीं वरन् वर्तमान की क्रान्तिकारी सफलताओं को एकसूत्र में आबद्ध करने में सहायक होना एवं भविष्य के लिए महान् समाजवादी उद्देशों का स्पष्टीकरण करना भी है। समाजवादी यथार्थवाद व्यापक दृष्टिकोण को अपनाता है, और इसकी क्षमता उन्हीं लेखकों में व्याप्त हो सकती है, जो वर्तमान को भविष्य के सन्दर्भ में मूल्यांकित कर सकने में समर्थ हैं। यही दृष्टिकोण वास्तव में समाजवादी यथार्थवाद की आधारशिला होनी चाहिए। उसकी विशेषता दूरदर्शीता में ही प्रमुख रूप से निहित है। वह भविष्य के प्रति अत्यधिक आस्थावान् एवं मानव जीवन की अखण्डता के प्रति निष्ठावान् है। वास्तव में समाजवादी यथार्थवाद अतीत की व्याख्या, वर्तमान का मनन-चिंतन एवं भविष्य के प्रति दूरदर्शिता की शक्ति अपनाने पर बल देता है। समाजवादी यथार्थवाद उस वर्ग की भाँति, जिसका वह निर्माण करता है, वर्तमान और भविष्य में अवस्थित रहता है। यह पूर्ण साहस एवं आत्मविश्वास से भविष्य का सामना करता और आशावादी भविष्य के परिप्रेक्ष्य में ही वर्तमान को चित्रित करता है। इस प्रकार बूर्जुआ समाज के सामाजिक यथार्थवाद से समाजवादी यथार्थवाद बिल्कुल अलग हो जाता है। एक हमें रूढ़ियों की संकीर्णता में पीछे खींचता है तो दूसरा हमें रूढ़ि-मुक्त कर प्रगतिशीलता की ओर लिए चलता है। इस प्रकार एक सीमित है, दूसरा गतिशील है। समाजवादी यथार्थवाद किसी राजनीतिक मतवाद का मेनीफेस्टो नहीं, वरन् प्रगतिशील दृष्टिकोण है। इस प्रकार स्पष्ट है और ऊपर कहा भा जा चुका है कि इसके चित्रण के लिए लेखक का कम्युनिस्ट होना किसी भी रूप में आवश्यक नहीं है। जिस लेखक में सजग सामाजिक चेतना होगी, प्रगतिशील दृष्टिकोण

होगा और सामाजिक जवाबदेही निभाने की भावना होगी, वह चाहे कम्युनिस्ट हो, या कुछ और वह समाजवादी यथार्थवाद का ही चित्रण करेगा और करता है।

हिन्दी में समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण वैसे प्रारम्भ करने का श्रेय प्रेमचन्द को है, और उसे यशपाल ने कुछ आगे बढ़ाया पर दोनों ही समाजवादी यथार्थवाद का सफल चित्रण कर सकने में असमर्थ रहे हैं। प्रेमचन्द तो आदर्शवाद के कारण आगे नहीं बढ़ पाए और यशपाल का समाजवादी यथार्थवाद उपन्यास में की गई घोषणाओं एवं उनके प्रचारित सिद्धान्तों में प्राप्त होता है। उनके वर्णन मे नहीं। उनके उपन्यासों का सामाजिक आधार क्षीण है। उन्होंने कभी अपना कदम सिद्धान्तवादिता से आगे नहीं बढ़ाया है। इसीलिए उनके उपन्यासों में गढ़नशीलता अधिक है। वे अपने सिद्धान्तों के लिए पात्र गढ़ते हैं, जो अपने आप में प्राण-हीन होते हैं। इसलिए वे पात्र कोई क्रान्ति या संघर्ष नहीं उत्पन्न करते, वरन् उपन्यासकार स्वयं अपनी घोषणाओं से यह सब करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से समाजवादी यथार्थवाद का सफल चित्रण करनेवाले हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार राजेन्द्र यादव हैं। राजेन्द्र यादव कम्युनिस्ट नहीं हैं, पर उनका दृष्टिकोण पूर्ण प्रगतिशील है। व्यक्ति परक-दृष्टि के दायरे से बाहर निकल कर उन्होंने जीवन और समाज की समस्याओं एवं उसके यथार्थ को पहचान कर उनका पूर्ण कलागत ईमानदारी से चित्रण किया है। और समाजवादी रचना विधान के प्रति अपनी सत्य प्रयत्नशीलता प्रदर्शित की है। इस दृष्टि से उनके दो उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं', (१९५१) तथा 'उखड़े हुए लोग' (१९५६), अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, जिनमें समाजवादी यथार्थवाद बड़ी सफलता के साथ चित्रित हुआ है। राजेन्द्र यादव के इस चित्रण की विशेषता यह है कि वे सिद्धान्त और पूर्वाग्रहों से युक्त हैं। अपने उपन्यासों को उन्होंने स्वतन्त्र वातावरण में विकसित होने का अवसर दिया है। उनके पात्र भी स्वतन्त्र वातावरण में ही पनपते तथा आगे गतिशील होते हैं। वे लेखक के हाथों की कठपुतलियाँ नहीं हैं। इसीलिए बेजान भी नहीं हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है, जिसमें पर्याप्त आकर्षण है। संघर्ष की क्षमता है। विजय पाने की आकांक्षा है, आशा तथा विश्वास का सम्बल है। वे सभी सेक्स की दृष्टि से टूटे हुए नहीं हैं, अपूर्ण नहीं हैं, इसीलिए वे लुच्चों-जैसे भी नहीं हैं।

उन्होंने बूर्जुआ संस्कृति की पोल खोलने में भी समय एवं सतर्कता से काम लिया है। आवेश में आकर कहीं वे अतिवादी नहीं बन गए हैं। यहीं राजेन्द्र यादव यशपाल से अलग हो जाते हैं। और यहीं वे यशपाल से आगे भी बढ़ जाते हैं। राजेन्द्र यादव ने समाजवादी यथार्थवाद के स्वतन्त्र वातावरण में चित्रण की नई परम्परा स्थापित की है, जिसके साथ आज कुछ और नाम भी उभर रहे और सामने आ रहे हैं। पर चूंकि अभी उनकी वास्तविक दिशा स्पष्ट होने में समय लगेगा, इसलिए अभी से उनके सम्बन्ध में कोई चर्चा यहाँ करना पूर्णतया असंगत होगा।

आलोचनात्मक यथार्थवाद

आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical-Realism) और यथार्थवाद में वस्तुतः कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। दोनों में पर्याप्त अंशों में समानता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद बस यथार्थवाद का अगला कदम ही है। पीछे यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि यथार्थवाद के चित्रण के लिए तटस्थ एवं निरपेक्ष दृष्टि का होना आवश्यक होता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद का चित्रण करने वाला लेखक भी यथार्थवाद की ही सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और अपनी दृष्टि भी तटस्थ एवं निरपेक्ष रखता है। पर तटस्थ एवं निरपेक्ष दृष्टि से जीवन और समाज की समस्याओं का यथार्थ चित्रण करके ही वह संतोष नहीं कर लेता, वरन् समाज की विकृतियों, विषमताओं एवं असमानताओं पर तीव्र प्रहार कर वह उनकी कटु आलोचना भी करता है। वस्तुतः यह उसके लिए असह्य होता है कि तटस्थता एवं निरपेक्षिता की अनिवार्य आवश्यकताओं के कारण वह उन विकृतियों का चित्रण कर चुप हो जाए। वह उनकी आलोचना कर लोगों को एक शाश्वत सत्य भी देना चाहता है। यहीं वह यथार्थवादी लेखक से भिन्न हो जाता है। समाज को एक सत्य तो यथार्थवादी लेखक भी देता है पर उसके सम्बन्ध में वह कुछ कहता नहीं, वह उसके वर्णन में अन्तर्निहित रहता है, पर आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखक की आलोचनाएँ स्पष्ट रूप से ऊपर उभरती हैं, पर पाठकों से जैसे स्पष्ट रूप से

यह कहती हुई प्रतीत होती है, यही है समाज की यथार्थ स्थिति, और यदि इसे तुम नहीं समझ सके हो, तो समझो। पर उसकी आलोचना से उसे आदर्शवादी न समझ लेना चाहिए। अपनी आलोचनाओं से वह आदर्शवादियों की भांति किसी आदर्श या युटोपिया निर्मित नहीं करता। वह केवल आलोचना करने तक ही सीमित रहता है, उससे आगे जाने का प्रयत्न नहीं करता।

यहाँ एक प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो जायगी—"क्षण-भर तक हसनदीन खड़ा उस बच्चे को देखता रहा। ईदू भी तो इतनी ही उमर का है। दो-एक साल बड़ा होगा। लेकिन उसके भाग्य में यह सब कहां है ? उसे तो बचपन से ही रोजी कमाने की चिन्ता लग गयी है। अगर कश्मीर में अमन रहा तो वह निश्चय ही ईदू की शादी करेगा, उसके बच्चों को पढ़ायेगा और उन्हें ऐसा ही बनायेगा। उसे पिछले बरस की एक घटना याद आई। अँग्रेज बच्चों को अपने माता-पिता के लिए डैडी, मम्मी, पापा, मामा कहते देखकर उसे कभी ईर्ष्या न हुई थी। लेकिन इधर ऐसे भारतीय भी आने लगे, जिनका स्तर बहुत ऊँचा न था, जो अफसर भी नहीं थे। कई तो उनमें से टुटपुँजिये दुकानदार थे, जिन्हें वे लोग उपेक्षा से 'दालि-विजिटर' कहते थे। दाल-भात खाकर पैदल कश्मीर की उन्नति का लुत्फ उठाने वाले। जब उनके बच्चे भी डैडी-ममी अथवा पापा-मामा पुकारते थे तो हसनदीन का जी होता था कि उसका ईदू भी उसे अब्बा-अब्बा कहना छोड़ डैडी कहे।"[1] इस पूरे प्रसंग में अश्क ने कोई आदर्श आरोपित करने या युटोपिया निर्मित करने की चेष्टा नहीं की है, पर समाज की एक स्थिति का चित्रण कर उसकी कटु आलोचना भी की है, पर समाज की एक स्थिति का यथार्थ चित्रण कर उसकी कटु आलोचना भी की है, उस पर तीव्र व्यंग भी कसा है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के ही दूसरे उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में भी आलोचनात्मक यथार्थवाद का श्रेष्ठ रूप प्राप्त होता है। अश्क जी का यह उपन्यास निम्न मध्यवर्ग के जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करता हुआ उनकी विषमताओं, सामाजिक अभिशापों एवं असमानताओं की कटु आलोचना करता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी कलात्मक

१--उपेन्द्रनाथ अश्क : पत्थर-अलपत्थर, (१९५७) (इलाहाबाद, पृष्ठ ६७-६८)

विशेषता यही है कि उपन्यासकार स्वयं कहीं भी पूरे उपन्यास में उपस्थित नहीं होता, और उपदेश नहीं देता, फिर भी उसका प्रत्येक शब्द उपदेशात्मक है। यह वस्तुतः प्रौढ़ कलात्मक चातुर्य है, जिसे आलोचनात्मक यथार्थवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यह उपन्यास कुछ इस कुशलता से संगुफित किया गया है कि जीवन संघर्ष में आगे बढ़ने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह फ्रेन्ड, फिलासफर और गाइड बन जाता है। इस उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश 'सर चश्माए जिन्दगी' है, जिसमें जीवन विकास का सारतत्व बड़े ही आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

बलवन्तसिंह ने अपने अनेक उपन्यासों में आलोचनात्मक यथार्थवाद का सफल चित्रण किया है। यों तो हिन्दी में उनके अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, पर यहां 'काले कोस' की ही चर्चा की जाएगी। 'काले कोस' उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास है, जो देश के विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया कदाचित् हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास में बलवन्त सिंह ने जिन पात्रों एवं घटनाओं को लिया है, उन्हें बड़ी सजीवता एवं सप्राणता से आलोचनात्मक यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। बलवन्त सिंह ने बड़ी कुशलता से अपने आवेश को भाषणों, लम्बे-लम्बे कथोपकथनों में अभिव्यक्त होने से बचा लिया है। विभाजन की कहानी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बटवारे की कहानी कुछ इस ढंग से प्रस्तुत की गई है कि पाठकों के सामने एक आक्रोश-भरी तस्वीर तो स्पष्ट हो ही जाती है, साथ ही वह उन कारणों को स्पष्टतया जान लेता है, जो राजनैतिक हथकण्डों से बिलकुल अलग भीतर ही भीतर क्रियाशील पात्रों एवं घटनाओं के कुशल संयोजन से उन्होंने सभी सामाजिक विकृतियों एवं विषमताओं की कटु आलोचना की है। मनहर चौहान के 'रात खो गई' में भी आलोचनात्मक यथार्थवाद का आभास मिलता है। उनके इस उपन्यास में दिल्ली के तथाकथित जीवन का, जिन पर आज की बहुचर्चित 'आधुनिकता' हावी है, अत्यन्त सजीव यथार्थवादी चित्रण हुआ है। मनहर चौहान यद्यपि एक नए उपन्यासकार हैं, फिर भी उनके इस उपन्यास में काफी परिपक्व विचारधारा और कुशल कलात्मक शिल्प मिलता है। उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से जो व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है, जो तीक्ष्णताएँ उभारी हैं और जिन स्थितियों का

उद्घाटन किया है, वे आलोचनात्मक यथार्थवाद के सफल उदाहरण हैं। केशनी प्रसाद चौरसिया के उपन्यास 'चुटकी भर चान्दी' में भी इसी प्रकार बम्बई के जीवन का यथार्थ चित्रण आलोचनात्मक ढंग से किया गया है। इस उपन्यास में जीवन की जिन विषम परिस्थितियों एवं असंगतियों की ओर लेखक ने ध्यान दिया है, वह आज हमारी सारी सामाजिक व्यवस्था में कोढ़ की भांति रिस रहा है। आश्चर्य नहीं, वह हमें पंगु बना रहा है। उपन्यासकार ऐसी स्थितियों का यथार्थ चित्रण कर अपनी सामाजिक जबाब-देही को अनेक अंशों में पूर्ण कर सकते हैं और उपयोगी समाधानों से नवीन समाज की रचना-प्रक्रिया में सहायक हो सकते हैं। चौरसिया जी के इस उपन्यास में लेखक की यह सजगता बड़ी ईमानदारी से लक्षित होती है। लेखक की चयन दृष्टि बड़ी सूक्ष्म कलात्मक और यथार्थ है, पर यदि वह अपने को थोड़ा और संयमित रखता, तो यह उपन्यास प्रत्येक रुचि के पाठकों के लिए सफल सिद्ध होता। कमलेश्वर के 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' और 'लौटे हुए मुसाफिर' में आलोचनात्मक यथार्थवाद का सफल चित्रण मिलता है। आज की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था, घुटन-पीड़न, सामाजिक अत्याचार, असमानता एवं कुण्ठाओं की कमलेश्वर ने बहुत ही यथार्थ आलोचनाएँ की हैं। सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि पर उन्होंने अपनी चमन-दृष्टि की सूक्ष्मता एवं यथार्थता का पूर्ण परिचय दिया है, तथा अपने चित्रण को अत्यन्त संतुलित एवं यथार्थ बनाए रखा है।

वस्तुतः यही आलोचनात्मक यथार्थवाद है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद का प्रारम्भ प्रेमचन्द ने अपने 'निर्मला' उपन्यास से किया था। उन्होंने अपने उपन्यासों में भी इसका यत्र-तत्र प्रयोग किया है, पर उनके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के सामने उनका आलोचनात्मक यथार्थ-वाद कभी उभर नहीं पाया। उनके समकालीन उपन्यासकार भी इसका विकास नहीं कर सके, क्योंकि यथार्थवाद के चित्रण के लिए जिस सूक्ष्म अर्न्तदृष्टि, तटस्थता एवं निरपेक्षिता की आवश्यकता थी, उससे वे पूर्णतया वंचित थे। आंख बन्द कर प्रेमचन्द की परम्परा के पालन करने में ही उन्होंने अपना गौरव समझा। इसका वास्तविक विकास उपेन्द्रनाथ अश्क ने किया और उनके सभी उपन्यास आलोचनात्मक यथार्थवादी ही हैं। आज हिन्दी में आलोचनात्मक यथार्थवाद की जो परम्परा चल रही है, उसके उन्नायक

एक प्रकार से अश्क ही हैं, और इस परम्परा को यशपाल, रांगेयराघव, चतुरसेन शास्त्री, राजेन्द्र यादव, बलवन्त सिंह, कमलेश्वर, मनहर चौहान आदि ने आगे बढ़ाया है,

ऐतिहासिक यथार्थवाद

ऐतिहासिक यथार्थवाद और यथार्थवाद में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। आज का युगीन सामाजिक जीवन कल इतिहास के रूप में पढ़ा जायगा। आगे आनेवाली शताब्दियों में, निश्चित है, प्रेमचन्द के उपन्यास औपन्यासिक रस के लिए कम, तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास के परिचय के लिए अधिक पढ़े जायँगे। देशकाल का यह तात्त्विक अन्तर ही यथार्थवाद को ऐतिहासिक यथार्थवाद के रूप में परिणत कर देता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद, तिथियों, नामों एवं घटनाओं की सत्यता के प्रति उतना आग्रहशील नहीं रहता, जितना तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन के यथार्थ चित्रण पर बल देता है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। किन्तु उसने पद-चिह्न कुछ जरूर छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पद-चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें। हम देखते हैं, कम-से-कम हमारे देश में, समर्थ कलाकार भी ऐसी गलती कर बैठते हैं और विना तैयारी के ही कलम उठा लेते हैं। इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है, तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ेंगे और हमारे समालोचकों में बहुत कम ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अभी तक यह समझा जाता रहा है कि यथार्थवाद का सम्बन्ध केवल समसामयिकता से हैं, वह अतीतकाल के प्रति न तो उत्तरदायी ही है, न उसको महत्व प्रदान करता है और यथार्थवाद समकालीन जीवन, व्यथा, पीड़ा, व्यक्ति की आशा, निराशा एवं सफलता-

असफलता आदि अनेक मानवीय एवं स्वाभाविक स्थितियों का स्वाभाविक चित्रण करता है। यह मान्यता काफी दिनों तक विवाद-हीन रूप से पाश्चात्य साहित्य में स्वीकृत रही और यथार्थवाद समसामयिक जीवन से अपना सम्बन्ध बनाकर गतिशील एवं विकसित होता रहा। पर स्काट ड्यूम विक्टर ह्यूगो, लियो टॉलस्टाय आदि विदेशी लेखकों ने तथा हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा ने अधिकांश रूप में ऐतिहासिक विषयों को लेकर उपन्यास-रचनाएँ कीं और उनमें तत्कालीन युगीन सत्य की पूर्ण रक्षा की। यह सत्य कुछ और नहीं-ऐतिहासिक यथार्थवाद था और सत्य की रक्षा करना वास्तव में ऐतिहासिक यथार्थवाद का चित्रण करना ही था। इन सभी लेखकों ने यह सिद्ध कर दिया कि यथार्थवाद की सीमाएँ बाँधकर सीमित नहीं की जा सकतीं। यथार्थवाद व्यापक परिवेश में ही पलता और विकसित होता है, तथा नित्य नवीन आयामों की स्थापना कर मानवीय संवेदना एवं मानव स्तर का मूल्यान्वेषण करने और सत्यान्वेषण करने का प्रयत्न करता है। यथार्थवाद जितना हमारे समकालीन जीवन में महत्व रखता है, उतना ही अतीतकालीन जीवन में। समकालीन जीवन का सत्यानुभूति से प्रेरित जीवन यथार्थवाद है। अतीतकालीन जीवन का वही चित्रण ऐतिहासिक यथार्थवाद है। जितना अन्तर हमारे समकालीन जीवन और अतीतकालीन जीवन में है, उतना ही अन्तर ऐतिहासिक यथार्थवाद और यथार्थवाद में है। अपने अतीतकालीन इतिहास के प्रति हमारे दृष्टिकोण का स्वरूप क्या होना चाहिए तथा अतीत-कालीन जीवन में से उपन्यास के लिए चुने गए कथानक का संयोजन क्या और कैसे हो तथा समकालीन जीवन से उसका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जाना चाहिए, यह सब वस्तुतः ऐतिहासिक यथार्थवाद का ही क्षेत्र है।

ऐतिहासिक यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति किसी विशेष काल में सत्यान्वेषण की होती है। इतिहास में उपन्यासों के लिए विपुल सामग्री भरी पड़ी है, पर उपन्यासकार सभी का चित्रण उपन्यास में नहीं करता और न वह उन घटनाओं को इस योग्य की समझता है कि सभी का चित्रण करे। वह पहले समकालीन जीवन की ओर दृष्टिपात करता है। उसकी समस्याओं का, मानवीय जीवन का और प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है। फिर उसी संदर्भ की घटना वह इतिहास का गहन अध्ययन

करके चुनता है तथा उसका यथार्थ चित्रण कर वर्तमान जीवन पर प्रेरणादायक प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। इससे उपन्यासकार एक ही पत्थर से दो शिकार करता है, उसके दो उद्देश्य सिद्ध हो जाते हैं। एक तो यह कि अतीतकाल के स्वर्णिम चित्र साहित्य के माध्यम से सजीव अभिव्यक्ति पाते हैं। दूसरे यह कि अतीतकाल के गौरव एवं जीवन की मर्यादाओं से लेखक समकालीन जीवन को प्रभावित कर उचित मार्ग में दिशोन्मुख करना चाहता है। आज से सौ वर्ष या उससे भी आगे का कोई लेखक जब १९०० से १९३० या ऐसे ही किसी काल को चुनकर अपना उपन्यास लिखना चाहेगा और यदि उसकी कथाकृति में प्रेमचन्द जैसी सत्यानुभूति होगी, तो वह ऐतिहासिक यथार्थवाद ही होगा, जो चीज प्रेमचन्द के लिए सामाजिक यथार्थ था, वही आगे आने वाली शताब्दी में ऐतिहासिक यथार्थवाद होगा, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो यह अन्तर केवल सैद्धांतिक है। यथार्थवाद के चित्रण में उपन्यासकार को जो सावधानी अपनानी पड़ती है, वही सावधानी ऐतिहासिक यथार्थवाद के चित्रण में भी अपेक्षित होती है।

प्रश्न उठता है, क्या ऐतिहासिक यथार्थवाद के चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि लेखक किसी विशेष युग की घटनाओं, मानव जीवन, राजनीतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को यथातथ्य चित्रित कर दे और कल्पना का आश्रय बिलकुल ही न ग्रहण करे? या वह कल्पना का आश्रय ग्रहण कर अपने चित्रण को औपन्यासिक रस से सिंचित करने का प्रयत्न करे? आइए, इन प्रश्नों की गहराई में थोड़ा विचार करें। पहली अवस्था का परिणाम क्या होगा? अर्थात् यदि उपन्यासकार एक विशेषकाल को चुनकर उसकी प्रत्येक बातों, नामों और स्थानों का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ चित्रण करे तो इसका परिणाम क्या होगा? जहां तक मैं समझता हूँ उसका यह चित्रण मात्र इतिहास ही बन कर रह जायगा और उसमें उपन्यास तत्व समाप्त हो जायेंगे। वह एक वैज्ञानिक अध्ययन मात्र बन जाएगा। जिस प्रकार विज्ञान की नीरसता लक्षित होती है, उसी भांति उस अध्ययन की भी नीरसता लक्षित होगी। विज्ञान की नीरसता-यह सुनकर कदाचित् सुविज्ञजन चौकेंगे। तो पहले यही जान लें कि नीरसता क्या है और सरसता क्या है? इसकी कसौटी क्या है? नीरसता और सरसता की

कसौटी विषयगत नहीं है वरन् उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानवीय स्वभाव से है। एक चीज एक के लिए नीरस हो सकती है, पर वही दूसरे के लिए सरस हो सकती है। विज्ञान में रुचि रखने वाले एवं विज्ञान के छात्रों के लिए विज्ञान में नीरसता नहीं है, पर दूसरों के लिए है। किन्तु उपन्यास की सरसता और विज्ञान की सरसता में कोई सैद्धांतिक अन्तर न होते हुए भी अन्तर है। विज्ञान में इस बात का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता कि उसमें सरसता उत्पन्न हो। पर उपन्यास, जैसा कि पिछले अध्यायों में कई स्थानों पर स्पष्ट किया जा चुका है, किसी बात के सैद्धांतिक विवेचन या शास्त्रीय व्याख्याओं के माध्यम नहीं हैं। उनमें एक ऐसी सरसता रहती है जो सामान्य पाठकों और बौद्धिक-प्रतिभा सम्पन्न पाठकों, दोनों के लिए ही रोचक रहती है। यह सरसता उपन्यास की गम्भीरता (यदि उसमें है!) को किसी भी प्रकार न्यून नहीं करती। अतः एक बात स्पष्ट हुई कि उपन्यास में सरसता होती है, विज्ञान की भांति नीरस अध्ययन के लिए, जैसा कि पं० रामचन्द्र शुक्ल समझते थे, उसमें कोई स्थान नहीं है। फलस्वरूप ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक तत्वों का पूर्ण समावेश होते हुए भी इतिहास की भांति प्राप्त तथ्यों को ज्यों का त्यों नहीं उपस्थित कर दिया जाता।

यहीं दूसरे प्रश्न की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अर्थात् इन प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में कल्पना कहां तक सहायक होती है? उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासों का कल्पना के प्रति कोई उपेक्षणीय दृष्टिकोण नहीं है। वे कल्पना का आश्रय अनिवार्य रूप से ग्रहण करते हैं। क्योंकि उन्हें वही सरसता उत्पन्न करनी होती है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इस कल्पना के प्रयोग की भी कुछ सीमाएँ हैं। कल्पना के प्रयोग का यह अभिप्राय नहीं है कि उस विशेष युग जिसे चित्रण का आधार बनाया गया है, की सामान्य विशेषताओं की पूर्ण उपेक्षा करके अपनी मनमानी विशेषताएँ लाद दी जायँ। ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित लेखक पूर्णतया काल्पनिक कथानक तो चुन सकता है, पर ऐतिहासिक यथार्थवाद की रक्षा के लिए उसे उस विशेष युग के वातावरण संस्कृति, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों तथा मानवीय जीवन का सत्य चित्रण करना पड़ता है। इसकी उपेक्षा वह किसी भी रूप में नहीं कर सकता। भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में कथानक कल्पित होते हुए

भी हमें एक विशेष युग की सामान्य विशेषताओं का यथार्थ चित्र मिलता है, ऐतिहासिक यथार्थवाद यही है। वास्तव में एक विशेष युग की सामान्य विशेषताओं को तोड़ना-मरोड़ना और नितान्त कल्पित चित्र उपस्थित करना न केवल ऐतिहासिक यथार्थवाद की ही उपेक्षा है, वरन् कल्पना के प्रति भी दुराग्रह प्रकट करना है। "दिव्या" में जिस मारीश की कल्पना की गई है, और साम्यवादी सिद्धांतों की वह जिस प्रकार व्याख्या करता है, वह पाठकों के ऊपर कोई विशेष प्रभाव डालने में इसीलिए असमर्थ रहता है क्योंकि पाठक जानते हैं, उस युग में ऐसा पात्र हो ही नहीं सकता था। वह अस्वाभाविकता की चरम सीमा पर चित्रित किया गया है। यदि मारीश को किसी ऐतिहासिक कथानक के संदर्भ में चित्रित न किया गया होता, तब उनका मूल्यांकन अन्य भांति से होता और कदाचित् वह प्रभाव डालता लक्षित होता पर ऐतिहासिक सन्दर्भ में पूर्णतया हास्यापद सा प्रतीत होता। ऐतिहासिक तथ्यों के आकलन में उपन्यासकार को पूर्ण स्वतन्त्रता है, पर सत्य एवं यथार्थ की रक्षा के लिए उसके सम्मुख कुछ सीमाएं होती हैं, और उसकी तटस्थता का होना अनिवार्य होता है।

यहां एक और प्रश्न उठता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के सन्दर्भ में पात्रों का स्वरूप किस प्रकार होना चाहिए? ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए इतिहासकार प्रायः इन्हीं पात्रों को मानता है जिनका उल्लेख इतिहास में होता है। पर यह भी कोई अनिवार्य नियम नहीं है। ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित पूर्णतया कल्पित पात्रों को लेकर भी उपन्यासों की रचना की जाती है पात्र ऐतिहासिक हों या न हों-यह प्रश्न विशेष महत्व नहीं रखता। इसके कारण स्पष्ट हैं। प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएं होती हैं और उन विशेषताओं के सन्दर्भ मे व्यक्ति विशेष जीवन जीता है। शासक वर्ग से सम्बन्धित लोगों के जीवन में अनेक आडम्बर औपचारिकता, कृत्रिमता, घृणा, ईर्ष्या द्वेष आदि अनेक बातें हो सकती हैं। सामान्य लोगों का जीवन स्वतन्त्र हो सकता है, परतन्त्र भी। विवाह और प्रेम सम्बन्धी नियंत्रण भी हो सकते हैं छूट भी। सामाजिक अनुशासन कठोर भी हो सकता है, शिथिल भी। यह प्रत्येक युग की अपनी-अपनी बात होती है। प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएं होती हैं जो उस युग के वर्गगत मानव जीवन को प्रभावित करती और उसे गतिशील करती हैं। उस युग की भी अपनी भाषा होती है, जो

वर्गगत मानव द्वारा विभिन्न स्तरों पर प्रयोग में लाई जाती है। उपन्यासकार इन्हीं विशेषताओं को अपने पात्रों में भरता है और उनमें स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न करता है। यदि पात्र ऐतिहासिक हैं, तब तो ये विशेषताएँ उनमें होती ही हैं। पर यदि पात्र पूर्णतया कल्पित हैं, तो उपन्यासकार अपने कलात्मक कौशल द्वारा उनमें इन्हीं विशेषताओं को भर उन्हें ऐतिहासिक रंग देता है। अतः पात्र ऐतिहासिक हों या कल्पित। यह उतना महत्व नहीं रखता, जितना उनका ऐतिहासिक रंग महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के लिए पात्रों के ऐतिहासिक रंग और स्वाभाविकता अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

इसी प्रकार ऐतिहासिक यथार्थवाद वातावरण पर बल देता है। पात्रों की भांति यह भी आवश्यक नहीं है कि कथानक पूर्णतया ऐतिहासिक ही हो। वह काल्पनिक भी हो सकता है, पर उसके वातावरण में ऐतिहासिक रंगों का होना आवश्यक होता है। यह ऐतिहासिक रंग उस विशेष युग की सभी सामान्य विशेषताओं का सावधानी एवं स्वाभाविकता के साथ चित्रण करने से उत्पन्न हो सकता है। वातावरण का यह स्वाभाविक एवं सत्य ऐतिहासिक रंग ही वास्तव में ऐतिहासिक यथार्थवाद है। इसे थोड़ा और स्पष्ट कर देना उचित होगा। आज से कोई दो तीन शताब्दी पूर्व के भारत की कल्पना करें कोई उपन्यासकार कोई प्रसंग अपने ऐतिहासिक उपन्यास के लिए चुनता है। उस समय समाज में प्रेम की स्वतन्त्रता न थी। नारियों में उच्च शिक्षा न थी। समाज में संयुक्त परिवार-प्रथा का प्रचलन था और बाल-विवाह समाज-सम्मत था। नारियां आर्थिक रूप से परतन्त्र थीं और एक प्रकार से पुरुष के आलम्बन पर जीवित रहती थीं। अब एक उपन्यासकार जिसके पास पर्याप्त कौशल है, कलात्मक निपुणता है और गहन अध्ययन-शीलता है वह इन सभी तथ्यों को अपने उपन्यास के कथानक में आवश्यकतानुसार संगुफित करके स्वाभाविकता की रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न करता है। पर दूसरा उपन्यासकार जिसमें यह कुशलता नहीं है, वह ऐसे पात्रों की कल्पना करेगा, जो खुले रूप में समाज में प्रेम करता है। वह सामाजिक अनुशासन की अवहेलना करेगा। उसके नारी पात्र, चाहे उनके पास कोई डिग्री न हो, ऐसे तर्क वितर्क करेंगी कि बड़े-बड़े विद्वान उनके सामने मात खा जाएँ। उनके पात्र व्यक्तिवाद और अस्तित्ववाद का भी पालन कर

सकते हैं और संयुक्त परिवार-प्रथा को ठोकर मार सकते हैं। और तो और उनके नारी पात्र ऐसा भी कह सकते हैं कि अब वह पुरुषों पर आश्रित नहीं रहेंगे और स्वयं कमा-धमा कर अपना पेट भरेंगे। वे क्रियात्मक रूप से ऐसा करके दिखा भी देंगे। पर जब उनका उपन्यास पूर्ण होगा तो वह एक साहित्यिक विडम्बना के अतिरिक्त कुछ और न होगा। उनका चित्रण पूर्णतया हास्यास्पद प्रतीत होगा। ऐतिहासिक यथार्थवाद के लिए आवश्यक है कि वातावरण में उस युग की सामान्य विशेषताओं की पूर्ण रक्षा हो और उनका स्वाभाविकता के साथ और साहित्यिक तटस्थता के साथ चित्रण किया जाय। यशपाल के 'दिव्या' में यही कमी बहुत खटकती है।

यह बड़े खेद का, साथ ही अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक यथार्थवाद पर उतना बल नहीं देते जितना अपनी कल्पना पर। कल्पना को महत्व देना बुरा नहीं, पर उसकी अतिशयता श्लाघनीय नहीं है। वास्तव में हिन्दी में बृन्दावन लाल वर्मा को छोड़ कर किसी ने ऐतिहासिक यथार्थवाद का महत्व ही नहीं समझा है, इसीलिए अभी तक हिन्दी में वास्तविक रूप से उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम निकल पाए हैं। बंगला के राखाल बाबू की तुलना में या वाल्टर स्काट, विक्टर ह्यूगो, एलेक्जेण्डर ड्यूमा आदि की तुलना में रखे जाने वाले ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन अभी तक हिन्दी में नहीं हो पाया है, जबकि 'गढ़ कुण्डार', 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' की रचना करने वाली प्रतिभाएं ऐसा सरलता से कर सकती थीं। उसका कारण यही है कि हिन्दी के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी कल्पना, सिद्धांतों के प्रति अपने अत्यधिक आग्रह (या दुराग्रह!) एवं अपनी 'प्रतिभा' पर जितना बल देते हैं, उतना ऐतिहासिक युग विशेष के अध्ययन, चिंतन एवं ऐतिहासिक यथार्थवाद के महत्व पर बल नहीं देते। ऐतिहासिक यथार्थवाद की अवहेलना ऐतिहासिक उपन्यास को पंगु बना देता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में प्राण संजीवन भरने का कार्य ऐतिहासिक यथार्थवाद ही करता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यासों को ऐसी कसौटी पर ला खड़ा कर देता है, जहाँ उसका मूल्यांकन इतिहास और उपन्यास दोनों ही दृष्टियों से सरलतापूर्वक हो सकता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद ही उचित रूप में ऐतिहासिक उपन्यासों को वास्त-

विक रंग देते हैं और उन्हें स्वाभाविकता एवं सत्यता के आवरण में आबद्ध करते हैं।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (Psychological realism) यद्यपि बाह्य जगत की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता, तथापि मानवीय अन्तर्जगत, उसकी बौद्धिकता एवं भावनात्मकता को ही अधिक बल प्रदान करता है। वह व्यष्टि चेतना की गहनता की माप एवं चेतन मन के आधारभूत उपचेतन एवं अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन करता है। मानवीय चेतन मन दुर्बल एवं शक्तिहीन है। वह प्रगतिशील जीवन के परिस्थितिजन्य बन्धनों की श्रृंखलाओं को विच्छिन्न करना चाहता है और अवचेतन मन की अतृप्त कामनाओं, कुन्ठाओं एवं वर्जनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर तृप्ति के अन्वेषण के प्रति गतिशील होता है। यह अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है और प्रत्येक नियंत्रण एवं सीमाओं को अस्वीकृत कर देता है पर मनुष्य जीवन जीने के लिए मर्यादाओं एवं अनुशासन का पालन करना होता है। अवचेतन मन के लिए सभ्यता, संस्कृति एवं श्लीलता अर्थहीन होते हैं, पर चेतन मन के लिए यही प्रवृत्तियाँ अनिवार्य होती हैं। इस प्रकार एक विरोधाभास एवं कटुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रकाशन मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद करता है।[1] यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप में करके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एवं विषम ग्रन्थियों को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्धविक्षिप्त, काम-लोलुप और मानसिक विकारों से ग्रस्त रोगी के रूप में परिणत कर दिया और जीवन के अशोभन एवं अवांछनीय तत्वों के चित्रण पर बल दिया जाने लगा। जहाँ तक मानवीय स्वभाव का प्रश्न है, मनुष्य जैसा है, उसे स्वीकार करने में न तो किसी को आपत्ति होनी चाहिए और न ही उस पर किसी को

१　यह विशेषता अज्ञेय कृत "शेखर एक जीवनी", इलाचन्द्र जोशी कृत "जहाज का पंछी" तथा इन पंक्तियों के लेखक के नवीनतम उपन्यास "एक और अजनबी" में चित्रित हुई है।

लज्जा होनी चाहिए। यह सत्य है कि आधुनिक युग में कोई भी मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है। सभी भीतर से टूटे हुए हैं, बिखरे हुए हैं। सभी की आत्माएं खण्डित हैं, सभी के विश्वास जर्जरित हैं। यह भी सत्य है कि मनुष्य में वासना है, पाप है, घृणा है। कोई मनुष्य इससे वंचित नहीं है और इसे अस्वीकार करना सत्य से मुख मोड़ना होगा। यथार्थवाद की रक्षा के नाम पर उपन्यासों में इसके चित्रण पर भी किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर जब मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के नाम पर यथार्थवाद की रक्षा एवं सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण करने के बहाने मनुष्य की अन्य इच्छाओं को छोड़ केवल काम इच्छाओं एवं उनके हनन से उत्पन्न होने वाले 'दुष्परिणामों' का 'रसमय' चित्रण किया जाने लगता है और उपन्यास के नाम पर काम-शास्त्र की रचना होने लगती है, तो यह आपत्तिजनक होता है, साथ ही साहित्य की श्रेष्ठता एवं गौरव के लिए कलंकपूर्ण भी। दुख तो तब होता है, जब ऐसे गोपनीय स्थलों के चित्रण में लेखक सांकेतिता छोड़ विवरणात्मकता पर उतर आता है और वह यह भूल जाता है कि उपन्यास-रचना के भी कुछ नियम (Code) और सीमाएँ (Limitations) हैं, जिसका पालन करना श्रेष्ठ साहित्य के लिए अनिवार्य है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आत्मोपलब्धि पर तो बल देता है, पर उसकी सृजन-प्रक्रिया में आत्मान्वेषण का मार्ग अत्यन्त सीमित, संकीर्ण एवं विषमताओं से पूर्ण है। वह मनुष्य के आत्मतत्व को पूर्व निश्चित, पशुधर्मी और अनिवार्यतः विकृत प्रवृत्तियों से परिपूर्ण स्वीकार करता है, इसीलिए मनुष्य का अत्यन्त घृणास्पद चित्र उपस्थित करने में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद सहायक होता है। इस मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के आंशिक चित्र हमें अज्ञेय और जैनेन्द्र के उपन्यासों में उपलब्ध होते हैं, पर जहां जैनेन्द्र ने औपन्यासिक सृजन-प्रक्रिया संबंधी सीमाओं का कठोरता से पालन किया है, वहीं अज्ञेय पूर्णतया असीमित रहे हैं। इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने अनेक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का आश्रय ग्रहण किया है, पर जैनेन्द्र की भांति सीमाओं की कठोरता उन्होंने भी स्वीकार की है। मोटे रूप से मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर ही अधिक बल दिया है और उसके अवचेतन मन की प्रक्रियाओं का यथार्थवादी ढंग से चित्रण किया जाने लगा। इस प्रक्रिया में व्यक्ति की सामाजिकता समाप्त हो गई और व्यक्तिवादी सत्ता विकसित होने लगी। व्यक्ति

और समाज के बीच खाई बढ़ाने में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद महत्वपूर्ण रूप से क्रियाशील रहा है। मानव अन्तस् में बड़ी जटिलताएं हैं। वहाँ आदर्श और आदर्शहीनता का साम्य है। वहाँ लज्जा और लज्जाहीनता का साम्य है। वहाँ सभ्यता और असभ्यता का साम्य है। मनुष्य इस साम्य को बनाए रखने का बराबर अथक प्रयास करता है, पर वह सफल कम और असफल अधिक होता है। यह साम्य बनता-बिगड़ता रहता है, जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति अत्यन्त विचित्र-विचित्र व्यवहार करने लगता है और उसका व्यक्तित्व विचित्रताओं का स्वरूप बन जाता है। एक व्यक्ति प्रेम में अत्यधिक वासनापरक है। वह प्रेम के सम्बन्ध में सामाजिक अनुशासन को अस्वीकृत करता है। उसका प्रेम केवल स्वार्थ पर आधारित रहता है और भोग को ही वह प्रेम का एकमात्र उद्देश्य समझता है और जीवन में नित्य नई-नई नारियों से संपर्क की कामना करता है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद मानव व्यक्तित्व की इन बाह्य विशेषताओं का वर्णन तो करता ही है, वह थोड़े और गहराई में जाकर उन प्रवृत्तियों के अन्वेषण का प्रयत्न करता है, जिसके परिणामस्वरूप वह व्यक्ति इस विशेष स्वभाव का बन गया। उन अन्वेषित प्रवृत्तियों के वर्णन में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद संयम-असंयम जैसे प्रश्नों को ठुकरा देता है और 'यथार्थवाद' पर बल देते हुए उनका सत्य चित्रण करता है। आधुनिक युग में उपन्यासकारों का यही धर्म माना गया है[1] कि वे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन, भावनाओं एवं विचारों को चित्रित करें।

वैसे आज नैतिकता की परिभाषाएं काफी परिवर्तित हो चुकी हैं और कल उनमें और भी परिवर्तन होगा, यह सर्वथा निश्चित है। इसके साथ ही आज सामाजिक अनुशासन पूर्णतया विच्छिन्न हो गया है और कल सामाजिक अनुशासन का कोई नाम भी लेगा, इसमें सन्देह है। सामाजिक संयम और मर्यादा तो आज ही अस्वीकृत किये जाने लगे हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार का दायित्व क्या है? निर्माण का या विध्वंस का? क्या वह ऐसी कृतियों का सृजन करें, जिसमें यथार्थवाद के साथ ही ऐसी संवेदना का भी चित्रण हो, जो व्यक्ति की मनःस्थिति पर निराशा और घुटन के कुहासे बादल चीर कर आशा और विश्वास की नवीन रश्मियाँ बिखेर कर

---

१ सी०ई०एम० जोएद : गाइड टू मोडर्न थॉट, पृष्ठ ३०८

उसे निर्माणोन्मुख करे, या वह ऐसे कामुक साहित्य का सृजन करे, जिसे पढ़कर पाठक 'रसास्वादन' करें और कामोत्तेजना की चरम सीमा में अपना ही नहीं, 'समाज' और 'राष्ट्र' (यदि समाज और राष्ट्र ऐसे उपन्यासकारों के लिए कोई महत्व रखते हैं तो !) का भी नाश कर ध्वंसात्मक मार्ग पर गतिशील हो ? जहां तक मैं समझता हूं, ध्वंसात्मक साहित्य के सृजन से तो अच्छा है, साहित्यकार कोई व्यवसाय प्रारम्भ करे, या कुछ और करे, पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को गुमराह करके उसे दिशाहारा की भाँति भटकने की प्रेरणा देने का उसे कोई अधिकार नहीं है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की इन परिस्थितियों में कठिन परीक्षा होती है। यथार्थवाद के चित्रण के साथ किसी को भी शिकायत नहीं हो सकती, पर यथार्थवाद के चित्रण के साथ यह महत्वपूर्ण तथ्य सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि यथार्थवाद के साथ निर्माण का भी प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं है। मनुष्य के अन्तस् की सभी भावनाओं के सत्य चित्रण पर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद बल देता है। पर इस मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने साहित्य और समाज को कामुक कथानक दिए हैं, जो उत्तेजनापरक हैं, 'जिनके पहले संस्करण जल्दी से खरीद कर इसलिए पढ़ लिए जाते हैं कि कहीं शासन उन पर नियंत्रण न लगा दे। इस मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने ऐसे पात्रों का सृजन किया है, जो बीमार हैं, कामलोलुप हैं, काम एवं अतृप्त वासना के कारण जिनके व्यक्तित्व खण्डित हैं, जिनके जीवन में प्रारम्भ से अन्त तक सेक्स ही सेक्स है। उनके अन्दर ऐसी 'गर्मी' है कि १०३° या १०५° के बीच में बुखार होने के बावजूद नल पर नहाती हुई कोई लड़की या अपनी खिड़की के नीचे से जाती हुई कोई सौन्दर्यमयी कामिनी देखेंगे तो नीचे कूदकर उसे अपनी बाहों में भरकर उसके 'गर्म' होठों पर अपने 'गर्म' होंठ रख देंगे और चुम्बनों की बौछार कर देंगे। डी० एच० लारेंस ने तो यहां तक कहा[1] कि मनुष्य के अन्तस् को

1 "His view is that the supression and renunciation of instinctive satisfactions which society demands of human beings are bad for them, and men's lives would be happier and freer if the inconscious instead of bieng kept a cabin-prisoner withheld from the light were given free access to concious-ness,"

—सी०ई०एम० जोएद : गाइड टू माडर्न थॉट, पृष्ठ ३१०

किसी कैदी की भाँति पिंजड़े में बन्द न रखकर मुक्त कर देना चाहिए। उसकी इच्छाओं एवं भावनाओं को नियंत्रित करना श्रेयस्कार नहीं है, उन्हें स्वतन्त्र वायु मिलती रहनी चाहिए, जिससे उन्हें प्राण संजीवनी मिलती रहे। मानव जीवन का सुख और उल्लास इसी में निहित है। आधुनिक शताब्दी ऐसी ही विचारधारा में बह चली, जिसके परिमाणस्वरूप अपने हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी टॉलस्टाय और गोर्की तो कम,. डी० एच० लारेंस अधिक जन्म लेने लगे। पर मैं हिन्दी के उन सभी 'डी० एच० लारेंस' से पूछना चाहता हूँ, शैली और शिल्प, प्रयोग एवं अन्वेषण, सत्य तथा मूल्य एवं मर्यादा के नाम पर उन्होंने जिस साहित्य की रचना की है, उसका मूल्यान्वेषण जिस आधार पर किया जाना चाहिए, उनके साहित्य ने समाज को कौन से संदेश दिए हैं, कितने स्वस्थ एवं कर्मठ पात्र दिए हैं, और ऐसे कितने कथानकों की कल्पना की है, जो यथार्थवाद के साथ निर्माण को भी अपना दायित्व मानते हैं और लिखे गए हैं। उनके उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास साहित्य की 'लोकप्रियता' में निश्चय ही वृद्धि की होगी, पर मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ ऐसे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के चित्रण से कोई लाभ न हो रहा है और न होगा, जो मनुष्य को निर्माणोन्मुख न करके उसे कामलोलुप बनाए और पढ़ने के लिए प्रेरणादायक यथार्थवादी साहित्य न प्रदान कर वासनापरक कामोत्तेजक साहित्य प्रदान करे।

यहाँ यह सब कहने का मेरा यह अभिप्राय बिलकुल ही नहीं है कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का पूर्ण तिरस्कार होना चाहिए और उसका चित्रण उपन्यासों में न होना चाहिए। होना चाहिए और अवश्य ही होना चाहिए। मनुष्य के अन्तस् में ऐसे बहुत से भाव हैं, जिन्हें हम सांकेतिक ढंग से भी चित्रित करके मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के महत्व की रक्षा कर सकते हैं और साहित्य को विकृतियों, विध्वंस की छाया एवं कामोत्तेजना के प्रभाव से बचा सकते हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के नाम पर हिन्दी के उपन्यासकार कितना अनर्थ कमा रहे हैं—इसके अनेक चित्र अज्ञेय के उपन्यासों में खोजे जा सकते हैं।

अज्ञेय वास्तव में डी० एच० लारेंस से अत्यधिक प्रभावित हैं। लारेंस नारी और पुरुष के मध्य परस्पर शारीरिक संभोग को बुरा नहीं मानता, यदि उससे प्रेम में प्रगाढ़ता आती हो। वह नैतिकता को कला का आवश्यक अंग

तो स्वीकार करता है, पर उपदेशपूर्ण नैतिकता को वह नहीं स्वीकारता।[1] यदि उपन्यासकार में पर्याप्त कौशल है और कलात्मक निपुणता है, तो वह जीवन के गुप्त स्थलों का उद्घाटन कर सकता है, क्योंकि ऐसे ही स्थलों पर हमारी संवेदनाएँ मन को साफ करती हुई उमड़ती हैं।[2] और उपन्यासकार यदि ऐसा न करके उपदेशात्मक स्तर पर नीचे उतर आता है, तो एक प्रकार से वह उपन्यासों को निष्प्राण कर देता है। यह तो हुई लारेंस की विचारधारा, जिसका निष्कर्ष है कि वह संयम-असंयम को नहीं स्वीकार करता। श्लील-अश्लील को भी वह नहीं मानता, बल्कि यह मानता है कि कला को जीवन के गुप्ततम रहस्यों का उद्घाटन करके उपन्यासों को 'प्राणवान्' बनाना चाहिए। अज्ञेय ने भी कदाचित् इसी को स्वीकार करके उपन्यास सृजन के दायित्व का 'कलात्मक निर्वाह' (या कि नाश !) किया है। हिन्दी के ऐसे अनेक डी०एच० लारेंस[3] हैं और हो रहे हैं, जो यही उद्देश्य मानकर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के देवता को अपनी अर्चना के पुष्प चढ़ाकर उसके सामने नतमस्तक हो रहे हैं और अपने उपन्यासकार होने के दायित्व को ठोकर मार कर कला के माध्यम

---

1 "The essential functions of art is moral ......But a passionate, implicit morality, not didactic. A morality which changes the blood, rather than the mind"

—डी०एच०लारेंस : स्टडीज इन क्लासिक अमेरिकन लिट्रेचर, (१९३०), न्यूयार्क, पृष्ठ २५४

2 "........the novel, property handled, can reveal the most secret places of life; for it is in the passionate secret places of life, above all, that the tide of sensitive awareness needs to ebb and flow, cleansing and refreshing."

—डी०एच०लारेंस : लेडी चैटर्लीज् लवर, पृष्ठ ९०

3 "If you try to nail anything down, either it kill the novel or the novel gets up and walks away with the nail."

—डी०एच०लारेंस : मारेल्टी ऐन्ड द नॉवेल, पृष्ठ ५२८

से कामोत्तेजक चित्रण और अश्लीलता के प्रसंगों को अभिव्यक्ति देने की प्रक्रिया में वासना के जुए के नीचे अपने आपको शिकार स्वीकार कर लेने में गर्व का अनुभव करते हैं। वास्तव में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की माँग निर्माण की होनी चाहिए, न कि ध्वंस की।[१]

अति यथार्थवाद

अति यथार्थवाद (Sur-Realism) का जन्म अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों की भाँति फ्रांस में हुआ। इस आन्दोलन का नेतृत्व चार्ल्स बौदेलेयर (१८२१-१८६७ ई०) ने किया। उसकी 'वॉयेज' की अन्तिम पंक्तियों में इसका स्पष्ट निर्देश हुआ है। इस प्रवृत्ति के अनुसार स्वाभाविकता एवं सत्य की अभिव्यक्ति सर्वसम्मत भौतिक एवं मानव प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिकूल जीवन की विकृतियों में कामवासना-सम्बन्धी वातावरण की छत्र-छाया में अन्वेषित किया जाने लगा। इस प्रवृत्ति का जन्म १९२० ई० के लगभग हुआ और आन्द्रे ब्रेतन (१८९६ ई०) इसका जन्मदाता था। अति यथार्थ-वाद का प्रयोग अपोलेनियर के सिद्धन्तों के आधार पर ऐसी सत्ता के अर्थ में किया गया, जो दृश्यमान वास्तविकता से परे हो। इसकी प्रकृति अधिकांश रूप में मानसिक विकृतियों से सम्बद्ध है। अतियथार्थवादी उपन्यासों का सम्बन्ध प्रमुखतया स्वप्नों और मानव की अर्द्ध-जाग्रत स्थितियों से ही है। आन्द्रे ब्रेतन के अनुसार अति यथार्थवादी कृति में स्वतः चालित लेखन प्रणाली को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है। प्रश्न उठता है, यह स्वतः चालित लेखन प्रणाली है क्या ? इसका उत्तर देते हुए हर्बर्ट रीड ने अपने लेख "मिथ, ड्रीम एण्ड पोयम' में कहा है कि स्वतः चालित लेखन प्रणाली (Automatic writing) से अभिप्राय मान की उस स्थिति से है, जिसमें

१ यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार, देवराज, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि ऐसे ही दूसरे उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। इनमें से कुछ उसके स्वस्थ पक्ष को अपनाकर निर्माण एवं दायित्व का निर्वाह करने में सफल हुए हैं, और कुछ ने अस्वस्थ पक्ष को अपनाकर उपन्यासों को ध्वंसात्मक मार्ग पर विशोन्मुख कर अपने 'कर्तव्य' की 'पूर्णता' की है।

अभिव्यक्ति तत्काल एवं नैसर्गिक रूप में होती है और जहाँ भावचित्र और उसकी शाब्दिक प्रकृति में समय का कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इस प्रणाली के अनुगमन का दुष्परिणाम यह हुआ कि कला अव्यवस्थित रूप में प्रकाशित होने लगी और कला के क्षेत्र में अराजकतावाद की स्थिति उत्पन्न हो गई। अति यथार्थवाद की शिला अनीश्वरवाद पर अवस्थित है। वह कला के बौद्धिक स्वरूप का पक्षपाती नहीं है। वह एकान्तिकता से परिपूर्ण जीवन के काल्पनिक पक्ष के ही प्रति अधिक आग्रहशील है। व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों का चित्रण करना एवं भाव प्रकाशन करना अति यथार्थवाद का चरम लक्ष्य है। वह प्रचलित नैतिक मान्यताओं को अस्वीकृत करता है। उसकी नैतिकता का स्वरूप स्वतन्त्रता एवं प्रेम पर आधारित है क्योंकि आज की प्रचलित नैतिकता उनके विचार से आडम्बरपूर्ण एवं थोथी है। अति-यथार्थवाद का मत है कि अपने चित्रण में उपन्यासकार की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, उस पर मर्यादाओं, आदर्शों एवं नैतिकता के कोई बन्धन न हों।

अति-यथार्थवाद (Sur-Realism) हृदय की भावनात्मक गति का प्रतिनिधित्व करता है। यह बौद्धिकता के विरुद्ध है किन्तु साथ ही भावुकता के प्रति भी आग्रहशील नहीं है। यदि अति-यथार्थवाद को कोई पीछे उसके आधार भूमि तक ले जाना चाहे तो वहाँ वे मूलभूत तत्व प्राप्त होंगे, जिस पर किसी भी उपयोगी भित्ति का निर्माण किया जा सकता है। वे मूलभूत तत्व प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान से सम्बन्धित हैं। अति-यथार्थवाद की यदि कोई दार्शनिक आपत्ति अतीत काल में कहीं प्राप्त होती है, तो वह हीगल में ही। फ्रायड के अनुसार चेतना के स्पन्दन गम्भीर कामनाओं के रूप में प्रस्फुटित होते हैं और व्यंजना परिस्थितियाँ, पीड़ाएँ, असंतोष एवं अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप में परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नये वाद का जन्म होता हैं, जो अति-यथार्थवाद है। वस्तुतः यह और कुछ नहीं, यथार्थवाद का चरम रूप ही है। यह रूप-विन्यास आदि को चेतन मन की कार्य-प्रक्रिया स्वीकार करता है। चेतन मन अवचेतन मन की तुलना में दुर्बल और शक्ति-हीन है। अवचेतन मन किसी भी प्रकार के बन्धन, नियंत्रण या सीमाओं को नहीं स्वीकार करता। नैतिकता, भय, लज्जा तथा संकोच उसके लिए महत्वहीन होते हैं। इस प्रकार एक असंगति (Disharmony) की स्थिति उसे प्रिय है। काम (Libido) की अतृप्ति प्रायः सामान्यजनों

में होती है और अवचेतन में उनके विस्फोट की सम्भावना बराबर बनी रहती है। इस प्रकार एक असन्तुलन (Imbalance) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह असंगति और असन्तुलन ही अति-यथार्थवाद के दो आधार-भूत स्तम्भ है। यह मनुष्य को अवचेतन मन से ही विशेष रूप से सम्बन्धित है।

अति-यथार्थवादियों के अनुसार आदर्श अर्थहीन होते हैं। ठीक उसी प्रकार, जैसे कि मानवीय चेतन द्वारा छायांकित यह भौतिकजगत्। अति-यथार्थवाद किसी नैतिक परम्परा के प्रति श्रद्धावान् नहीं है और क्लासिकल तथा पूंजीवादी परम्पराओं को तो बिल्कुल ही तिरस्कृत करता है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी शैक्षणिक परम्पराओं और सामाजिक वातावरण, नैतिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक विश्वासों के कारण शोषित एवं खण्डित होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति अत्यन्त शिक्षित, शिष्ट एवं गम्भीर (Sober) है। वह सभ्यता एवं संस्कृति में भी पूर्ण विश्वास रखता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह आन्तरिक रूप से भी वैसा ही है, जैसा कि वह बाह्य रूप से है। अपनी सम्मानपूर्ण सामाजिक स्थिति की रक्षा के लिए उसे अपनी अनेक इच्छाओं, कामनाओं एवं यहाँ तक कि वासनापरक इच्छाओं का भी दमन करना पड़ता है। व्यक्ति तो यह समझता है कि उसने इनका दमन कर दिया, पर वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। वे सभी अवचेतन मन में संगृहीत होती रहती हैं और उनके विस्फोट की सम्भावना वहाँ बराबर बनी रहती है। अति-यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इसी अवचेतन से सम्बन्धित है, जो व्यक्ति को शोषित, खण्डित और गुमराह करता है। साम्यवाद की भाँति अति-यथार्थवाद भी यह आग्रह नहीं करता कि कलाकार अपनी वैयक्तिकता का परित्याग करे, पर वह इस बात पर बल देता है कि कलाकारों के बीच सामान्य समस्याएँ हैं, जिनका उन्हें समाधान करना है, और सामान्य खतरे में हैं, जिनसे उन्हें बचना है।

पर अति-यथार्थवाद ने असन्तुलन एवं असंगति के ऐसे वीभत्स एवं घृणास्पद चित्र उपस्थित किए कि मानव मात्र विकृतियों का पुतला बन गया, फलस्वरूप अति यथार्थवादी स्कूल पर अनेक दोषारोपण किए जाने

लगे और उनके उत्तर भी दिए गए।[1] पर सबसे भीषण आरोप यह किया गया कि अति यथार्थवाद हिंसा और न्यूरोटिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता है। वह वर्तमान नैतिकता को तिरस्कृत करता है, क्योंकि उसके विचार से वह रूढ़ और आडम्बर-युक्त है। वह प्रेम और स्वतन्त्रता पर आधारित नैतिकता को प्रमुखता प्रदान करता है। उसके विचार से आज की मानवता और कुछ नहीं, पाप है वह ऐसी नैतिकता से घृणा करता है क्योंकि वह

1 Thoughts, or ideas, or nations, not is kind, but in-force. It has commonly been supposed that these distinct thoughts which effect a number of persons at regular intervals, during the passage of a multitude of other thoughts, which are called real or external objects are totally different from those which affect only a few persons and which recur at irregular intervals and are usually more obscure and indistinct, such as nallucinations, dreams and the ideas of madness. No essential distinction between any one of these ideas, or any class of them is founded on a correct observation of the nature of the things, but merely on a consideration of what thought are most invariably subservient to the security and happiness of life, and it nothing more were expressed by the distinction; the philesopher might safely accomodate his language to that of the vulgar. But they pretend to assert on essential difference, which has no foundation in truth, and which suggests a narrow and false conception of universal nature, the parent of the most fatal errors in speculation. A specific difference between every thought of the mind, is, indeed, a necessary consequence of that law by which it percieves diversity and number, but a generic and essential difference is wholly arbitrary."—

—शेली : स्पेकुलेशन्स ऑव मेटाफिजिक्स

एक आडम्बर है और अधिकांश व्यक्ति अपूर्ण ही जन्म लेते हैं। उनकी रही-सही पूर्णता भी उनकी विषम परिस्थितियों के कारण समाप्त हो जाती है। मानवता के विकास से ही इस पाप और बुराइयों का निराकरण किया जा सकता है, किन्तु यह हमारा विश्वास है कि संगठित नियन्त्रण एवं दमन की सम्पूर्ण प्रणाली, जो आज की नैतिकता का सामाजिक तत्व है, को मनोवैज्ञानिक ढंग से गलत समझा जाता है और यह पूर्णतया हानिप्रद है। अतः संवेगों की पूर्ण सम्भव स्वतन्त्रता और प्रेम से वह चीज प्राप्त की जा सकती है, जो किसी विधान या नियन्त्रण से नहीं प्राप्त हो सकता।

अति-यथार्थवाद किसी भावुक मानवतावाद (Emotional Humanism) से सम्बन्धित नहीं है। वह अत्यन्त कठोर ढंग से नियंत्रित मनोवैज्ञानिक है और यदि वह 'प्रेम' और 'सहानुभूति' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, तो इसीलिए कि व्यक्ति को आर्थिक एवं वासनात्मक जीवन को उसके विश्लेषण ने उसे इन शब्दों के शालीनतापूर्वक प्रयोग करने का अधिकार दिया है और इस प्रयोग में किंचितमात्र भी भावुकता का स्थान नहीं होता। अति-यथार्थवाद, जो ज्ञान की एक प्रणाली है, फलस्वरूप विजय और सुरक्षा की भी प्रणाली है, मनुष्य की चेतनशीलता का रहस्योद्‌घाटन करता है। अति-यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि सभी व्यक्तियों में विचारों की समानता होती है और वह मनुष्य-मनुष्य के मध्य व्यवधान को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। भेदभाव या कायरता की किसी सीमा को वह नहीं मानता। उसका विचार है कि मनुष्य अपने आपका अन्वेषण करे, अपने स्वत्व को पहचाने और तभी वह उन सभी निधियों को प्राप्त कर सकने की सक्षमता प्राप्त कर सकेगा, जिससे उसे वंचित कर दिया गया है और जिसका संचय वह प्रत्येक काल में करता है, यह संचयन, आत्मपीड़न, घुटन के फल-स्वरूप ही हो पाता है जो अल्पसंख्यक अधिकार प्राप्त लोगों के लिए होता है जो मानव महानता का प्रतिपादन करने वाले प्रत्येक तत्वों से अन्धे और बहरे होते हैं। अति यथार्थवाद अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूर्ण बल देता है और उसे और भी व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। वह मानता है कि मानव और उसकी कार्य प्रक्रिया अलग नहीं किए जा सकते। वह मनुष्य की स्वतन्त्रता में विश्वास रखता है और अपने पूर्ण सामर्थ्य से इस उद्देश्य-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। वह इस प्रक्रिया में पराजयवाद, गुमराह,

करने वाली प्रवृत्ति और शोषण का विरोध करता है। हिन्दी में जहाँ तक प्रश्न है, अति-यथार्थवाद की शैली का शुद्ध रूप में प्रयोग किसी उपन्यास में नहीं किया गया है। इसका आंशिक प्रभाव 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के दीप' तथा 'दादा कामरेड' आदि में लक्षित होता है। पर वे शुद्ध रूप में अति-यथार्थवादी उपन्यास नहीं हैं।

प्रकृतवाद

प्रकृतवाद (Naturalism) का प्रथम प्रयोग साहित्य में फ्रेन्च उपन्यासकारों द्वारा किया गया, जो अपने को फ्लाबेयर का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते थे। प्रकृतवाद को जोला और मोपांसा ने नेतृत्व प्रदान किया, यद्यपि फ्लाबेयर ने स्वयं अपने को यथार्थवादी या प्रकृतवादी मानने से अस्वीकार करता था। वह अपने को फ्रेन्को क्लासिस्ट स्वीकारता था और प्रकृतवाद को 'असमर्थ' बताता था। प्रकृतवाद के विश्लेषण के सम्बन्ध में दो विख्यात समालोचनाएँ प्राप्त होती हैं। एक मोपासाँ के उपन्यास Pierre et Jean और दूसरे ज़ोला की पुस्तक Le Roman Experimental की भूमिकाओं में। जोला के अनुसार प्रकृतवाद उन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार जन्मा था जो व्यक्ति की पूर्णता एवं सत्ता निश्चित करती है। उसने एक स्थान पर यह भी कहा कि उपन्यासकार का काम केवल वर्णन करना ही नहीं, संसार की अव्यवस्था को ठीक करना भी है।[1] पर जैसा कि आगे प्रकृतवाद के सिद्धान्तों का विश्लेषण करते समय हम देखेंगे, इस विचारधारा ने कुछ भी व्यवस्थित करने के बजाय, संसार में घृणा, निराशा एवं कुंठाजन्य परिस्थितियों को जन्म दिया। ज़ोला अपने को प्रयोगवादी ही मानते थे,

---

1 'The aim of the novel is not simply to describe; it must also correct, and it is a poor sort of correction to describe a little in order to correct one of these days.'

—एमिली ज़ोला : करसपॉन्डेन्स, (१८५७-१८७१) बर्नार्ड संस्करण, पृष्ठ २५५।

और यह स्वीकारते थे कि प्रयोगवादी प्रकृति की जाँच करने वाला मजिस्ट्रेट होता है और हम उपन्यासकार मनुष्य एवं उसके विचारों की जाँच करने-वाले मजिस्ट्रेट हैं।[१] यद्यपि यह सत्य है कि नित्य-प्रति के जीवन के अनुभवों पर उपन्यास लेखन को आधारित करना पड़ता है और ऐसे अनुभव या तथ्य प्राप्त हैं। उस जीवन से असीम नोट बनाए जा सकते हैं, पर यह बिल्कुल ही असत्य है कि कोई पर्यवेक्षण, प्रयोग अथवा तथ्य अच्छे उपन्यास बन जाते हैं।[२] यद्यपि ज़ोला और मोपासां ने इसे समझा था, और उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र मानव अनुभूतियों के चित्रण प्राप्त हो जाते हैं, पर ऐसा आंशिक रूप में ही हुआ है, उन्होंने इस पर बल नहीं दिया।

प्रकृतवाद जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयत्न करता है, जिस पर डार्विन और स्पेन्सर आदि के सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। डार्विन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियाँ अवशिष्ट हैं। प्रकृतवाद ने इस मूल सत्य को, जो मुख्य रूप से जीव विज्ञान एवं शरीर विज्ञान से ही सम्बन्धित हैं––अपना लिया और उसे उपन्यासों के क्षेत्र में ले आने का प्रयत्न किया। इस प्रकार प्रकृतवाद ने यथार्थवाद को उसके पूर्णतया नग्न रूप में देखा। यह साहित्य में निराशा के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुआ है। इसमें ज्ञान-प्रकाश से युक्त आशावादी आदर्शवाद के ध्वंसावशेष, मनुष्य की पूर्णता एवं निष्ठा में पूर्ण अनास्था, प्रजातांत्रिक प्रणाली में अविश्वास

1 'The experimantalist is the examining magistrate of nature, we novelists are examining magistrates of men and their passions.'

—एमिली ज़ोला : उद्धृत—सी० एच० ग्रेथो : टेक्नीक ऑव द नॉवेल, (१९२८), न्यूयार्क, पृष्ठ २५१।

2 'It is perfectly true that novel writing ought to be based on experience in practical life, and that infinite documents are procurable. Infinite notes may be made from that life. It is utterly that any observation, any experiment, any document is good novel.'

—सेन्ट्सबरी : ए हिस्ट्री ऑव फ्रेन्च नॉवेल, (१९१९), लन्दन, पृष्ठ ४७०।

और मानव विकास के प्रति निराशा के भाव लक्षित होते हैं। प्रकृतिवादियों के लिए समाज कोई अस्तित्व नहीं रखता। वे इसका खण्डन करते हैं। वे केवल मनुष्य का प्राकृतिक विकास दिखाकर उसकी पाशविक प्रवृत्तियों को उभारना चाहते हैं, क्योंकि यह सारी मानवता पशुवत् है, और मनुष्य पशु है, बायोलॉजिकल जीव प्राणी है। वे इस बात को भी नहीं स्वीकारते कि आत्मिक विकास से ही अन्तिम पूर्णता प्राप्त होती है। प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में विकास भी उनके लिए अर्थ-हीन है और आदर्श, नैतिकता तथा सृष्टि की आत्मानुभूति उनके लिए शून्य स्वप्नों के समान है और ईश्वर की सत्ता स्वीकारना हास्यास्पद है। प्रकृतवाद नैतिकता के वर्तमान मानदण्डों के प्रति कठोर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है। पर मनुष्य पर से वर्तमान नैतिक नियंत्रण शिथिल करने की प्रयत्नशीलता से वह किसी स्वतन्त्रता का नहीं, वरन् निराशा का स्वर ही उद्घोषित करता है, और यद्यपि इसका आविर्भाव विज्ञान से ही हुआ है, फिर भी वैज्ञानिक सिद्धान्तों में यह किसी सुख का अनुभव नहीं करता। प्रकृतवादियों के लिए प्रत्येक वैज्ञानिक निष्कर्ष मनुष्य की असहायावस्था की ओर संकेत करता है।

प्रकृतवाद किसी धार्मिक परम्परा में विश्वास नहीं रखता। उसके आधारभूत सिद्धान्त प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। उसके अनुसार मनुष्य पशुजन्य है। प्रकृति कठोर है। मानव स्वभाव स्वार्थी, निर्दयी और कामुक है। इस विचारधारा में प्राकृतिक व्यवस्था का उन्मीलन होता है। ऐतिहासिक रूप से प्रकृतवाद यद्यपि यथार्थवाद की ही एक विकसित शैली है और वह उसका चरम रूप स्वीकारा जा सकता है, पर स्वयं जोला के लिए यथार्थवाद अर्थहीन था। उसका उद्देश्य था कि यथार्थवाद व्यक्तिवादी स्वभाव के ही अधीन हो। उसका विचार था कि मानव सत्य से बढ़कर कुछ और नहीं है। वह चाहता था कि कला जीवन के प्रति सत्य हो। उसके लिए कला मनुष्य—जो परिवर्तनशील तत्व है, और प्रकृति—जो अपरिवर्तनशील है, के मध्य होने वाले परस्पर विवाह के समान है। सौन्दर्य की उसके अनुसार कोई पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। वह भी अनिवार्यतः एक मानवीय तत्व है। अतः कथाकार का दायित्व है कि वह अपने ही समय में अन्वेषित सौन्दर्य तत्वों का उद्घाटन करे।

प्रकृतवाद जीवन का यथातथ्य चित्रण करता है। वह जीवन, जैसा है, उसी रूप में चित्रित कर अपनी दृष्टि पूर्णतया तटस्थ एवं निरपेक्ष रखता है। उसमें प्रत्यक्ष आलोचना का अभाव रहता है। उसके अन्दर न आदर्श स्थापित करने और न कोई संदेश देने की प्रवृत्ति रहती है। वह तो समाज की वीभत्सता एवं नग्नता दिखाकर संतोष कर लेता है। सत्य की स्थापना करने में प्रकृतवाद विज्ञान के नियमों का पालन करता है।[1] इस प्रकार प्रकृतवाद जीवन के अस्वस्थ एवं कुत्सित पक्षों पर ही अधिक बल देता है। उसकी जीवन में निरीक्षण करने की दृष्टि पूर्णतया एकांगी है। वह मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के अतिरिक्त कुछ और देखने और समझने के प्रति मौन है। इसीलिए उसका दृष्टिकोण नैराश्यपूर्ण है। प्रकृतवाद यह समझता है कि मनुष्य इतना पशु हो गया है, समाज में कुत्सित वृत्तियाँ इतनी प्रसारित हो चुकी हैं कि अब सुधार होना या मनुष्य का सत्पथ पर अग्रसर होना कठिन है। इसीलिए उसको सर्वत्र निराशा ही निराशा दृष्टिगोचर होती है। एक सुविज्ञ के अनुसार प्रकृतवाद बहुत दिनों तक जलता रहा और अन्त में जलकर राख हो गया। तब अग्निशिखा को प्रज्वलित करने के लिए उसकी लौ में झोंकने के लिए उसे और भी सामग्री की आवश्यकता हुई, विशेषतया नारियों की। वे उसको दुःख देंगी और वह उस दुःख को उन्हें ब्याज-सहित वापस करेगा। इस प्रकार प्रकृतवाद ने अपने चारों तरफ के हर व्यक्ति पर दुर्भाग्य की छाया अंकित कर दी[2] और लोगों को जीवन के प्रति अस्वस्थ एवं निराश बना दिया।

प्रकृतवाद ने एक स्वर से यह घोषणा की कि प्रकृति की ओर लौट चलो। फलस्वरूप प्रत्येक परम्परा-धार्मिक अथवा नैतिक- एवं पूर्वाग्रहों के प्रति प्रकृतवाद ने संघर्ष उत्पन्न करने की चेष्टा की। प्रकृतवाद इस प्रकार

---

1 'In telling the truth naturalism professes to follow exactly the method of science, that is, collection of detailed evidence and impersonal setting forth of conclusions.'

—वाल्टर एल० मायर्स : लेटर रियलिज्म, (१९२७), शिकागो, पृष्ठ २३।

२ सार्त्र : ह्वाट इज़ लिट्रेचर, (१९५०), लन्दन, पृष्ठ ९९-१००।

यथार्थ से पलायन है, हालाँकि प्रकृतवादियों ने अपने चित्रण को भी यथार्थ ही बताया है, पर कलाकार जो जीवन और समाज के प्रति सजग है, जानता है कि इस प्रकार का यथार्थ कला नहीं है। प्रकृतवाद ने जिस केमराईपन (Photographic) यथार्थवाद पर बल दिया है, वह उतना ही अवांछनीय है, जितना कि युरोपियन स्वच्छंदतावाद। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि चीजें जिस रूप में गतिशील हो रही हैं, उसको देखने या उसका मार्ग प्रशस्त करने में यह नितान्त रूप से असमर्थ है। प्रकृतवाद सिर्फ इस पर ध्यान देता है कि चीजें किस रूप में हैं, न कि इस पर कि वे कौन सा रूप ग्रहण कर रही हैं। इस प्रकार का यथार्थवाद अव्यावहारिक एवं नैराश्यपूर्ण है। यह भविष्य के प्रति किंचिन्मात्र भी आस्थावान् नहीं है, इसलिए उसकी उपेक्षा करता है।

प्रकृतवाद में मानवीय व्यवहार सामाजिक वातावरण के कार्य-रूप में समझे जाते हैं और व्यक्ति इसकी विशेषताओं का जीवित समूह-पुंज समझा जाता है। उसका अस्तित्व इसमें उसी भाँति है, जिस प्रकार प्रकृति में पशुओं का। एक ओर तो वह अकर्मण्यता की परिधि में आबद्ध है, दूसरी ओर वह सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों के उद्घाटन का प्रयत्न करता है। पर केवल पाशविक प्रवृत्तियों के ही वर्णन से साहित्यिक दृष्टि से ये सेक्स सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, पीड़ाएँ, उत्पीड़न तथा भोगने एवं सहने की क्रियाएँ चाहे जितनी भी विस्तृत एवं पूर्ण क्यों न हों—मानव के सामाजिक, ऐतिहासिक एवं नैतिक अस्तित्व को पूर्णतया निम्न स्तर तक ले जाती हैं। इस प्रकार प्रकृतवाद मानव संघर्षों, विषमताओं एवं मनुष्य की पूर्णता को चित्रित करने की अनिवार्य कलात्मक अभिव्यक्ति के मार्ग में माध्यम नहीं, वरन् बाधा है। यही कारण है कि प्रकृतवाद ने अभिव्यक्ति का जो नवीन माध्यम प्रस्तुत किया और जिन नवीन तत्वों का उद्घाटन किया, उससे साहित्य समृद्ध नहीं हुआ, वरन् उसने साहित्य को संकीर्णता एवं निकृष्टता की निम्नतम सीमा तक पहुँचा दिया। मनुष्य के आन्तरिक जीवन और उसके आवश्यक अन्तर्द्वन्द्वों तथा संघर्षों का वास्तविक चित्रण केवल सामाजिक एवं ऐतिहासिक तत्वों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। इससे भिन्न अपना नया सिद्धान्त गढ़ लेना और नवीन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति खोज लेना पूर्णतया अवांछनीय इसलिए है, क्योंकि यह कम अमूर्त नहीं है और पूर्ण मानव

व्यक्तित्व को खण्डित कर देता है। यह स्पष्ट है कि प्रकृतवादियों का पाशविक प्रवृत्तियों पर आधारित यह विचारधारा तथा प्रचारवादियों द्वारा अंकित मोटे रेखाचित्र पूर्ण मानव व्यक्तित्व के सत्य चित्र को भ्रमित एवं विभ्रान्त करते हैं। ऐसे कम ही लोग हैं जो इस बात का अनुभव करते हैं कि मानवात्मा की छानबीन करने तथा उनके मानव होने में परिवर्तनशीलता का अध्ययन करनेवाले मनोवैज्ञानिक भी पूर्ण मानव व्यक्तित्व के साहित्यिक प्रस्तुतीकरण को पूर्णतया नष्ट कर देते हैं।

पूर्ण मानव व्यक्तित्व का सजीव चित्रण तभी संभव है, जब लेखक टाइप निर्मित करने का प्रयत्न करता है। प्रश्न यहाँ मनुष्य के व्यक्तिगत स्वरूप एवं सामाजिक स्वरूप के मध्य परस्पर अन्तर्सम्बन्धों का है, जो बहुत ही विवादग्रस्त है। और वर्तमान साहित्य में आज यह एक ऐसा कठिन प्रश्न है जिसका उत्तर सरलता से नहीं दिया जा सकता। यह प्रश्न तभी से प्रारम्भ हुआ है, जब से वर्तमान बूर्जुआ समाज की रचना हुई। सतही ढंग से देखा जाय तो मनुष्य के ये दोनों स्वरूप बिल्कुल ही अलग-अलग हैं, और जैसे-जैसे वर्तमान बूर्जुआ समाज विकसित होता जाता है, मनुष्य का सबसे अलग, स्वतन्त्र एवं वैयक्तिक अस्तित्व उभरता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि व्यक्तिगत जीवन अपने ही नियमों के अनुसार बढ़ रहा है और मानो उसकी फुलफिलमेंट और ट्रेजेडी सामाजिक वातावरण की सीमाओं से स्वतन्त्र हो रही हैं। ज़ोला ने एक स्थान पर लिखा है कि उपन्यासकार, यदि वह औसत जीवन की साधारण प्रवृत्तियों को चित्रित करने के मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार करता है, तो उसे 'नायक' की हत्या कर देनी चाहिए। 'नायक' से उसका अभिप्राय ऐसे पात्रों एवं कठपुतलियों से था जो असाधारण बन जाते हैं। बाल्ज़ाक के उपन्यासों में भी प्रायः ऐसा ही हुआ है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि किन सिद्धान्तों पर ज़ोला महान् यथार्थवादियों के अवशेषों की आलोचना करता है। जोला ने महान् यथार्थवादियों, विशेषतया बाल्ज़ाक और स्टेन्ड्हल की चर्चा अनेक बार की है और बार-बार इसे दुहराया है कि बाल्ज़ाक और स्टेन्ड्हल इसीलिए महान् थे क्योंक उन्होंने मानव विकारों का बड़ी ईमानदारी से चित्रण किया है और मानव की पाशविक प्रवृत्तियों को समझने के लिए हमारी ज्ञान-वृद्धि के लिए रोचक सामग्री प्रस्तुत की है। ज़ोला इस प्रकार पुराने यथार्थवाद से नवीन यथार्थवाद का

चक्र पूर्ण करता है—अर्थात् यथार्थवाद से प्रकृतवाद की दिशा में प्रयाण करने-वाले चक्र को। इस परिवर्तनशीलता का सामाजिक आधार इस सत्य पर आश्रित है कि बूर्जुआ मनोवृत्तियों ने लेखकों की जीवन दिशा भी पूर्णतया परिवर्तित कर दी है। प्रकृतवाद ने बूर्जुआ प्रभाव से यह लेखक का धर्म निश्चित कर दिया कि वह अपने समय के महान् संघर्षों में भाग न लेकर सार्वजनिक जीवन का केवल दर्शक बना रहे।

यद्यपि प्रकृतवाद को उत्पत्तिवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न बताया गया है, पर यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि फ्रान्स में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसके लिए काफी लम्बी तैयारियाँ की गई थीं। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आगस्त कॉमटे का समाज के विकास का विज्ञान और परिवार के नवीनीकरण के प्रति उसकी अत्यधिक चिन्ता ने निश्चय ही एमिली जोला के ऊपर अपना अपूर्व प्रभाव डाला होगा, चाहे स्वयं जोला ने कॉमटे की एक भी पुस्तक न पढ़ी हो। इस प्रकार प्रकृतवाद की पृष्ठभूमि प्राणिशास्त्र में निहित है, जो डार्विनवाद से भी अधिक विशद एवं व्यापक महत्व रखता है। कॉमटे (उन्नीसवीं शताब्दी) ने समाज के विकास का विज्ञान निश्चित किया और बाद में उसे साहित्य के क्षेत्र में भी प्रचलित किया। कॉमटे के अनुसार मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ और मानवीय कार्य प्रक्रिया भौतिक कारणों का परिणाम मात्र है। जोला ने भी वैज्ञानिक सावधानी, विशेषतया उसके निष्कर्ष के सन्दर्भ में, की आवश्यकता के महत्व को सिद्ध किया है। प्रकृति और मनुष्य का अध्ययन किया जाता है, उसके प्राप्त विवरणों का वर्गीकरण किया जाता है और प्रयोगवादी एवं विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों के उपयोग की दिशा में कदम-कदम आगे बढ़ाया जाता है, पर चीज़ों के निश्चित करने में प्रत्येक को साव-धानी रखनी चाहिए। जोला की यह घोषणा विचित्र नहीं है। उस व्यक्ति ने जिसने यह घोषणा की कि वंश-परम्परा के अपने नियम होते हैं और जिसने यह स्वीकार किया कि विशेषताएँ और गुण उत्पादन की प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न तत्व है, अपने सभी विचारधारा को 'कदाचित्' से प्रारम्भ किया है। वास्तव में इस घोषणा के पूर्व जोला के सभी उपन्यास एक महान् साधारणीकरण की पृष्ठभूमि के लिए तैयारी ही थे। उसने प्रायः यह कहा है कि अधिकांश रूप में उसके उपन्यासों के लिखने का यह उद्देश्य ही है कि

इन सभी अन्वेषणों की सहायता से सर्वाधिक विशेषता सम्पन्न तत्वों का विकास होना चाहिए और मनुष्य की बुरी से बुरी विकृतियों का रहस्योद्घाटन करना चाहिए। फ्लाबेयर हालाँकि इन चीजों के संगठन की कुरीतियों से पूर्णतया आश्वस्त था फिर भी वह जोला के ही समान निश्चिन्त था कि उपन्यासकार को मध्यस्थ का अभिनय नहीं पूर्ण करना चाहिए। जॉर्ज सन्ड को लिखे गए अपने एक पत्र में उसने लिखा है कि, "मेरे लिए कला का महानतम आदर्श यही है कि कलाकार को अपने सृजन में उतना ही प्रकट होना चाहिए, जितना इस सृष्टि में ईश्वर। उससे किसी भी अंशों में अधिक नहीं।" वह इस बात पर बल देता है कि उपन्यासकार को इस बात का सतत प्रयास करना चाहिए कि वह अपने पात्रों की अन्तरात्मा में बैठकर स्वयं उनका चित्रण करे, न कि वह अपनी अन्तरात्मा का चित्रण करे। फ्रान्स में प्रकृतवाद का प्रारम्भ ही इस दृष्टिकोण से हुआ था कि जिस प्रकार पशुओं का अध्ययन किया जाता है, उसी भाँति मनुष्यों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

प्रकृतवाद ने परिवेश पर अपना विशेष बल देते हुए उपन्यासों को बाह्य विवरणों से सम्बद्ध किया। उसने मानसिक स्थिति के यथार्थ चित्रण पर बल दिया। प्रकृति ने जब मनुष्य को इस सृष्टि में भेजा था, तो उसके तन पर एक कपड़ा भी नहीं था। वह जो कुछ भी वस्त्र धारण करता है, कृत्रिमता का परिचायक है, प्रकृति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है। यदि साहित्य में ऐसी कृत्रिमता प्रदर्शित की जाती है, तो वह प्राणहीन बन जाता है। साहित्य और प्रकृति के मध्य व्यवधान जितना ही न्यून होगा, साहित्य उतना ही श्रेष्ठ होगा—प्रकृतवाद की यह धारणा थी। प्रकृतवाद के अनुसार मनुष्य पहले पशु-सुलभ था, समय के क्रम ने उसमें विकास के भाव भर दिए और आज वह सभ्यता एवं संस्कृति के आवरण में शान से बैठा है। पर सभ्यता एवं संस्कृति का यह आवरण सत्य नहीं है, कृत्रिम है, मनुष्य अब भी मूल रूप से पशु ही है और उसमें पाशविक प्रवृत्तियों का साम्राज्य है, जो समय पाने पर बाह्य रूप में प्रकट होती हैं और मनुष्य का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है। ये पाशविक प्रवृत्तियाँ मानसिक स्थितियों में लक्षित होती हैं। उपन्यासकार का यह कर्तव्य है कि मनुष्य की इन पाशविक प्रवृत्तियों एवं मानसिक स्थितियों को स्पष्ट रूप से चित्रित करे। यही प्रकृतवाद का ध्येय है। प्रकृतवाद ने यह जोर देकर कहा कि मनुष्य को प्रकृति की ओर लौट

चलना चाहिए, क्योंकि वही उसकी स्वाभाविक अवस्था है। इस प्रकार प्रकृतवाद यथार्थवाद से भिन्न मार्ग पर चलता है, क्योंकि कलाकार यह समझता है कि इस प्रकार निम्नकोटि का एवं निर्लज्जता असंयम के ऊपर आधारित यथार्थवाद का चित्रण कला नहीं है।

प्रकृतवाद वास्तव में साहित्य को आत्मिक और नैतिक रूप से शून्य कर देता है और जब प्रकृतवाद का सम्बन्ध किसी पुस्तक या लेखक से जोड़ा जाता है तो उसे सापेक्षिक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। एक आलोचक के अनुसार प्रकृतवाद साहित्य के उद्देश्य को कुंठित कर देता है।[1] यदि हम प्रकृतवादी उपन्यासों की सामान्य विशेषताओं को जानना चाहें तो उन्हें इस प्रकार एक स्थान पर रख सकते हैं। प्रकृतवादी उपन्यासों में सप्रयत्न वस्तुगतता रहती है। उसमें पूर्ण स्पष्टता रहती है। भौतिकता के प्रति पूर्णतया अनैतिक दृष्टिकोण होता है। निश्चयवाद का दर्शन संचारित होता है और उस पर निराशावाद का पूर्ण साम्राज्य आच्छादित रहता है। प्रकृतवादी जिन्हें 'महान्' और 'दृढ़' पात्र कहते हैं, वे वस्तुतः कुछ और नहीं पशु होते हैं या न्यूरोटिक प्रवृत्ति के होते हैं। प्रकृतवाद के लिए नैतिकता मूल्यहीन एवं अर्थहीन है। पर नैतिक मान्यताओं एवं नियंत्रण के तिरस्कार से यह किसी स्वतन्त्रता की नहीं वरन् निराशा की उपलब्धि करता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, वैज्ञानिक सिद्धान्तों से इसका जन्म होने के बावजूद भी प्रकृतवाद का वैज्ञानिक निष्कर्षों में कोई विश्वास नहीं है। क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक निष्कर्ष व्यक्ति की असहायावस्था की ओर संकेत करता है और इस असहनीय सृष्टि में उसकी उपेक्षापूर्ण स्थिति को सिद्ध करता है। साथ ही उसके आत्मसम्मान एवं विशेषस्तर की शून्यता की ओर भी इंगित करता है। जबकि विद्वानों ने अपने गहन अध्ययन एवं मनन चिंतन से इस बात का अन्वेषण किया है कि प्रकृति के रहस्य आत्मनिर्णय के साधन हैं और ईश्वर की सत्ता के विद्यमान होने के प्रमाण हैं, प्रकृतवादी वैज्ञानिक अन्वेषणों में केवल मनुष्य की असहायावस्था प्राप्त करते हैं। एक ही स्रोत से एक शताब्दी से भी कम समय में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं

---

१ वरनॉन एल० पैरिंग्टन : मेन करेंट्स ऑव अमेरिकन थॉट, (न्यूयार्क), पृष्ठ २२३

का जन्म कदाचित् इस बात का प्रमाण है कि वातावरण सम्बन्धी उस तथ्य में विश्वास किया जा सकता है कि मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ और उसकी स्थितियाँ अधिकांश रूप में समाज द्वारा सम्बन्धित और प्रभावित होती हैं, जिसमें वह जीवन जीता है। डार्विनवाद और प्रकृतवाद—इन दोनों ही विचारधाराओं के विकास के परिणामस्वरूप गहनतम निराशापूर्ण भावनाओं का उदय हुआ। प्रजातांत्रिक सृष्टि में मनुष्य चरम विकास कर अपने को पूर्ण बना सकता है—इस रोमांटिक विचारधारा का पतन कर इस विकास ने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य अब भी पशु है और वह भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। इस प्रकार प्रकृतवाद ने साहित्यिक परिवेश को बहुत व्यापक न बनाकर उसे सीमित कर दिया[1] और उसके अस्वस्थ पहलुओं को अश्लील ढंग से चित्रण करना ही अपना प्रमुख धर्म समझा।

अति-यथार्थवाद (Sur Realism) की भाँति हिन्दी में अभी तक शुद्ध-रूप से कोई प्रकृतवादी उपन्यास नहीं लिखा गया है। पर इसका प्रभाव कुछ अंशों में यशपाल (दादा कॉमरेड, देशद्रोही, झूठासच); अज्ञेय (शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप); चतुरसेन शास्त्री (अमर अभिलाषा, पत्थर युग के

---

1 "..... any description of mere biological processes—be these the sexual act or pain and sufferings, how-detailed and from the literary point of view perfect it may be—results in a levelling down of the social, historical and moral being of men and is not a means but an obstacle to such essential artistic expression as illuminating human conflicts in all their complexity and completeness. It is for this reason that the new contents and new media of expression contributed by naturalism have led not to an enrichment but to an impoverishment and narrowing down of literature."

—जॉर्ज ल्यूकाच : स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज्म (१९५०), लन्दन, पृष्ठ ७

दो बुत); पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (दिल्ली का दलाल, फागुन के दिन चार) आदि में लक्षित होता है। वास्तव में अभी हिन्दी उपन्यास साहित्य को अश्लीलता पूर्ण रूप से निगल नहीं पाई है और अधिकांश उपन्यासकार संयम, नैतिकता एवं संस्कृति की डोरों से अभी भी अनेक अंशों में बँधे हुए हैं। यद्यपि उनमें से अनेक की आत्माएँ इन बन्धनों में छटपटा रही हैं। ऐसे उपन्यासकार समाज में सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता, और फलस्वरूप मनुष्य की वासना एवं पाशविक प्रवृत्तियों का चित्रण उपन्यासों में करने लगे हैं।

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद साहित्य का एक तर्कशास्त्र है, एक मनोविज्ञान है और दर्शन है। वह इसी रूप में अपना कुछ महत्व रखता है। इस दर्शन ने जीवन पर अपना विशेष प्रभाव डाला और अमूर्त को ठोस रूप से समझने के उद्देश्य व्यक्ति के अध्ययन पर बल दिया। इसने अपने आपको भविष्यवक्ता मानकर भूत और वर्तमान को समझने का प्रयत्न किया है। यह जीवन से टकराता है और उस इच्छा को पूर्ण करता है जैसा कि अस्तित्ववाद के वास्तविक प्रवर्त्तक सॉरेन किर्कगॉर्ड ने प्रकट किया था कि हम जीवन में आगे बढ़ते तो हैं, पर सोचते-समझते पीछे हैं। जीवन और दर्शन के मध्य इस टकराहट ने साहित्य को प्रभावित किया है। इसने जीवन के ऊपर आरोपित आभूषण के रूप में बने रहने में ही अपना संतोष नहीं प्रकट किया अथवा कल्पना और संगीत का सौन्दर्य ही बने रहने तक ही वह सीमित नहीं रहा वरन् इसने आगे बढ़कर आधुनिक मानव के उत्पीड़न और उसके दुर्भाग्य की कालिमा का सामना किया। इसने प्रत्येक बातों के सम्बन्ध में नए प्रश्न किए और जीवन के सतही रूप तक ही सीमित रहने से अस्वीकार कर क्रान्तिकारी बनने के प्रति कृत-संकल्प हुआ। कृत-संकल्प इस अर्थ में, जैसा कि मार्क्स ने हीगल के दर्शन की आलोचना करते समय कहा था कि हमें प्रत्येक बातों की जड़ में जाना चाहिए और प्रत्येक बातों की जड़ मनुष्य स्वयं ही है। कुछ आलोचकों ने अस्तित्ववाद को सर्व सामान्य अस्वीकृति दिलाने का प्रयत्न किया। यह कहकर कि यह एक अस्वस्थ विचारधारा है जो एक

अस्वस्थ महाद्वीप तथा यूरोप की अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं से पलायन कर दर्शन की छाँव में शरण लेने के फलस्वरूप युद्धोपरान्त उत्पन्न दर्शन है। यह सत्य है कि युद्धोपरान्त यूरोप की भावधारा निराशामूलक थी, पर निराशा हतोत्साहित होने की भूमिका नहीं है। प्राय: यह उसके विपरीत भी होती है। कुछ अस्तित्ववादियों का कथन है कि उन्होंने इस निराशा को साहसपूर्ण ढंग से रचनात्मक स्तर पर लिया है और उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति मनुष्य की स्वतन्त्रता में तथा मनुष्य द्वारा स्वयं अपना भाग्य परिवर्तित करने के उत्तरदायित्व में अन्तर्निहित है। उनके अनुसार युद्धोपरान्त यूरोप के लिए यह नितान्त रूप से स्वाभाविक था कि वह ऐसी विचारधारा को जन्म दे जिसमें हाल के अनुभवों, पूर्व-स्थापित व्यवस्था की असफलता, युद्ध की भयंकरता, क्रान्तियों, हिंसा एवं रक्तपात तथा फलस्वरूप उत्पन्न भय एवं अरक्षा की भावना का समावेश हो। कामू का कहना था कि अरक्षा की भावना ही मनुष्य को सोचने के लिए विवश करती है।

पर यह सब भ्रान्तिमूलक धारणाएं हैं। अस्तित्ववाद का जन्म द्वितीय महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप नहीं हुआ है। किर्कगॉर्ड और नीत्शे का प्रभाव, जिससे यह दर्शन बहुत प्रभावित है, बहुत पहले १९३० के लगभग ही प्रसारित हो चुका था, बल्कि उससे भी पहले। और जीन पाल सार्त्र का मनोविज्ञान कामू तथा कैलीगुला की विचारधारा भी १९३९ तक प्रकाश में आ चुकी थी और अस्तित्ववाद का दर्शन प्रथम बार १९४१ में सामान्य रूप से स्पष्ट हुआ। यह वह समय था, जब जीवन की सभी सुरक्षित और सामान्य स्थितियाँ अव्यवस्थित हो चुकी थीं और जर्मन कैम्प में होने वाली मौतें तथा दुनिया की प्रत्येक दिशाओं से बम फेंकने, गोलियाँ चलाने और आक्रमण करने की निरन्तर दी जाने वाली धमकियाँ स्त्री और पुरुषों को इस बात का आमंत्रण दे रही थीं कि वे आगे आकर जीने और साथ ही साथ मरने के नए रास्तों का अन्वेषण करें।

अस्तित्ववाद का काल्पनिक साहित्य-सृजन में विश्वास नहीं रहता। वह जीवन के नित्यप्रति के स्वाभाविक संघर्षों को महत्व प्रदान करता है। मानवमुक्ति में उसकी गहन् अवास्था है। जूलियन बेन्द्रा के अनुसार अस्तित्व-वाद भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह है। एमानुएल मौनियर के अनुसार अस्तित्वबाद भावों तथा वस्तुओं के अतिवादी दर्शन के विरोध में

मानवीय दर्शन है। ऐलेन के अनुसार अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है। इस विचारदर्शन में जीवन की समस्याओं पर विचार भुक्तभोगियों की ओर से होता है। मानव की विवशता से परिपूर्ण एवं असहाय स्थिति से ही अस्तित्ववाद का प्रारम्भ होता है। मानव जीवन क्षणभंगुर है। कुछ निश्चित नहीं कि जीवन कब अन्त सीमा पर पहुँच जायगा। इस अनिश्चतता की स्थिति में मनुष्य अपने को अनेक बन्धनों में बँधा हुआ पाता है और देखता है कि उसे स्वच्छन्दता नहीं प्राप्त है। वह अपने जीवन को एक निश्चित अर्थ देना चाहता है, भावाभिव्यक्ति से पूर्ण करना चाहता है और स्वतंत्रता का उद्घोष करना चाहता है—अस्तित्ववाद की सीमा यहीं से प्रारम्भ होती है।

अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रथम सूत्र शून्यता का है। अधिकांश दार्शनिकों ने शून्यता को अस्वीकार किया है और उस पर सोचने की आवश्यकता भी नहीं समझी है, पर अस्तित्ववाद इसी पर बल देता है। ईश्वर की सत्ता को अनुपस्थिति मानते हुए ही अस्तित्ववाद शून्यता की स्थिति की कल्पना करता है और अनेक प्रश्न उठाता है; जैसे मैं क्यों हूँ, अन्य चीजें क्यों अस्तित्व रखती हैं ? भय और आशंका में इस शून्यता का अनुभव किया जा सकता है। शून्यता का सामना करते हुए व्यक्ति विकृतियों का अनुभव करता है। अतः वह जीने की एक सहज गति चाहता है, जबकि उसे समाज में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः जैसा कि कामू का कहना है, वह अपने आप में प्रत्येक बातों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव करता है, क्योंकि वह अपने को भ्रमित अवस्था में तथा चारों ओर से अन्धेरे से घिरा हुआ पाता है। .वह जीवन में सुख चाहता है, पर जीवन की वर्तमान स्थितियाँ उसकी इस इच्छा की पूर्णता को असंभव बना देती हैं। वह चाहता है कि कोई ऐसी शक्ति हो, जो उसका दिशा निर्देशन करे और त्रुटियों के प्रति उसे सावधान करे। वह इसके लिए ईश्वर की तरफ देखता है, पर उसके चिर-मौन से उसकी स्थिति और भी भयावह हो जाती है। अस्तित्ववाद इस बात पर जोर देता है कि यह विकृतावस्था, जो उनके मन और मस्तिष्क को निगल लेती है, उन्हें एक ही दार्शनिक पथ का अनुगमन करने को प्रेरित करती है जिसे नोवैलिस ने आत्महत्या कहा है, किन्तु आत्महत्या से केवल नियंत्रण हो सकता है उस तत्व का, जो इस

अन्त्री सृष्टि की विकृतावस्था का तीव्र विरोध करता है। अस्तित्ववाद ईश्वर की सत्ता के प्रति अनास्था प्रकट करता है। वह इस बात की कल्पना करता है कि ईश्वर के न होते हुए भी सभी चीजें घटित होती हैं। वह नीत्शे के प्रसिद्ध सूत्र 'ईश्वर की मृत्यु' से अपना यह निष्कर्ष प्रतिपादित करता है। उसके अनुसार ईश्वर उस भ्रमित सत्ता का नाम है, जिस पर हम अपनी जिम्मेदारियाँ डाल कर भाग्यवादी और फलस्वरूप पलायनवादी बन जाते हैं। इस प्रकार हम अपनी विषमताओं का समाधान स्वयं करने से बचना चाहते हैं। हमें इस भ्रम की स्थिति से बचना चाहिए तथा अपने आपको समझने का प्रयत्न करते हुए अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए एवं अपनी मानवीय स्थिति को तथा स्वतन्त्रता को भलीभाँति समझना चाहिए। मनुष्य को इस सृष्टि के दायित्व निर्वाह करने की क्षमता को उत्पन्न कर सारी जिम्मेदारियाँ स्वयं सँभालनी चाहिए और ईश्वर की अनुपस्थिति अथवा मौन सत्ता के स्थान पर स्वयं अपने को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए। उसे स्वयं अपना अस्तित्व निर्मित करना चाहिए और अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार करनी चाहिए।

अस्तित्ववाद मनुष्य के पूर्ण अस्तित्व में विश्वास रखता है। उसके अनुसार वह प्लेटो की गुफा में कोई छाया नहीं है जो आदर्श और स्थायी विचारों की कामना करता हो। वह एक ऐसा नमूना भी नहीं है, जिसे सामान्य अर्थों में 'मानव स्वभाव' कहते हैं। वह संसार में फेंके गए पत्थर के समान भी नहीं है, जिसे जहाँ चाहे, वहाँ फेंका या रक्खा जा सकता है। वह सृष्टि में इसी-लिए आया है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए यह जीवन जीये। यदि उसे ऐसा अवसर सहज रूप में नहीं प्राप्त होता तो उसे प्रयत्न कर अपने लिए ऐसी स्थिति निर्मित करनी होगी। इस धरती पर उसका कार्य कुछ पूर्व-स्थापित योजनाओं को पूर्ण करना मात्र नहीं। वह उन बातों को पूर्ण करने आता है जो स्वयं उसी के लिए विशेष रूप से प्रारम्भ होती हैं। वह अस्तित्व रखता है—इसके लिए वह स्वयं अपने को महत्व देता है तथा दूसरों को भी महत्व देता है। वह अपने लिए अलग मूल्यों का निर्माण करता है, साथ ही अपने अलग मानव स्वभाव का भी। यह सब वह जीवन जी करके विशेषतया अपने को आगे गतिशील करके करता है। वह यह विश्वास करता है कि कोई भी कुछ अन्य नहीं है। यदि कुछ है, तो बस अपना ही अस्तित्व और

जीवन है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने स्वत्व के साथ एक विषय है प्राप्त करने के लिए, न कि एक उद्देश्य है जानने के लिए। अस्तित्ववादी साहित्य मनुष्य की साधारण बातों, प्रकृति, मनोवेगों और समाज के यथार्थ को महत्वहीन समझता है। यह मनुष्य को उसके अस्तित्व के असाधारण महत्व का यथार्थ समझाने का प्रयत्न करते हुए उसी दिशा में गतिशील करता है।

अस्तित्ववाद मनुष्य की स्वतन्त्रता को अपना मूलभूत आधार स्वीकारता है। इसके अनुसार मनुष्य को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह प्रत्येक दृष्टि से स्वतन्त्र हो। वह वही करता है जो उसकी इच्छा होती है। यह स्वतन्त्रता यदि व्यक्ति नहीं चाहता तो इसीलिए कि उस पर इतने दबाव हैं तथा वह इतना भयभीत है कि इस दिशा में सोच ही नहीं पाता। पर अपनी स्वतन्त्रता का महत्व वह समझता है। यह मनुष्य की अकेली सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। अतः इस स्वतन्त्रता के प्रति मनुष्य की चेतना को जाग्रत् करने और उसे इस दिशा में सक्रिय रूप से प्रयत्नशील बनाने के लिए साहित्यिक रचनाओं तथा राजनीतिक एवं पत्रकारिता सम्बन्धी कार्यों का दायित्व बढ़ जाता है। इस स्वतन्त्रता को प्रत्येक सम्भव प्रयत्नों से प्राप्त करना चाहिए नहीं तो उसके छिन जाने का भय है। अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता उत्तरदायित्व का आधार है।

इस प्रकार अस्तित्ववाद एक दर्शन है जो जीने से सम्बन्धित है। उपन्यासों में अस्तित्ववाद के प्रणेता मुख्यतया जीन पाल सार्म (१९०५) ही समझे जाते हैं, जिन्होंने अपने नाटकों एवं उपन्यासों के माध्यम से इस दर्शन का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार मनुष्य का अर्थ है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता का अनुभव मानव मन में तभी होता है, जब अपनी जीवन प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में वह तल्लीनता-पूर्वक विचार-चिंतन करता है और उससे जो निष्कर्ष निकालता है, वह स्वयं उसी के लिए अत्यन्त भयानक सा प्रतीत होता है। उसे प्रतीत होता है कि सृष्टि की सीमाएँ अत्यन्त व्यापक हैं और इसमें उसकी लघु सत्ता कोई विशेष महत्व नहीं रखती। उसके चारों ओर नितान्त शून्य की स्थिति व्याप्त है जिसमें एक प्रकार से उसका उन्मीलन हो जाता है। इस शून्यता में अपने अस्तित्व के उन्मीलन के भाव से मानव पूर्णतया संत्रस्त हो उठता है और इस शून्य के वातावरण से ऊपर

उठकर अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है जिससे उसकी पूर्णता बनी रहे, उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहे और इस सृष्टि की व्यापक सीमाओं के परिवेश में आच्छादित शून्य की बाहें उसे डस न लें। अस्तित्ववाद का प्रारम्भ मनुष्य की इसी इच्छा से प्रारम्भ होता है।

अभी तक दार्शनिकों ने उन दोनों भावनाओं में अलगाव की स्थिति उत्पन्न की थी जिसमें एक व्यक्ति के अस्तित्व के नियम का कारण था तथा दूसरी यह प्राकृतिक सृष्टि थी, जिसे निश्चय ही शासन करना चाहिए और जिसकी सर्वोच्च सत्ता सर्वोपरि है उसका उन्मीलन नहीं हो सकता। अस्तित्ववादियों के लिए यह अलगाव की स्थिति ही अभी तक प्राप्त सभी उपलब्धियों की नींव है और दोनों के मध्य समझौते की स्थिति उत्पन्न करना तथा इस अलगाव की स्थिति का दमन करना स्वयं व्यक्तिगत अस्तित्व को ही समाप्त करना है। अस्तित्ववाद हीगल द्वारा प्रतिपादित पूर्णता का सिद्धान्त दो कारणों से अस्वीकृत कर देता है : १—इतिहास दूसरों द्वारा किए गए व्यक्तिगत निर्णयों का परिमाण सूचक सत्यता से परिपूर्ण निष्कर्ष है और अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति के प्रति उसका कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं उसे ऐसा अधिकार देना नहीं पसन्द करता। २—ज्ञान अतीत काल का केवल आंशिक ज्ञान ही हो सकता है; भविष्य की सीमाएँ सदैव खुली रहती हैं। मनुष्य स्वयं ही मनुष्य का भविष्य है (Man is the future of man)। वे कान्ट के अमूर्त पूर्णता को एक समाधान के रूप में भी नहीं स्वीकृत कर सकते, क्योंकि मनुष्य में ऐसा तत्व नहीं विद्यमान है, जिसका दूसरों पर शासन करने एवं नियंत्रित करने का अधिकार है। मनुष्य मात्र वही है, जो वह करता है, तब भी वह इससे भी अधिक कुछ और है। वह अपने आपमें कोई तत्व या निष्कर्ष बने, अपने स्वत्व और ऐतिहासिक अस्तित्व का वास्तविक वाह्य जगत में उन्मीलन कर देता है और मानव बन जाता है। इस मानव का स्वरूप वही होता है जैसा कि वह अपने को बनाता है। व्यक्तित्व की अन्यतम गहराइयों का कोई अधिकृत स्वत्व नहीं है, जो अच्छाइयों की आत्मा का रूप होती है और जिसके साथ व्यक्ति प्रायः या कदाचित् कभी भी पूर्ण न्याय नहीं करता। वह इसीलिए क्योंकि वह सदैव ही दृष्टि में और अपने स्वयं से भी कुछ और रहता है। उसे बराबर चिन्ता बनी रहती है कि वह जो कुछ भी है अगर

उससे कम हो जायगा, तो फिर उसका क्या होगा ? इसीलिए अच्छाइयों और बुराइयों में वह अपने स्वयं से भी कुछ और सदैव ही रहता है और यही अलगाव व्यक्तिगत अस्तित्व का सिद्धान्त है।

व्यक्ति सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है, मेरी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी कुछ अर्थ रखती है, उसका अपहरण नहीं होना चाहिए। समाज में मैं भले ही भिखारी हूँ, अपाहिज, लूला या लँगड़ा हूँ, तिरस्कृत हूँ, पर मेरा अस्तित्व अर्थहीन नहीं है, उसे नष्ट नहीं किया जाना चाहिए चाहे कुछ भी हो जाय। वह किन्हीं भी परिस्थितियों में नहीं चाहता कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाय। दूसरे शब्दों में वह बराबर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता चलता है। यही वास्तव में अस्तित्ववाद है।

अस्तित्ववाद की इस प्रकार अनेक विचित्रताएँ स्पष्ट होती हैं। वह व्यक्ति को स्वयं उसी से ही नहीं अलग कर देता अपितु इस सारी सृष्टि से भी अलग कर देता है। इससे दर्शन की अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं; जो इस बात की संगति सिद्ध करने का प्रयत्न कदापि नहीं करतीं कि मनुष्य का स्वयं अपने से ही और इस सारी सृष्टि से अलग हो जाना उचित और तर्क संगत है। बल्कि वे अलगाव की सीमाएँ बराबर व्यापक बनाने का प्रयत्न करती हैं, और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं कि मनुष्य के लिए यह अलगाव नितान्त रूप से अनिवार्य है, क्योंकि केवल इसी के माध्यम से वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और अपनी स्वतन्त्रता को अपहरण होने से बचा सकता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद अपने सम्बन्ध में उठाई गई शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न नहीं करता और इस प्रकार की प्रयत्नशीलता की आवश्यकता ही अनुभव करता है। इन शंकाओं की ओर अपना ध्यान वह तभी आकृष्ट करता और उनके समाधान करने का प्रयत्न करता है जब वे पूर्ण मानव से सम्बन्धित होकर अनिवार्य और अनुपेक्षणीय बन जाती हैं। ये शंकाएँ केवल परम्परागत शंकाएँ नहीं हो सकतीं और न ही ये जिज्ञासा की अरुचिपूर्ण शंकाएँ ही हो सकती हैं जो ज्ञान की शर्तों या नैतिक एवं सौन्दर्यवादी निर्णयों से सम्बन्धित होती हैं, क्योंकि मनुष्य का स्वयं अपने से और इस बाह्य जगत् से अलगाव की प्रवृत्ति से सम्बन्धित जो प्रश्न उठाए

जाते हैं, वे सभी प्रश्न स्वयं उसके और इस वस्तुगत विश्व के अस्तित्व से सम्बन्धित हैं। इस अर्थ में अस्तित्ववाद का इतिहास बहुत प्राचीन है और उसका सम्बन्ध दर्शन शास्त्र के प्रारम्भ से जोड़ा जा सकता है जबकि वह इस बात की अपील सभी मानवों से करता है कि उन्हें जागना चाहिए और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके मनुष्य होने का अन्ततः वास्तविक अर्थ क्या है। दूसरे शब्दों में वह पुनः यह चेतावनी देने का प्रयत्न करता है कि उनकी स्वतन्त्रता खतरे में है, जिसका अपहरण किसी भी क्षण हो सकता है। उनका अस्तित्व यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता, जो किसी भी क्षण मिटाया जा सकता है। आश्चर्य है, कि ऐसे संकट के समय, जबकि उनकी स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सत्ता और अस्तित्व को इस सृष्टि के व्यापक परिवेश ने जबर्दस्त चुनौती दी है वे सो रहे हैं, और अपनी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व के सम्बन्ध में किंचित् मात्र भी चिन्तित नहीं हैं। अस्तित्व व्यक्ति को इस सोने से जगाने और अपने को समझने की प्रेरणा देने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है।

यहाँ सार्त्र के सिद्धान्तों को थोड़े विस्तार से समझ लेना अधिक तर्क-संगत होगा। सार्त्र के अनुसार चेतनशील होने का अर्थ यह है कि हम किसी वस्तु के प्रति चेतनशील हैं। चेतनशीलता किसी वस्तु से सम्बन्धित होती है और उससे अलग होती है। वह स्वयं अपने से न तो सम्बन्ध जोड़ती है और न अलग होती है। चेतना का सम्बन्ध इस सृष्टि से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, जो स्वतन्त्र है और आत्म-निर्भर है। सृष्टि का सम्बन्ध अवश्य ही चेतना से विच्छिन्न किया जा सकता है, इसलिए नहीं कि चेतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है या स्वतन्त्र है, वरन् इसलिए कि वह इस सृष्टि में शून्य के रूप में आती है। इस प्रकार चेतना इस वस्तुगत सृष्टि से सम्बन्धित है और उस पर निर्भर है। व्यक्ति वह तत्व नहीं है जो विचार करता है, बल्कि सभी तत्वों का अलगाव है। यह अलगाव कभी पूर्ण नहीं होता। ज्ञान मूलभूत आदर्श यह है कि किसी भी वस्तु को उसके मूलरूप में देखा और समझा जाय। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब चेतना वस्तु के साथ स्वयं अपने आप को पहचाने और तभी कोई चेतनशीलता नहीं हो सकती और न ज्ञान की संभावना हो सकती है। अत: ज्ञान का वह अर्थ नहीं है जैसा कि कान्ट के सिद्धान्तों में प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान के माध्यम से हम

वस्तुओं को स्वयं उनके मौलिक रूप में जानने और समझने में असमर्थ रहते हैं। बल्कि सीधे-साधे तौर पर अर्थ यह है। यह पूर्णतया मानवीय है और यह कि चेतनशीलता का अलगाव जिससे एक ऐसी सृष्टि का अस्तित्व प्रकाश में आता है, जिसे जाना जा सकता है। ज्ञान हमें पूर्णता की स्थिति में ढकेल देती है। वहाँ वस्तुतः क्या है और उसकी सत्यता क्या है। सत्य रूप में जो जाना जाता है, वह कुछ और नहीं, वरन् वही पूर्णता है। किन्तु ज्ञान निश्चित रूप से मानवीय है। मानवीय होने के अतिरिक्त वह कुछ और हो ही नहीं सकता। और चूंकि शरीर और समझ-दोनों स्वयं ही ज्ञान के प्रथम उद्देश्य हैं अतः यह बहुत अधिक तर्क-संगत नहीं होगा कि उन्हें ज्ञान के अर्थ अथवा पृष्ठभूमि के रूप में समझा जाए। हम दूसरों के शरीर को जानते हैं और स्वयं मेरा शरीर दूसरे द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार दूसरों का अस्तित्व और हमारा दूसरों से सम्बन्ध शरीर से सम्बन्धित होता है।

एक व्यक्ति का दूसरे से सम्बन्ध क्यों है? इसका कोई बौद्धिक कारण बताने में यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही नितान्त रूप से असमर्थ रहे हैं। फलस्वरूप वे स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता को भी अस्वीकृत करने में असमर्थ रहे हैं, जो विषयगत आदर्शवाद का चरम रूप है। एक व्यक्ति इस बात का अन्वेषण करता है कि उसकी स्वतन्त्रता दूसरों द्वारा नियंत्रित है और उसका एक बाह्य रूप है, जिसे वह कभी नहीं देख सकता और जो उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस पूर्णता का सम्बन्ध मात्र मानव से होता है, जिसका जीवन समाप्त हो चुका है और जिसकी सम्भावनाएँ भी समाप्त हो चुकी हैं। दूसरे का ध्यान रखते हुए औपचारिकता में वह व्यक्ति खो जाता है। वह यह भी नहीं जानता कि उस संसार में जो उसका अपना नहीं है, उसका अस्तित्व कहाँ है और उसका स्थान कहाँ है? यही वह परिस्थिति है जो घटित होती है जब कि वह दूसरे का उद्देश्य (object) बन जाता है और वही उसका इस संसार में संगठन करता है। यह सम्बन्ध इस संसार में शरीरों के मध्य वस्तुगत सम्बन्ध नहीं है। यह संसार के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उस व्यक्ति की उच्चता पीछे छूट जाती है और वह दूसरे की उच्चता के विद्यमान होने के यथेष्ट प्रमाण सामने होने का अनुभव करता है।

इस अनुभव में स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता का बहिष्कार ही नहीं होता, बल्कि पूर्णतया खण्डित हो जाता है। यह सब दूसरों का ध्यान रखने की औपचारिकता के ही कारण होता है।

उस व्यक्ति का और दूसरे का अलगाव दो शरीरों के अलगाव की भाँति नहीं है जो इस संसार में किसी तीसरे के लिए किया जाता है। स्वयं अपने को निश्चित करने के लिए वह व्यक्ति स्वयं अपने को दूसरे का उद्देश्य स्वीकार कर लेता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, चेतनशील होने का अर्थ है कि इस विश्व की पृष्ठभूमि पर किसी वस्तु के प्रति चेतनशील होना। यह चेतनशीलता प्रभावशाली तो है, पर सर्वज्ञ नहीं है। इसे जाना नहीं जा सकता। इस प्रकार शरीर तीन दिशाओं में अपना अस्तित्व बनाए रखता है: वह व्यक्ति अपना शरीर जीता है। उसका शरीर दूसरों द्वारा जाना और प्रयुक्त किया जाता है: और जैसे कि दूसरे के लिए वह एक उद्देश्य है, वह दूसरा उसके लिए विषय है और वह स्वयं अपने लिए ही अपना अस्तित्व रखता है, जिसे दूसरा एक शरीर के रूप में ही जानता है। प्रेम में, यह दूसरे की स्वतन्त्रता ही होती है, जिसे वह जोड़ना चाहता है, या स्वतन्त्रता के रूप में हस्तगत करना चाहता है। क्योंकि यह दूसरे की स्वतन्त्रता ही होती है, जो एक को दूसरे से अलग करती है। प्रेम करने में वह यह चाहता है कि जिससे वह प्रेम करता है, वह उसे अपना उद्देश्य बनाए रखने के लिए ही अपना अस्तित्व बनाए रखे और इस प्रकार वह उसके अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने का कारण बने। इसी से उसे अस्तित्व प्राप्त होता है। वह, जिससे कि प्रेम किया जाता है, तभी प्रेमी बन पाता है, जब उसके अन्दर यह इच्छा दृढ़ हो जाती है कि कोई उससे प्रेम करे। पर कुछ भी हो, हम दूसरे की स्वतन्त्रता का चाहे जितना भी सम्मान क्यों न करें और इसके निराकरण का कोई उपाय क्यों न करें स्वयं हमारा अस्तित्व दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे नियंत्रित कर देता है। यहाँ तक कि आत्महत्या भी इस मौलिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं ला सकती।

पर एक व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतन्त्रता हस्तगत नहीं कर सकता और जब वह किसी दूसरे के ध्यान का उद्देश्य बन जाता है, तब वह बदले में स्वयं अपना ध्यान उसे दे देता है, गोया कि दो स्वतन्चता सर्वोच्चता के लिए

परस्पर संघर्ष कर सकती है। पर ज्योंही वह दूसरे को अपना ध्यान दे देता है, दूसरा व्यक्ति तुरंत ही उसका उद्देश्य बन जाता है। इस अर्थ में एक दूसरे से घृणा करने की प्रक्रिया में एक वस्तु किसी विशेष वस्तु से घृणा नहीं करता बल्कि उन तत्वों से घृणा करता है जिसके माध्यम से वह दूसरा व्यक्ति इसे अपना उद्देश्य बना लेता है और इन तत्वों से घृणा करके वह व्यक्ति सबको समूल नष्ट करने की इच्छा को जन्म देता है। यह दूसरों के अस्तित्व का सामान्य नियम है। घृणा एक कलंकित भावना है क्योंकि इसका उद्देश्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को नष्ट करना होता है। इसीलिए घृणा की निन्दा होनी चाहिए। पर यदि किसी प्रकार घृणा की विजय हो भी जाती है, तो भी यह दूसरे की चेतना से कभी छुटकारा नहीं पा सकती और स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता के खोए हुए तत्वों को पुन: प्रतिष्ठापित नहीं कर सकती। घृणा वस्तुत: निराशा का अन्तिम अस्त्र है और ठीक जैसे कि अपने संगठन के रूप में हम दूसरों के लिए अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में चेतनशील रहते हैं, उसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि मानवता के अस्तित्व के परिवेश में अधिक मात्रा में चेतनशीलता की सम्भावना बनी रहती है। यह दूसरों के लिए या तो उद्देश्य या विषय के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता मानवीय स्वभाव की सम्पत्ति नहीं है[1], वरन् मानवीय अस्तित्व है। इस स्वतन्त्रता का पर्दाफाश किया जा सकता है, पर इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। यह सृष्टि मृत्युगत है और अतीतकालीन सृष्टि है। जीवन और स्वतन्त्रता का अर्थ अलगाव है। इस सृष्टि में मनुष्य की उपस्थिति जीवित रहने का रूप नहीं, वरन् कार्यकरने का एक रूप है, चुनाव करने और अपने आपको बनाने का रूप है। इस प्रकार स्वतन्त्रता स्वयं नहीं जीती, यह मनुष्य के जीवित रहने की प्रक्रिया है।[2]

---

१ जीन-पाल सार्त्र : इग्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म, (फिलिप मैरेट अनु०) पृष्ठ ३२

2 "It is entirely abandoned, without any help of any kind, to the insuportable necessity of making itself be down to the least detail. Thus liberty is not a being of man, that is to say, his back of being. If

यहाँ यह स्वीकृत कर लिया गया है कि व्यक्ति की मौलिक रुचि कुछ और नहीं वह मार्ग है, जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने को अपने से और इस संसार से अलग करता है। यह उसके इस संसार में रहने का ढंग है। इसके आगे कदम बढ़ाना बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। यह विश्लेषण एक अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण की सम्भावना की ओर संकेत करता है, जिसके माध्यम से व्यक्तित्व और व्यवहार को समझा और समझाया जा सकता है। यह फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण के सिद्धान्त, विशेषतया उसके अतीत-कालीन घटनाओं, अतृप्त आकांक्षाओं, वासनाओं एवं कामनाओं वाले अवचेतन मन के सिद्धान्त से भिन्न है। यह परिस्थितियों एवं वातावरण के दबाव पर बल देता है। व्यक्ति स्वयं अपने कार्यों से अपने चारों ओर के परिवेश को अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, साथ ही उन घटनाओं को भी, जो उसके कार्यों को प्रभावित करती हैं। वह स्वयं अपनी परिस्थिति निर्मित करता और स्वयं ही उसके प्रति उत्तरदायी है। यही वह स्थिति है, जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्र होता है और जब वह व्यक्ति, जो कुछ वहाँ है, उससे अपनी चेतनशीलता में अलग हो जाता है, तब वह सृष्टि का निर्माण नहीं करता, वरन् उसके अस्तित्व और अपने लिए उसके अर्थ का निर्माण करता है।

सार्त्र के अनुसार मृत्यु आकस्मिक होती है, इसीलिए वह निन्दनीय है। वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहती है, वह उस अर्थ को सन्देह एवं रहस्य की स्थिति में छोड़ सकती है। अतः मृत्यु किसी व्यक्ति की विचित्र सम्भावना नहीं हो सकती। जीवन स्वयं अपने अर्थ का

one first conceives of man as a plenum, it would be absurd afterwards to look in him for moments or psyschic regions in which he would be free; as well look for space in a vassel which one has previously filled to the brim. Man cannot be sometimes bound he is entirely and always free or he is not."

—जीन-पाल सार्त्र : बीइंग एण्ड नथिंगनेस : एन एसे ऑन फेनॉमेनॉलॉजिकल एनॉटोलॉजी (अनु : हेज़ेल ई० बर्न्स, लन्दन १९५७), पृष्ठ ५१६

निर्णय करती है, क्योंकि वह सदैव रहस्य में रहता है। मृत्यु जीवन की ही भाँति शुद्ध सत्य है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में उत्तरदायित्व की भावना निहित रहती है। इस उत्तरदायित्व से बच निकलने की बिना किसी सम्भावना के व्यक्ति अपने उद्देश्यों के प्रति स्वयं ही उत्तरदायी होता है क्योंकि वह केवल उसका अपना उद्देश्य होता है और वही उद्देश्य उसकी स्थितियों को निश्चित करता है। वह जीया जाता है, सहा नहीं जाता और व्यक्ति अपने जीवन की ऊँची-नीची राहों, अच्छे-बुरे कार्यों के प्रति स्वयं उत्तरदायी होता है, क्योंकि वही अपने जीवन-इतिहास का लेखक होता है।[1] यहाँ तक कि यदि उसके जीवन में कोई युद्ध होता है, तो वह उस युद्ध के लिए उत्तरदायी है।

सार्त्र के इस अस्तित्ववादी सिद्धान्त को यह कह कर कि उसका दर्शन निराशावादी और घुटन से परिपूर्ण है, अस्वीकृत किये जाने का प्रयत्न किया जाता है। उस पर यह भी दोषारोपण लगाया जाता है कि उसका सिद्धान्त मानव जीवन की समस्याओं पर कोई प्रकाश नहीं डालता और न किसी को इस बात में सहायता देता है कि वह कैसे और भी अच्छे एवं तर्क-संगत ढंग से अपना जीवन जी सके। ये सभी आरोप सत्य हैं। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में अस्तित्ववाद का अभी विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता। अज्ञेय

---

1 "Thus totally free, indistinguishable from the epoch of which I have chosen to be the meaning as profoundly responsible for the war as if I had myself declared it unable to live anything without integrating it into my situation, engaging myself wholly in it and marking it with my seal, I must have no remonsenor regrets as I have no excuse. for, from the moment of my emergence into being I carry the weight of the world on my own without anything or any body being able to lighten the burden......"

—जीन-पाल सार्त्र : बीइंग एण्ड नथिंगनेस : एन एसे ऑन फेनॉमेनॉलॉजिकल एनॉटोलॉजी, (अनु : हेजेल ई० बर्न्स, लन्दन, १९५७), पृष्ठ ५१६

ने अपने 'शेखर : एक जीवनी', तथा 'नदी के द्वीप' में आंशिक रूप से इसका चित्रण किया है। उनका नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनवी' शुद्ध रूप से पहला हिन्दी का अस्तित्ववादी उपन्यास है।

मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेषणवाद मुख्यतया फ्रायड के सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। उसके सिद्धान्त, जैसा कि उसके शिष्यों का कहना है, व्यक्ति के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ होते हैं और उसकी मृत्यु के समय रुक जाते हैं, जब उसका अवचेतन क्रिया-हीन हो जाता है और मृत्यु जीवों की विजय होती है उसके सिद्धान्तों में हमारे जीवन के अचेतन काल और हमारी निद्रा का भी समावेश है। प्लेटो के 'Republic' का उल्लेख करते हुए फ्रायड का कथन है कि प्राय: सभी विशेषताओं से सम्पन्न कोई व्यक्ति उन सभी अवांछनीय कार्यों को करने का स्वप्न देखकर ही संतोष कर लेता है, जो कोई दुर्गुण व्यक्ति अपने जीवन में स्वयं करता है। फ्रायड न केवल अवचेतन मस्तिष्क (unconscious mind) के अस्तित्व को स्वप्नों के लक्ष्य से सिद्ध ही करता है अपितु उसका मनुष्य जीवन में महत्वपूर्ण स्थान भी सिद्ध करता है। अवचेतन वह गहन सुरक्षित स्थान है जहाँ अवांछनीय तत्व संगृहीत होते रहते हैं। जीवन के ये अवांछनीय तत्व अधिकांश रूप में काम (Sex) से सम्बन्धित होते हैं। स्वप्न इस कथन की साकारता सिद्ध करते हैं, क्योंकि स्वप्नों के प्रत्येक तत्व की काम सम्बन्धी व्याख्या होती है। फ्रायड के अनुसार स्वप्नों की व्याख्या मानसिक जीवन में अवचेतन के ज्ञान का साधन है।

यह अवचेतन (unconscious) किसी भी प्रकार की सीमा या बंधन नहीं स्वीकार करना चाहता, इसलिए फ्रायड ने यह तर्क उपस्थित किया कि एक प्रकार का चेतन-प्रहरी (Censor) भी अवचेतन (uncousciou) के साथ क्रियाशील रहता है जो अवचेतन (unconscious) की इच्छाओं एवं प्रक्रियाओं को नियंत्रित करता है। इस नियंत्रण का कारण यह है कि अवचेतन की इच्छाएँ या प्रक्रियाएँ जो काम सम्बन्धी अथवा libido हैं, उनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मनुष्य के चेतनता (Consciousness) टकराती है जो वाह्य सृष्टि से संचालित होती हैं तथा जिसमें नैतिक मान्यताओं, सभ्य व्यवहारों की

अनिवार्यता और अनुशासन सम्बन्धी आवश्यकता का समावेश होता है। इस libido अथवा अवचेतन की काम सम्बन्धी भावनाओं के. नियंत्रण के दुष्प-रिणाम होते हैं और जीवन में अत्यन्त विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जीवन स्वाभाविक अवस्था में बाधाहीन ढंग से तभी जीया जा जा सकता है, जब किसी प्रेम बिन्दु की दिशा में libido की गतिशीलता स्वतन्त्र और अवरोध मुक्त रहती है। libido की शक्तियों का सामाजिक उद्देश्यों के लिए उद्दात्तीकरण (Sublimalion) पूर्णतया कृत्रिम और खतर-नाक है क्योंकि यह उद्दात्तीकरण 'त्याग' की माँग करता है और इस प्रकार कुंठित libido अन्य प्रकार से अपने को शान्त करने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ आत्मप्रेम, आत्महनन और आत्मपीड़न आदि में वह अपनी शान्ति खोजता है जो मानव व्यक्तित्व के लिए हानिप्रद हैं। और क्योंकि इसमें से किसी के भी परिणाम अवांछनीय हैं, नियंत्रण रखने का कार्य (Censorship) भी अवांछनीय है।

पर वास्तव में काम (libido) है क्या, इसका फ्रायड ने कभी संतोष जनक उत्तर नहीं दिया। पहले फ्रायड ने कहा था कि यह पूर्व-चेतन (Pre couscious) में स्थित है और चेतन (unconscious) की रक्षा उन अवांछनीय अशोभन विचारों से करता है, जिनका जन्म अवचेतन (unconscious) में होता है, किन्तु इस व्यवस्था से वह बाद में संतुष्ट नहीं हुआ और उसने मनुष्य की मानसिक स्थान वृत्त (Mental Topography) को पुनः संगठित करने का निश्चय किया और इस प्रकार उसने मनोधात्व (Psyche) को Super-Ego, Ego और Id में विभाजित कर दिया। फ्रायड के इस नए विभाजन की अत्यन्त तीव्र आवश्यकता थी, क्योंकि उसके पहले के चेतन, पूर्वचेतन और अवचेतन का विभाजन संतोषजनक नहीं था। उसका Censor का सिद्धान्त ही असंतोषजनक था।

मानसिक जीवन के उसके नवीन विवरण में Id द्वारा प्रकट की गई इच्छाओं का Ego दमन-कर्त्ता है। Id का सम्बन्ध काम (libido) से रहता है। Super-Ego सभी सामाजिक अनुशासन सम्बन्धी विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। तब भी Ego और Super-Ego का क्षेत्र अवचेतन (uncons-cious) में भी पड़ता है, साथ ही पूर्वचेतन (Pre-Conscous) और अचेतन (Conscious) क्षेत्रों में भी। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि Ego काम (libido)

के दमन का कार्य करता है, क्योंकि Super Ego एक नैतिक आलोचक बन ज़ाता है, जो Ego में 'अचेतन अपराध भावना' बनाए रखता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रायड ने Super-Ego का एक छोटा सा अंश चेतन क्षेत्र (Conscious- Zone) में स्वीकार किया, जब कि Id पूर्णतया अचेतन (unconscious) है। इस प्रकार फ्रायड ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अब Censor का दमन कार्य स्वयंमेव होगा, न कि व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर होगा। जब यह चेतन मन का प्रतिरोधक (Censor) सुप्तावस्था में होता है, तभी स्वप्नों का निर्माण होता है, जिनके मूल में व्यक्ति की अतृप्त आकांक्षाएँ वासनाएँ आदि होती हैं। फ्रायड का मनोविश्लेषण का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। उसके अनुसार मनुष्य की काम सम्बन्धी इच्छाएँ स्वाभाविक और अनिवार्य हैं और उसने जीवन के विकास में इसकी सापेक्षता प्रमाणित की है। काम-इच्छाओं से कोई व्यक्ति विमुख नहीं हो सकता और इसके आधार पर निर्मित पाप-पुण्य, नीति-अनीति आदि की मान्यताएँ भ्रान्ति-पूर्ण हैं।

मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार व्यक्ति का असंतोष, उसकी पीड़ाएँ, निराशा आदि कुंठाजन्य परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती हैं। ये कुंठाएँ व्यक्ति के अचेतन (unconscious) में संगृहीत रहती हैं और मानव जीवन को संचालित करती है। यह चेतन मन (Conscious) की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। मनुष्य इसलिए इसके हाथों में अवश सा जीवन में गतिशील होता है। मनुष्य के आन्तरिक जगत् का अध्ययन ही साहित्य में मनोविश्लेषणवाद कहलाया। फ्रायड मन की सक्रियता में विश्वास प्रकट करता है। मन का वास्तविक कार्य बुद्धि परक नहीं, अपितु आवेगात्मक है तथा चेतन और अचेतन दोनों ही अवस्थाओं में मन प्रयत्नशील होता है। फ्रायड ने अचेतन पर अधिक बल दिया है। उसके अनुसार मन एक गम्भीर और तरंगित सागर है। वह प्रत्यक्षों, बौद्धिक प्रतिक्रियाओं, विचारों और संवेदनाओं का ही समूह नहीं है और न विचार या संवेदना आदि से युक्त एक आध्यात्मिक पदार्थ ही है।

अपने सिद्धान्तों में फ्रायड ने 'काम' शब्द का प्रेम के लिए अत्यधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है तथा काम के नियंत्रण का प्रबल विरोध किया है। फ्रायड के अनुसार शिशु में आत्मरति (Auto-Eroticism) होता

है। वह अपने शरीर से प्रेम करता है और स्वाभाविक प्रवृत्तियों की तृप्ति से सुख-लाभ करता है। इस अवस्था को आत्मासक्ति (Naveissism) की अवस्था कहते हैं। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों वह समलिंग कामुक (Homo-Sexual) या समलिंगीय के साथ व्यभिचार करने लग जाता है। एक लड़का ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों वह विषमलिंग कामुक, (Hetero-Sexual) होता जाता है। एक युवक युवती से प्रेम करता है। इस प्रकार आत्मरति, समलिंगीय रति और विषमलिंगीय रति ये काम के विकास के विभिन्न चरण हैं। काम की एक अन्य अभिव्यक्ति भी है जो मातृ-ग्रंथि (Oedipus Comlex) और पितृ-ग्रंथि (Electra Complex) का रूप लेती है। मातृ-ग्रन्थि पुरुष शिशु का अपनी माता के प्रति आकर्षण और अपने पिता के प्रति द्वेष की प्रवृत्ति है। जब विषमलिंगीय रति के आगमन के साथ वास्तविक लिंगीय कामुकता का उदय होता है, उसके पूर्व ही ये ग्रन्थियाँ निर्मित हो जाती हैं। जैसे-जैसे बालिका की आयु-वृद्धि होती जाती है सामाजिक नियंत्रण के कारण पिता के प्रति उसकी वासना का दमन होता जाता है और वह एक अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। यह दबी हुई अचेतन पितृ-ग्रन्थि अनेक मानसिक विकृतियों को जन्म देती है। फ्रायड ने दो अन्य अभिव्यक्तियों की भी बात कही है जो स्वपीड़न-जनित कामानन्द (Masochism) और परपीड़न जनित कामानन्द (Sadism) का रूप लेती है। पहली अपने को पीड़ित करने की प्रवृत्ति है, दूसरी प्रेम के विषय को पीड़ित करने की प्रवृत्ति है। फ्रायड निर्दयता और विनाशकता के सभी अन्य रूपों का समावेश परपीड़न-प्रियता (Sadism) में करता है तथा काम प्रवृत्ति में आत्मरक्षण की प्रवृत्तियों का समावेश करके काम प्रत्यय को व्यापक बना देता है। इसे उसने जीवन-प्रवृत्ति (Eros) कहा है। जिसकी विरोधिनी मृत्यु प्रवृत्ति है। कुछ व्यक्तियों में आत्मसात की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। शाश्वतः शान्ति या निर्वाण की इच्छा मृत्यु प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के अन्दर कोई प्रवृत्ति ऐसी होती है जिसका लक्ष्य मृत्यु होता है। वह आत्म-पीड़न और प्रेमी व्यक्ति के पीड़न तक को जीवन प्रवृत्ति और मृत्यु प्रवृत्ति का सम्मिलित फल मानता और दोनों के विरोध को स्वीकार करता है।

वास्तव में फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त कामुकता, दमन और

शैशवावस्था के तीन स्तम्भों पर आधारित है। शैशवावस्था में बालक की अतृप्त कामुकता दबी हुई अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। इससे स्थायी ग्रन्थि का निर्माण हो जाता है। ये ग्रन्थियाँ पीड़ा की अनुभूति से रँगे हुए विचारों के समुच्चय हैं। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना कामवासना है। काम वासना सम्बन्धी भावनाओं पर सामाजिक नियंत्रण रहता है।

एडलर ने इससे भिन्न अपना विचार प्रकट किया। उसके अनुसार प्रभुत्व कामना या आत्माभिव्यक्ति ही मनुष्य की प्रबल आकांक्षा होती है। मानव जन्म लेने के कुछ समय पश्चात् ही अपनी हीनता या असहायावस्था की अनुभूति से पीड़ित होने लगता है। वह अज्ञात रूप से अपनी हीनता और विवशता से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना प्रारम्भ कर देता है। जाने अनजाने प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर विजय प्राप्त कर उस पर अपनी महिमा प्रतिपादित करने का प्रयास करता है। उसमें महत्वाकांक्षाएँ होती हैं। सबसे उच्च स्थान प्राप्त करने और सम्मानित होने का स्वप्न होता है और उसे ही साकारता प्रदान करने का वह प्रयत्न करता है। अपने व्यक्तित्व में व्याप्त न्यूनताओं को छिपाकर अपनी विशेषताओं को अधिकाधिक विकसित कर वह समाज में दूसरों की श्रद्धा का पात्र बनना चाहता है। प्रायः पढ़ने-लिखने में कमजोर विद्यार्थी कुशल खिलाड़ी बन जाते हैं : इसका कारण यही है कि विद्यार्थी की मनःस्थिति में शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं है और अपनी असफलताओं से भी वह अनभिज्ञ नहीं रहता, अतः वह अपने खेलने की कला का अधिकाधिक विकास कर अपनी शिक्षा की कमी को पूर्ण कर मानसिक दृष्टि प्राप्त करता है। यही पौरुष विरोध (Masculine Protest) है, जिससे मानव जीवन संचालित होता है। वास्तव में मानव अपनी कमियों को छिपाकर, अपनी विशेषताओं में वृद्धि कर दूसरों को प्रभावित करने का जो प्रयत्न करता है, उसी में जीवन की गति भी सन्निहित होती है और मानव जीवन के संचालन का सूत्र उन्हीं के हाथों रहता है। मनुष्य अपने अन्दर एक जीवन शैली का निर्माण कर लेता है और उसी के अनुरूप जीवन को गतिशील करने का प्रयास करता है। फ्रायड ने मानसिक विकृतियों की पृष्ठ भूमि में दमित-शमित काम-वासनाओं की क्रियाशीलता स्वीकृत की थी। उसके अनुसार मानसिक संतुलन इसलिए विनष्ट हो जाता है क्योंकि दमित-शमित

काम-भावनाएँ अचेतन से मुक्त हो चेतन के साम्राज्य में घोर अराजकता और प्रबल अशांति की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। किन्तु एडलर ने इसे स्वीकृत नहीं किया। मानसिक विकृतियों का कारण उसके अनुसार यह है कि अपने को अत्यन्त श्रेष्ठ और सबकी श्रद्धा का पात्र बनाने की जिस जीवन शैली का निर्माण मनुष्य के अन्दर हुआ है। उसमें सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों का सामंजस्य सम्भव नहीं हो सकता। इस जीवन-शैली का निर्माण सभी में होता है क्योंकि सभी हीनता की भावना (Inferiority complex) से पीड़ित होते हैं।

जंुग ने समाज प्रेम की वासना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्रभुत्व, आकर्षक व्यक्तित्व और दूसरों पर अपनी उच्चता का भाव जमाने की प्रबल आकांक्षा होती है, उसी भाँति समाज के साथ ऐक्य स्थापित करके समाज के साथ अपने आदर्श सम्बन्ध बनाने की इच्छा भी वर्तमान रहती है। जुंग ने मानव को दो वर्गों में विभाजित किया है—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति में सामाजिक वृत्तियाँ, दूसरों से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की भावना प्रबल रहती है। इसके विपरीत, अन्तर्मुखी, व्यक्ति में सामाजिक भावनाओं की न्यूनता होती है। वह अपने को अपने तक ही सीमित रखता है।

इसी समय गोस्टाल्टवादी मनोविज्ञान भी अधिक प्रचलित हुआ। उसके अनुसार अनुभव या व्यवहार का प्रत्येक रूप एक अपूर्व समष्टि (unity) है, जिसका तत्वों में विश्लेषण नहीं हो सकता। इसने संगठित समष्टियों (Organized wholes) पर बल दिया। मानव-तन एक गोस्टाल्ट है, वह भागों या अवयवों का योग-मात्र ही नहीं है। हम किसी वस्तु को एक समष्टि या इकाई के रूप में ही देखते हैं, हम उसे भागों के समूह के रूप में नहीं देखते। प्रत्यक्ष का विषय सदैव एक समष्टि एक गोस्टाल्ट होता है। प्रत्यक्ष में आकृति और पृष्ठभूमि में अन्तर है। पृष्ठ भूमि आकृति का प्रत्यक्ष होता है, जिस प्रकार शशि आकृति होता है, नभ पृष्ठभूमि। पृष्ठभूमि की सीमा अनन्त होती है जो आकृति की अपेक्षा महत्वहीन होती है, क्योंकि आकृति अधिक ध्यान आकर्षित करती है।

मनोविश्लेषण की इन नवीन विचारधाराओं ने हिन्दी उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी और उनमें शैलीगत नवोन्मेष की भावना का जन्म

हुआ। फलस्वरूप उपन्यास स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर गतिशील हुए। अभी तक औपन्यासिक पात्रों की कल्पना का स्रोत परम्परागत भारतीय रूपों अथवा समाज की समस्याओं में निहित था, पर अब उपन्यासकारों ने इन पश्चिमी विचारकों को अपना आदर्श बनाया और पात्रों की परिकल्पना का सम्बन्ध मनोविश्लेषण के इन नवीन सिद्धान्तों से सूत्रबद्ध किया। परिणाम-स्वरूप पात्रों का महत्व उपन्यास में अभिवृद्धि प्राप्त करने लगा और कथातत्व न्यून होने लगे। अधिकांश मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में कथा को तिरस्कृत ही नहीं उनकी सर्वथा अवहेलना की गई और यह समझ लिया गया कि बिना किसी कथा के भी उपन्यासों की रचना हो सकती है। उपन्यासकारों ने अब पात्रों के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा केवल गौरव पूर्ण परम्पराओं को ही चित्रण का उद्देश्य नहीं बनाया, वरन् उनकी मनः स्थिति और उनके अन्तरमन की भावनाओं का अध्ययन कर उनके चरित्रों के स्पष्ट करने का प्रयास किया। फ्रायड ने नारियों में सेक्स ईर्ष्या को परिणाम स्वरूप ईर्ष्या-द्वेष तथा सामाजिक अन्याय की प्रवृत्ति पाई थी। उनमें पुरुषों से अधिक आत्मप्रेम होता है तथा उनमें सांस्कृतिक कार्यों को करने के प्रति उत्साह नहीं होता एवं उनके उदात्तीकरण (Sublimation) में वे असमर्थ रहती हैं। नारी परिवार में लैंगिक जीवन से सम्बन्धित हितों का प्रतिनिधित्व करती है। सभ्यता के विकास का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही होता है। वह नारी की अधिकार सीमा के बाहर होता है। इसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण की नितान्त आवश्यकता होती है, जिसे कार्यान्वित करने में नारियाँ असमर्थ रहती हैं और पुरुष प्रयास द्वारा उसे सम्भव कर दिखाता है। सभ्यता के विकास का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, इसलिए पुरुष उसे संपादित करता है,क्योंकि उसमें प्रखरचेतन शक्ति होती है और सारे महत्वपूर्ण कार्य वही करता है, नारियाँ उसे नहीं कर सकतीं। वास्तव में मनोविश्लेषण की सहायता से मनुष्य अपने को और भी भलीभाँति समझने और स्वयं अपना अध्ययन करने की लालसा प्रकट करता है। साहित्य में यही कार्य मनोविश्लेषणावादी उपन्यासकारों ने करने का प्रयत्न किया। पर मनोविश्लेषण द्वारा मनुष्य को समझने और उसके आन्तरिक भावों का अध्ययन करने की नई प्रणाली प्राप्त होने के बावजूद भी यह कहा गया कि अन्तरमन से भी अधिक

महत्व बाह्य जगत् की समस्याएँ और उनका समाधान महत्व रखती हैं।[1] कुछ भी हो इतना निश्चित है कि मनोविश्लेषण की प्रणाली से मनुष्य का वास्तविक रूप समझने का साहित्य में प्रथम बार प्रयत्न किया गया।

हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली का सूत्रपात यद्यपि जैनेन्द्र ने किया था, पर उसका पूर्ण विकास इलाचन्द्र जोशी में मिलता है। इलाचन्द्र जोशी ने अपने सभी उपन्यासों में इस प्रणाली के माध्यम से व्यक्ति की चीरफाड़ की है और उसके अवचेतन मन में छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन कर मनुष्य की वास्तविक स्थिति स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अज्ञेय कृत 'शेखर एक जीवनी' 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी', नरेश मेहता कृत 'डूबते मस्तूल', देवराजकृत 'पथ की खोज' 'बाहर भीतर' तथा इन पंक्तियों के लेखक कृत 'एक और अजनबी' में इसी प्रणाली के माध्यम से कुछ इने-गिने

---

1 "Psycho-analysis, for all its brilliant and courageous probing into the secret depths of the personality, has never under stood that the individual is only a part of the social whole and that the laws of this whole decomposed and refracted in the apparatus of the individual psyche like rays of light, passing through a prision change and control the nature of each individual. Man today is compelled to fight against the objective, external horrors accompanying the collapse of our social system, against facism, against, war, unemployment, the decay of agriculture, against the domination of the machine but he has to fight also against the subjective reflection of all these things in his own mind. He must, fight, to change the world, to rescue civilisation and he must fight also against the anarchy of capitalism in the human spirit."

—रैल्फ फाक्स ' द नॉवेल एण्ड द पीपुल, मास्को (१९५४) पृष्ठ १०२

पात्रों को लेकर उनके अन्तर्जगत का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। इन सभी उपन्यासों में कथा का रूप स्थूलता से सूक्ष्मता की दिशा में गतिशीलता है और कथातत्व प्रायः गौण एवं उपेक्षणीय है।

व्यक्तिवाद

साधारण व्यक्तियों के दैनिक जीवन से उपन्यासों का सम्बन्ध प्रायः दो महत्वपूर्ण तथ्यों पर आधारित रहता है। पहला तो यह कि समाज को प्रत्येक व्यक्ति का अत्यन्त उच्चस्तर पर मूल्यांकन करना चाहिए और गम्भीर साहित्य के लिए उसे विस्तृत विवरणों में विश्वास और कार्यों में यथेष्ट अन्तर होना चाहिए। यह विवरण कम-से-कम इस प्रकार का होना चाहिए कि दूसरे साधारण व्यक्ति अर्थात् जो उपन्यास के पाठक हैं, भी अपनी रुचि प्रकट कर सकें। पर उपन्यास के अस्तित्व से सम्बधित दोनों तथ्यों में से कोई भी अत्यंत व्यापकता अभी हाल तक नहीं प्राप्त कर सका, क्योंकि वे दोनों ही समाज के विकास पर निर्भर हैं जिसमें व्यक्तिवाद से प्रतिपादित एक दूसरे पर निर्भर रहने के तत्व प्राप्त होते हैं।

व्यक्तिवाद शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। १९वीं शताब्दी के मध्य से ही इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में असंदिग्ध रूप से ऐसे कुछ व्यक्ति निश्चय ही रहते हैं, जो अपनी असाधारण स्थिति तत्कालीन विचारधारा से स्वतंत्र रहने और अपनी 'स्वतन्त्र' चेतनशीलता के कारण व्यक्तिवादी कहे जा सकते हैं। पर व्यक्तिवाद का सिद्धान्त इससे भिन्न कुछ और ही है। इसकी परिधि में एक पूरा समाज आ जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र विचारधारा—जो उ से दूसरे व्यक्तियों से सर्बथा भिन्न स्थान प्रदान करती है—तथा विचार एवं कार्यों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति से संचालित होता है। 'परम्परा' एक ऐसी शक्ति है जिसमें सदैव ही सामाजिक तत्वों का समावेश होता है न कि व्यक्तिवादी तत्वों का। इस प्रकार के समाज का अस्तित्व स्पष्ट है एक विशिष्ट ढंग के वैचारिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। विशेष रूप से एक आर्थिक और राजनीतिक संगठन पर जो कि अपने सदस्यों को अपने द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों में विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण अपनाने की

तथा उस व्यक्तिगत 'आयडियोलॉजी' अपनाने की स्वतन्त्रता व्यापक जो प्राचीन परम्पराओं पर नहीं वरन्, व्यक्तिगत लोगों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर आधारित होती है। चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो और चाहे उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमायें कुछ भी हों। यह साधारणतया निश्चित है कि आधुनिक समाज असाधारण रूप से इस संदर्भ में व्यक्तिवादी है और इसके आविर्भाव की अनेक ऐतिहासिक कारणों में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐक तो आधुनिक व्यावसायिक पूँजीवाद का उदय एवं विकास और दूसरे विरोधवाद का व्यापक विस्तार विशेषतया उसके शुद्धतावादी रूप का विस्तार।

पूँजीवाद के आर्थिक संचयन में यथेष्ट वृद्धि की और सामाजिक रूप विधान एवं प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था से इसके परस्पर साम्य के व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना की भी वृद्धि की। इसके परिणामस्वरूप नवीन आर्थिक संगठन तथा नवीन सामाजिक रूप विधान आदि एक सामूहिक परिवार की भावना, धार्मिक भावना, एकता एवं संगठन की भावना, नागरिक भावना और किसी अन्य इसी प्रकार की सामूहिक एकता की भावना पर आधारित नहीं हुए, वरन् व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता पर आधारित हुए। व्यक्ति अवं स्वयं अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिनयों की पूर्णता के लिए अपने ही प्रति उत्तरदायी रहने लगा। यह कहना कठिन है कि कब इस नवीन परिवर्तन ने समाज को समग्र रूप में प्रभावित करना प्रारम्भ किया। कदाचित उन्नीसवीं शताब्दी तक ऐसा नहीं हुआ था पर इस आन्दोलन का सूत्रपात निश्चय ही १९वीं शताब्दी के पूर्व हो चुका था। सोलहवीं शताब्दी में सुधारों और राष्ट्रीय राज्यों (National States) के उदय एवं विकास में आंशिक सामाजिक समानता एवं एकता को निर्णयात्मक ढंग से चुनौती दी और प्रथमबार पूर्ण 'राज्य' ने पूर्ण 'व्यक्ति' का राजनीतिक सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश के बाहर सामना किया। यद्यपि परिवर्तन की गति एकदम मंद थी और सम्भवतः व्यावसायिक पूँजीवाद का तब और अधिक विकास हुआ। तभी प्रमुखतया एक व्यक्तिवादी सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का आविर्भाव हुआ और उसने कुल जनसंख्या के अधिकांश भाग को अपनी विचारधारा की उत्तेजना से प्रभावित करना प्रारम्भ किया। कम से कम यह

सामान्य रूप से निश्चित है कि इस नवीन संगठन की नींव १६८९ की शानदार क्रान्ति के पश्चात् पड़ चुकी थी। व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग जो इस व्यक्तिवादी सामाजिक रूप विधान की स्थापना की पृष्ठभूमि में विशेष रूप से क्रियाशील थे उन्होंने और भी अधिक व्यापक राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली थी। यह शक्ति पहले ही साहित्य में प्रतिध्वनित होने लगी थी।

नगरों में मध्यवर्ग का उदय और विकास अत्यंत तीव्रगति से हो रहा था और पाठक वर्ग में उनकी संख्या तथा उनके महत्व में आशातीत वृद्धि होती ही थी, किन्तु ठीक इसी समय साहित्य ने व्यवसाय एवं उद्योगों का पक्ष ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यह एक प्रकार का सर्वथा नवीन विकास था। पूर्व लेखकों जिनमेंस्पेन्सर, शेक्सपीयर, डॉन, बेन जॉन्सन, ड्रायडेन आदि प्रमुख थे ने परम्परागत सामाजिक एवं आर्थिक रूप विधान को अपना अन्यतम समर्थन प्रदान किया था और नवीन उदित होनेवाले व्यक्तिवाद के अनेक सिद्धांतों पर तीव्र प्रहार किए थे, किन्तु अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ एडीसन, स्टील और डेफो आदि लेखकों ने अपने पूर्व लेखकों से विरोध प्रकट किया और उनके द्वारा अपनाये गये मार्ग से अलग अपना एक नया मार्ग अपनाया। उन्होंने सप्रयत्न आर्थिक व्यक्तिवाद पर सामाजिक मुहर लगाना प्रारम्भ किया। यह नवीन उदय सामान स्तर पर दर्शन के क्षेत्र में भी परिलक्षित होता है। सत्रहवीं शताब्दी के महान् ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने राजनीतिक और तर्क शास्त्रीय विचारों में उतने ही कट्टर व्यक्तिवादी थे जितने कि वे अपने अध्यात्म के क्षेत्र में थे। बेकन ने कुछ विशेष व्यक्तियों के वास्तविक विवरणों को एकत्रित कर सामाजिक सिद्धान्तों में से अपने नवीन ढंग को अपनाकर एक नवीन प्रारम्भ की आशा प्रकट की थी। हॉब्स ने भी इस बात का अनुभव किया कि वह ऐसे विषय को उठा रहा है, जिस पर पहले न कभी उचित ढंग से सोचा गया और न लिखा गया। यहाँ तक कि उसने अपने राजनीतिक और तर्क शास्त्रीय सिद्धान्तों को व्यक्ति के मूलभूत मनोवैज्ञानिक रूप संगठन पर आधारित किया जबकि लॉक ने अपनी पुस्तक 'Two Treatises of government (१६९०)' में व्यक्तिगत अधिकारों पर आधारित राजनीतिक विचारों की वर्गगत व्यवस्था निर्मित की। यह चर्च परिवार या सम्राट् की परम्पराओं के बिल्कुल

ही विरुद्ध था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन विचारकों और चिन्तकों ने व्यक्तिवाद के राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों की अनुपम व्याख्या कर उनका प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। साथ ही ज्ञान के इस व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अग्रगण्य नेताओं के भी अथक प्रयत्नों से इस बात का आभास मिलता है कि कैसे इन्होंने इस सिद्धान्त और अपने निष्कर्षों को स्वयं अपने से और उपन्यासों की भिन्न-भिन्न धाराओं से सम्बन्धित किया, किस प्रकार ग्रीक के साहित्यिक रूपों के अयथार्थवादी प्रवृत्तियों और उनके सामाजिक, नागरिक एवं नैतिक दृष्टिकोणों तथा सृष्टिगत सत्ता के लिए उनकी दार्शनिक प्रमुखता में आधारभूत साम्य है, उसी प्रकार आधुनिक उपन्यास साहित्य एक ओर तो आधुनिक यथार्थवादी आध्यात्मवाद से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है और दूसरी ओर अपने सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति से ठीक आदर्शवादी एवं विश्वव्यापी भावनाओं पर क्लासिकल दृष्टिकोण की भाँति। परिणाम स्वरूप आधुनिक युग में परिस्थितियाँ पूर्णतया परिवर्तित हो गई हैं। फलस्वरूप आधुनिक चेतना का परिवेश और व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्णतया व्यक्तिवादी हो गया है। व्यक्तिवादी दर्शन ने भी व्यक्ति की चेतना पर ही नहीं, नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक संगठनों पर भी अपना पूर्ण अधिपत्य जमा लिया है।

व्यक्तिवादी आर्थिक सिद्धान्तों के कारण व्यक्तिगत एवं सामूहिक सम्बन्धों का विशेषतया काम (Sex) पर आधारित सम्बन्धों का महत्व पूर्णतया समाप्त हो गया और जैसा कि बेबर[1] का कथन है, 'मानव-जीवन के बुद्धि हीन तत्वों में काम (Sex) के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने का कारण यह है कि यह व्यक्ति के आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए गये कार्यों में सबसे बड़ा सिर दर्द बन गया है। फलस्वरूप उसे व्यावसायिक पूंजीवाद की आयडियोलॉजी के कठोर नियंत्रण में डाल दिया गया है। एक अन्य सुविज्ञ[2]

---

१ बेबर : एसेज इन सोशियोलॉजी (प्रथं और मिल्स द्वारा अनु० न्यूयार्क १९४६), पृष्ठ ३५०

२ टी० एच० ग्रीन : एस्टीमेट ऑव द वैल्यू एण्ड इन्फ्लुएन्स ऑव वर्क्स ऑव फिक्शन इन माडर्न टाइम्स (सम्पा० नेटिलशिप]]]) पृष्ठ ४०

का कहना है कि श्रम के प्रगतिशील वर्गीकरण में जब कि हम अत्यधिक उपयोगी नागरिक बन जाते हैं, तो हम मनुष्य के रूप में अपनी पूर्णता समाप्त कर देते हैं। आधुनिक समाज का पूर्ण संगठन, नवीन सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति और स्वतन्त्र प्रयत्नशीलता को समाप्त कर देती है और तब बहुत न्यून मात्रा में मानवीय रुचि शेष रह जाती है। इस स्थिति का समाधान या तो उपन्यासों में या फिर समाचार-पत्रों में प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में व्यक्तिवाद की स्थायी उपलब्धि धार्मिक आन्दोलन एवं सुधार के कारण प्राप्त हुई न कि धर्म निरपेक्षिता एवं पुनर्जागरण के कारण।[1] यद्यपि इस प्रकार के विवाद बहुत महत्व नहीं रखते और न तर्क-संगत ही कहे जा सकते हैं कि व्यक्तिवाद के उदय एवं विकास की उपलब्धियों में कौन तत्व अधिक महत्वपूर्ण थे और कौन तत्व महत्त्वशून्य थे। केवल इसी पर विवाद कर अपने मतों की प्रतिष्ठापना से कोई विशेष लाभप्रद स्थिति नहीं प्राप्त होगी। किन्तु इतना निश्चित है, साथ ही सत्य भी कि एक तत्व प्रोटेस्टेन्ट के सभी रूपों में सर्व-सामान्य है कि मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य मध्यस्थ के रूप में चर्च की सत्ता समाप्त हो गई और उसके स्थान पर धर्म का एक सर्वथा भिन्न रूप प्रतिपादित हुआ, जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत की गई और अपनी स्वयं की अत्मिक अभिव्यक्तियों एवं तत्सम्बन्धित रूप में दिशोन्मुख होने का पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्ति के कन्धों पर ही डाल दिया गया। इस नवीन प्रोटेस्टेन्ट भावाभिव्यक्ति की दो मुख्य विशेषताएँ थी—प्रथम यह व्यक्ति द्वारा स्वयं एक आत्मिक सत्ता के रूप में अपनी चेतनता की वृद्धि करने की प्रवृत्ति और दूसरे नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातांत्रिक आधार भूमि पर स्थापित करने की प्रवृत्ति। ये दोनों प्रवृत्तियाँ विशेषरूप से रॉबिन्सन क्रूसों के लिए भी महत्वपूर्ण थीं, साथ ही उस भावी अनुमान की भावना के विकास के लिए भी, जिस पर उपन्यासों का रूप गत यथार्थवाद आधारित है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य के रूप में स्वयं अपना आत्मिक निरीक्षण एवं दिशोन्मुख होने का यह धार्मिक विचार प्रोटेस्टेन्ट विचार-धारा से

1 "The really permanent attainment of individualism was due to a religious, and not a secular movement, to the reformation, and not the renaissance."
—ट्राट्स : सोशल टीचिंग, पृष्ठ ३२८

भी प्राचीन है इसका आविर्भाव व्यक्तिवाद से हुआ और उसकी चरम अभिव्यक्ति आगस्टीन के 'Confessions' में हुई यदि ईश्वर ने स्वयं अपनी आत्मिक प्रवृत्तियों के मूल्यांकन करने एवं फलस्वरूप दिशोन्मुख होने का उत्तरदयित्व व्यक्ति पर डाल लिया है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसने उनके दैनिक जीवन की घटनाओं में अपने उद्देश्यों का आभास देकर उस सत्य को सम्भव कर दिया। अतः शुद्धतावादियों ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों में प्रत्येक तथ्यों को नैतिक एवं आत्मिक अर्थों में अधिक शक्ति सम्पन्न एवं तर्क संगत रूप में देखना एवं समझना प्रारम्भ कर दिया। इस व्यवस्था में सभी आत्माओं के लिए समान अवसर उपलब्ध हो गया। परिणामस्वरूप सभी व्यक्तियों को जीवन के साधारण आचरणों में अपनी आत्मिक विशेषताओं के विकास एवं प्रदर्शन के लिए भी समान अवसर प्राप्त हुआ। यह नैतिक और सामाजिक मान्यताओं को प्रजातांत्रिक आधारभूमि पर प्रतिष्ठापित करने के लिए शुद्धतावादियों द्वारा किए जानेवाले प्रयत्नों का एक कारण था। इसमें अन्य अनेक तत्वों द्वारा भी सहायता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ ऐसे बहुत से सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक कारण हैं कि शुद्धतावादियों द्वारा पुरातनपंथी मूल्यों की सीमाओं के प्रति क्यों आक्रामक रूप अपनाया जाना चाहिए था और न वे परम्परागत रोमांटिक नायकों में इसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति को अस्वीकृत करने में ही असफल हो सके। इस विवेचन से प्रायः यह स्पष्ट है कि शुद्धतावादियों ने सामाजिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण में विशिष्ट परिवर्तन ला दिया था, जिसका विवरण मिल्टन की "Paradise lost" की पंक्तियों[1] में मिलता है, तथा और भी तर्क-संगत ढंग से डेफो के एक लेख[2] में, जो 'Applebee's Journal' (१७२२) में मॉरेबोर की शवयात्रा के अवसर पर प्रकाशित हुआ था, प्राप्त होता है।

---

1 To know/that which before us lives in daily life/is the prime wisdom."
—मिल्टन : पैराडाइज लॉस्ट, (लन्दन), VIII, १९२-१९४

2 "What then is the work of life ? What is the buisiess of great man, thnt pass stage of the world in seeming triumph as these men, we call heroes have done ? Is it to grow great in the month

फ्रेन्च यथार्थवादियों का कैथालिक विरोधी डी वोग ने उपन्यासों द्वारा प्राकृतिक एवं अस्वाभाविक तत्वों के बहिष्कृत किये जाने का समर्थन किया था[1] और यह निश्चित है कि उपन्यासों के सामान्य अर्थ अर्थात् रूपगत यथार्थवाद का यह अभिप्राय ही है कि उपन्यास में ऐसे तत्वों का समावेश किसी भी रूप में न किया जाना चाहिए, जो चेतना द्वारा समर्थित न हों। परिणामस्वरूप इस नवीन भावधारा के उदय एवं विकास के लिए धर्म निरपेक्षता की माप एक निश्चित शर्त बन गई। उपन्यास अपना ध्यान केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों पर ही केन्द्रित कर सकते हैं, जैसा कि एक बार अधिकांश लेखकों और पाठकों ने यह विश्वास प्रकट किया था कि केवल व्यक्तियों के

---

of fame and take up many pages in history ? Alas ! that is no more than making a tale for the reading of posterity, till it turns into fable and romance Is it to furnish subjects to the poets and live in their immortal rhymes, as they call them ? That is, in short, no more than to be here after turned into balled and song and he sung by old women to quiet children; or, at the corner of a street, to gather crouds in aid of the pickpocket and the where. Or, at the corner of a street, to gether crouds in aid of the pickpocket and the where. Or is their business matter to and virtue and piety to their glory, which alone will pass them into Eternity and make them truely immortal ? What is the glory without virtue A great man without religion is no more than a great beast without soul What is honour without merit ? And what can be called true merit, but that which makes a person a good man as well as a great man."

—डब्ल्यू ली : डेनियल डेफो, (१८६९) लन्दन, पृष्ठ २९-३०

१ विशेष विवरण के लिए देखिए : एफ० डब्ल्यू० जे० हेम्मिग्स : द रशियन नॉवेल इन फ्रान्स (१८८४-१९१४), १९५० लन्दन, पृष्ठ ३१-३२

हाथों में ही इस सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता हो, न कि चर्च, संप्रदाय या धार्मिक नेताओं के हाथों में। यहाँ यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि उपन्यासकार स्वयं या उसका उपन्यास धार्मिक नहीं हो सकता, बल्कि यह कि उपन्यासकारों का जो भी अन्तिम उद्देश्य हो, उसका अर्थ उसके द्वारा चित्रित किये जाने वाले पात्रों एवं उनके क्रिया-कलापों तक ही सीमित होना चाहिए। भावनाओं की यथार्थता पात्रों के विषयगत अनुभवों के माध्यम से ही प्रकट किया जाना चाहिए। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उपन्यासों के लिए एक सर्वव्यापी भावना की आवश्यकता होती है, जो व्यक्तिगत लोगों के मध्य सामाजिक सम्बन्धों की आधारभूमि पर आधारित रहता है। इसमें धर्म निरपेक्षता एवं व्यक्तिवादिता भी सम्मिलित रहती है, क्योंकि १७वीं शताब्दी के अन्त तक व्यक्ति की भिन्न सत्ता नहीं स्वीकृत की गई थी, बल्कि उसे चित्र का एक तत्व समझा जाता रहा, जो अपने अर्थाभिव्यक्ति के लिए ईश्वरीय व्यक्तियों पर निर्भर रहता था, साथ ही अनेक परम्परागत संगठनों पर जैसे चर्च आदि। किन्तु इसके साथ ही शुद्धतावादियों द्वारा आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास तथा उपन्यासों के विकास में प्रदान किए गए सहयोग को किसी भी मात्रा से न्यून न समझा जाना चाहिए। वस्तुतः व्यक्तिवाद के आधुनिक स्वरूप के विकास एवं उपन्सासों के विकास की पृष्ठिभूमि इन शुद्धतावादियों की महत्वपूर्ण देन है, जिसका उचित मूल्यांकन होना चाहिए। यह शुद्धतावाद ही था, जिसके माध्यम से डेफो ने उपन्यासों में व्यक्ति की सत्ता स्वीकार करने और उसके मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात किया। डेफो ने मनोवैज्ञानिक संभावनाओं से अपने को पूर्णतया अलग कर लिया था, जिससे कि वह व्यक्ति की एकान्तिकता का चित्रण कर सके और यही कारण था कि उसकी कृतियाँ उन पाठकों में अत्यधिक लोकप्रिय हुईं, जो अपने को सबसे अलग मानते थे। ऐसे लेखकों ने डेफो को महान् लेखक की संज्ञा से बिभूषित किया क्योंकि उसने पहली बार व्यक्ति की सत्ता स्वीकार कर उसकी एकान्तिकता का चित्रण करने का प्रयत्न किया था।

व्यक्तिवाद की इस विचारधारा का विरोध भी किया गया और कहा गया कि व्यक्ति की एकान्तिकता अत्यन्त हानिप्रद तथा पीड़ादायक है। इस पथ पर चलकर मानव-जीवन पशु-जीवन के समान हो जाता है और

मानसिक ह्रास होता है। इन आलोचनाओं का डेफो ने बड़े विश्वासपूर्ण ढंग से उत्तर दिया। उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य को समझ लेने के पश्चात् उसकी आत्मानुभूतियों को उपयोगी ढंग से एकान्तिक बनाया जा सकता है और पिछली दो शताब्दियों में व्यक्तिवाद के एकान्तिक पाठक इसकी आलोचना नहीं, वरन् इस पर अपना हर्ष प्रकट करेंगे कि व्यक्तिवादी अनुभव की विश्वव्यापी प्रतिमूर्ति एकान्तिक बन गई है। यह सर्वव्यापी है—यह शब्द यद्यपि व्यक्तिवाद के 'सिक्के' के दूसरी तरफ बराबर अंकित मिलेगा, पर यह शब्द वस्तुतः असन्दिग्ध है। यद्यपि डेफो स्वयं इस नवीन सामाजिक एवं आर्थिक संगठन का एक आशावादी प्रवक्ता था, किन्तु तब भी उसने आर्थिक व्यक्तिवाद से सम्बन्धित न्यूनमात्रा में प्रेरणा-दायक व्यक्तियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया।[1] जिसने परिणामस्वरूप व्यक्ति को उसके परिवार एवं राष्ट्र से अलग कर दिया।

व्यक्तिवाद के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के सुख-दुःख हमारे लिए क्या महत्व रखते हैं ? सम्भव हो सकता है कि हम सहानुभूति की शक्ति से प्रेरित होकर उनके कुछ भावों से द्रवित हो जायँ और छिपे तौर पर उन्हें अपनी सहानुभूति भी दे डाले, किन्तु अन्ततोगत्वा सभी ठोस प्रतिध्वनियाँ हमारे स्वयं में ही समाहित हो जाती हैं। हमें अलग-अलग पूर्ण ढंग से रहना है। हमारी भावनाएँ हमीं तक सीमित हैं। हम प्रेम करते हैं, हम घृणा करते हैं, व्यथित होते हैं, हम उल्लसित होते हैं—किन्तु यह सब अपनी व्यक्तिगत सत्ता के परिवेश में एकान्तिकता की पृष्ठभूमि पर ही होता है। इन तथ्यों के सम्बन्ध में यदि हम किसी से कुछ कहते हैं, तो केवल इतना ही कि अपनी इन एकान्तिकता की इच्छाओं की पूर्ति में हम उनकी सहायता चाहते है और

---

1 "All reflection is carried home, and our dear self is in one respect, the end of living. Hence man may be properly said to be alone in the midst of crouds and the hurry of men and business. All the reflections which he makes are to himself; all that is pleasant he embraces for himself; all that is irksome grievous is tasted but by his own palato"
—डेनियल डेफो : रॉबिन्सन क्रूसो, (पृष्ठ ७-१५-२२-२३)।

परिवार, राष्ट्र एवं दूसरों से अलग रहना चाहते हैं। यह स्वयं हमारे तक ही सीमित रहता है कि हम सुखी होते हैं या पीड़ित होते हैं।

किन्तु अन्य चरम् प्रवृत्तियों की भाँति इस प्रवृत्ति की भी शीघ्र ही प्रतिक्रिया होनी आरम्भ हो गई। जैसे-जैसे व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत की जाने लगी और इस तथ्य को कि व्यक्ति समाज के ऊपर निर्भर करता है तथा उसका एक अभिन्न अंग है तथा जो अभी तक सर्वसम्मत एवं मान्य था, को भ्रमपूर्ण सिद्ध किया जाने लगा एवं जिसे व्यक्तिवाद ने सबसे जबर्दस्त चुनौती दी थी, तो इसकी अत्यन्त विशद व्याख्या एवं विश्लेषण होना प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी है—ऐसी चर्चा प्रमुख रूप से अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों में प्रारम्भ हुई जिनमें डेविड ह्यूम सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे।[1] उन्होंने कहा कि हम अपने अन्दर ऐसी किसी भी भावना को जन्म नहीं दे सकते, जिसका सम्बन्ध समाज से न हो। प्रकृति की सभी शक्तियों और तत्वों को एक ही व्यक्ति (ईश्वर) की सेवा करनी चाहिए और उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रमा को उसी के संकेतों पर निकलना और डूबना चाहिए। समुद्र और नदियों को उसी रूप में बहना चाहिए जैसा वह चाहता है। सृष्टि को उसी पथ पर अग्रसर होना चाहिए जिसे वह लाभप्रद समझता हो। पर यह सब होने के बावजूद भी व्यक्तिवाद की गतिशीलता अवरुद्ध नहीं की जा सकती और व्यक्तिवाद ने इन सभी को ठुकरा दिया। व्यक्तिवाद की सशक्तता ने उपन्यासकारों का ध्यान बराबर अपनी ओर आकर्षित किया और उन्होंने व्यक्तिवादी उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की।

व्यक्तिवादी उपन्यास वैयक्तिक जीवन-चित्रण पर ही प्रमुख रूप से आधारित होते हैं। उनमें पहले पृष्ठ के पहले शब्द से लेकर अन्तिम पृष्ठ के अन्तिम शब्द तक सभी कुछ व्यक्तिवादी ढंग से विकसित होता है। पात्र व्यक्तिवादी होते हैं। कथानक का विकास व्यक्तिवादी ढंग से होता है। उपन्यासकार का जीवन दर्शन व्यक्तिवादी होता है। पात्रों के कथोपकथन एवं क्रिया-कलाप सभी कुछ व्यक्तिवादी होते हैं। उनमें सामूहिकता अथवा

---

१ डेविड ह्यूम : ट्रीटाइज ऑव ह्यूमन नेचर (१७३९), बुक II, सेक्शन V।

सहयोग की भावना का पूर्ण अभाव होता है। व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत होती है, समाज की सत्ता का पूर्णतया तिरस्कृत किया जाता है। व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों का सामाजिक रूढ़ियों में कोई आस्था नहीं होती। परम्परागत रीति-रिवाजों, अन्ध-विश्वासों, सामाजिक शोषण एवं अन्याय, विवाह और प्रेम आदि समस्याओं के प्रति उनके व्यक्तिवादी विचारों की अभिव्यक्ति होती है और वे समाज में एक ऐसी क्रान्ति करना चाहते हैं, जिससे परम्परावादी समाज ध्वस्त हो जायँ और उसके स्थान पर व्यक्तिवादी समाज की रचना हो, जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सर्वमान्य हो। ये पात्र किसी भी रूप में समाज की पर्वाह नहीं करते। उनके लिए समाज कोई अस्तित्व नहीं रखता। स्वयं उनका अपना अस्तित्व एवं उनके अपने विचारों का अस्तित्व ही उनके लिए सब कुछ होता है। व्यक्तिवादी जीवन दर्शन में व्यक्ति का अपना अहं ही सभी कुछ महत्व रखता है और उस अहं की रक्षा में ही व्यक्ति गतिशील होता है। व्यक्तिवाद की चरम सीमा में यह व्यक्तिगत अहं अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता है।

व्यक्तिवाद मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की आस्था विवाह विधान के परम्परागत रूप में बनाए रखता है, पर जब समकालीन सामाजिक परिस्थितियों की कटुता उसके विश्वासों को ध्वस्त करता है तो वह अपनी उस आस्था को ठुकरा कर प्रेम का विकास व्यक्तिवादी स्तर पर करता है, फिर दो प्रेमी जनों के विवाह-सूत्र में बँधने में समाज मध्यस्थ नहीं रह जाता। इस प्रकार व्यक्तिवादी जीवन दर्शन विवाह संस्था को भी धीरे-धीरे तोड़ रहा है, जर्जरित कर रहा है और उसके स्थान पर नारी और पुरुष के मध्य ऐसे व्यक्तिवादी प्रेम का विकास हो रहा है जो उन्हें जीवन पर्यन्त 'मित्र' बनकर रहने की प्रेरणा देता है। विवाह में उनकी विशेष रुचि नहीं रह जाती। यह एक प्रकार से संस्कार-युक्त प्रेम का पूर्ण तिरस्कार कर संस्कार मुक्त प्रेम का विकास है, जिसकी पृष्ठभूमि में व्यक्तिवादी चेतनशीलता, समाज की निडरता और अहं की प्रधानता क्रियाशील रहती है। व्यक्तिवाद जाति भेद और वर्ण व्यवस्था को भी नहीं मानता। एक ब्राह्मण की लड़की का मुसलमान युवक से प्रेम या ब्राह्मण कन्या का अछूत से प्रेम व्यक्तिवाद के अनुसार मान्य है और उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे मुँह बिचकाया जाय। व्यक्तिवाद वेश्या-विवाह और विधवा-विवाह का समर्थन करता है।

यदि वेश्या में स्नेह है, ममता है, जीवन में गरिमा प्राप्त करने की लालसा हो, तो व्यक्तिवाद उसे किसी गृहिणी नारी से कम नहीं मानता और देवा के ही रूप में उसकी श्रद्धा करता है—ऐसी देवी, जिसे समाज का अभिशाप और परिस्थितियों की विषमता समाज के नर्क में ढकेल देती है। व्यक्तिवाद की गरिमा और एकनिष्ठ प्रेम की महत्ता को अन्यतम रूप में स्वीकार करता है।

हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में पूर्व-प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल में व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ पाया। इन दोनों ही काल के उपन्यासकार व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता मानने को तैयार न थे। वे व्यक्ति को समाज की एक अभिन्न इकाई ही मानते थे और उसी रूप में चित्रित करते थे। वे सभी सामाजिक सुधार तो चाहते थे और रूढ़ियों का भी नाश, विशेष रूप से प्रेमचन्द काल में, चाहते थे, पर सामाजिक रूप विधान को पूर्ववत बनाए रख समाज की सत्ता का विकास चाहते थे। वे व्यक्ति के अहं को नहीं, सामाजिक अनुशासन को महत्व देते थे, और व्यक्ति का विकास और जीवन की गतिशीलता समाज के नियंत्रण में चाहते थे। पर प्रेमचन्द की मृत्यु तक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गई थीं। ज्वालामुखी का मुख खुल चुका था और उसके विस्फोट को तथाकथित् 'सामाजिक सुधारक' रोक सकने में असमर्थ थे। समाज में मध्यवर्ग नवीन चेतना से संचारित हो रहा था और उसे अपना भी महत्व समझ में आने लगा था। वह यह समझने लगा था कि उसकी पीड़ाएँ, उसका दुख-दर्द, उसकी भावनाएँ, प्रेम, विवाह सम्बन्धी निराशा और कुंठाएँ – इन सब के अपने-अपने अर्थ हैं और समाज को उनकी भावाभिव्यक्ति को समझना पड़ेगा। उनके अन्दर एक ज्वाला सुलग रही थी, क्रान्ति की चिनगारी आग उगलने को तैयार थी और सामाजिक रूप-विधान का तख्ता पलट देने के शोले भड़क चुके थे। समय बड़ा नाजुक था और उस समकालीन नाजुकता से उपन्यासकार विमुख नहीं रह सकता था। फलस्वरूप उत्तर-प्रेमचन्द काल में स्थिति में परिवर्तन हुआ और व्यक्तिवादी भावनाओं ने उपन्यासकारों की मनःस्थिति को अपने स्पन्दन से गुदगुदाना और झंकृत करना प्रारम्भ किया। हिन्दी में प्रथम व्यक्तिवादी उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा और उनके चित्रलेखा (१९३६) को प्रथम व्यक्तिवादी उपन्यास माना जाना चाहिए। 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य

एवं प्रेम की समस्याओं का व्यक्तिवादी ढंग से विश्लेषण किया गया है। अंचल भगवतीचरण वर्मा से भी घोर व्यक्तिवादी हैं। 'चढ़ती धूप' (१९४५) में उन्होंने प्रेम समस्या को लिया है और उसकी नायिका ममता अपने पति की अपेक्षा अपने प्रेमी को अधिक महत्व देती है। वह तो अपने पति से यहाँ तक कह देती है कि यदि उसका प्रेमी चाहे तो अब भी उसे किसी कोठे पर बिठा कर वेश्या-वृत्ति करा सकता है और वह (पति) उसके प्रेमी के पांवों की धूल-भी नहीं है। अपने प्रेमी की मृत्यु पर वह पति के रहते हुए भी अपनी चूड़ियाँ तोड़ देती है और माँग का सिन्दूर पोंछ देती है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी (पतिता की साधना, चलते-चलते, यथार्थ से आगे) उपेन्द्रनाथ अश्क (गर्मराख गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना, पत्थर-अलपत्थर), उदयशंकर भट्ट (नए मोड़, लोक-परलोक, सागर लहरें और मनुष्य) सुरेश सिनहा (तुमने मुझे पुकारा तो नहीं, एक और अजनबी) जनार्दन मुक्तिदूत (अधूरे उपन्यास) नरेशमेहता (यह पथ बन्धु था, डूबते मस्तूल) आदि ऐसे दूसरे उपन्यासकार हैं, जिनकी विभिन्न रचनाओं में व्यक्तिवादी जीवन दर्शन एवं चिंतन का विकास प्रस्फुटित होता है। इन सभी उपन्यासों के अध्ययन एवं विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलेगा कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में समष्टिगत चेतना की तुलना में व्यक्तिगत चेतना को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इनमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना का सबल स्वर उद्घोषित होता रहता है और सामाजिक चेतना को तिरस्कृत कर व्यक्तिनिष्ट चेतना को महत्व प्रदान करने की भावना परिलक्षित होती है।

आंचलिकता

आंचलिकता की प्रवृत्ति हिन्दी उपन्यासों के लिए सर्वथा नवीन नहीं है। आंचलिकता का प्रयोग प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'कायाकल्प', वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुंडार', 'बिराटा की पद्मिनी' आदि उपन्यासों में पहले ही किया था, पर वे प्रयोग आंशिक ही थे। आंचलिकता का पूर्ण परिवेश उन उपन्यासों को अपनी सीमाओं में नहीं बाँध पाया था, पर यह कहना या प्रचारित करना तर्कसंगत नहीं है कि हिन्दी उपन्यासों में आँचलिकता का सूत्रपात फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' से हुआ है। हाँ, यह

अवश्य ही सत्य है कि शुद्ध रूप से पूर्ण आंचलिक पृष्ठभूमि पर 'मैला आंचल' को हम प्रथम शुद्ध आंचलिक उपन्यास स्वीकार कर सकते हैं। आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल विशेष, स्थान विशेष या ग्राम विशेष को कथानक का आधार बनाकर उपन्यास का सृजन होता है। मानव-जीवन का फैलाव अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है और आंचलिक उपन्यासकार बजाय उस व्यापक फैलाव में जाने के एक छोटे से अंचल को चुन लेता है। वहाँ के रीति-रिवाजों, धर्म, संस्कृति, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव एवं स्थिति तथा मानवीय प्रवृत्तियों को वह विस्तृत परिवेश में चित्रित करने का कलात्मक प्रयास करता है, जिससे वह कथा एक अंचल विशेष की होते हुए भी सर्वजनीनता प्राप्त कर लेती है। आंचलिकता परिपार्श्व के स्थान पर यथार्थ को स्थायी महत्व प्रदान करती है। सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति आंचलिकता में भी उतनी ही गहन् होती है, जितनी अन्य उपन्यासों में। कथा के एक अंचल विशेष तक सीमित होने के कारण उसमें किसी भी रूप में सीमितता नहीं आ जाती। लेखक की कलात्मकता उसे निरन्तर नवीन आयाम प्रदान करती है, जिससे वह व्यापक परिवेश प्राप्त कर लेती है।

वस्तुतः अंचल क्या है ? कहा गया है, वह परिवेश है और परिवेश का चित्रण कहानी या उपन्यास की सीमा-रेखा से बहिष्कृत है, चाहे वह नगरी परिवेश हो, या ग्रामीण। फिर नगरी परिवेश को कुंठाग्रस्त, विकृत एवं ग्रामीण परिवेश को 'उदात्त', 'स्थायी' कहने का किसी को कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पर यह तर्क-संगत नहीं है। पहली बात तो यह कि ग्रामीण परिवेश आज की परिवर्तित परिस्थितियों में अब भी नगरी परिवेश की तुलना में आदर्श और यथार्थ की दो सीमा रेखाओं में उदात्त तत्वों पर आधारित है। मानव मूल्य, सहानुभूति, प्रेम और आत्मीयता का बहिष्कार ग्रामीण अंचल से अभी उस अंश में नहीं हो पाया है, जिस मात्रा में नगरीय परिवेश से तिरोहित होते जा रहे हैं। दूसरी बात यह है कि चूँकि ग्रामीण परिवेश में 'उदात्त' एवं 'स्थायी' तत्व अधिक हैं, इसीलिए आंचलिक उपन्यासों की रचना का आधार ग्रामीण अंचल को बनाया जाता है। वस्तुतः इस आंचलिकता का यह उद्देश्य ही नहीं होता। और जब अंचल क्या है— का उत्तर देने का प्रयत्न किया जाता है तो नगरी और ग्रामीण अंचलों की बात उठाकर उस पर उदात्त एवं स्थायी तत्वों की लीपापोती करना

बुद्धि के दिवालियेपन के सिवा मैं और क्या मानूँ या आप क्या स्वीकारेंगे ? अगर कोई अंचल का अर्थ ग्रामीण अंचल से लगाता है तो मुझे उसकी बौद्धिकता पर तरस आता है। यह अंचल ग्राम का भी हो सकता है, नगरों का भी। यह अंचल एक कस्बा भी हो सकता है, एक मुहल्ला भी। यह अंचल एक ग्राम भी हो सकता है, एक पूरा नगर भी, और आंचलिक उपन्यास ग्रामीण अंचल पर ही आधारित होते हैं, यह यथार्थ नहीं है।

तब फिर आंचलिक उपन्यासों की परिभाषा क्या हो ? इस विवाद पूर्ण प्रश्न का उत्तर देना खतरे से खाली नहीं है। फिर भी मैं इसका उत्तर इस रूप में दूँगा कि आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल विशेष को कथा का आधार बन कर वहाँ की सामान्य प्रवृत्तियों को व्यापक परिवेश में चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है। फिर प्रश्न उठ सकता है कि सामान्य प्रवृत्तियां हैं क्या ? सामान्य प्रवृत्तियों से मेरा अभिप्राय उस अंचल की संस्कृति, मान्यता, मानवीय स्वभाव, छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-सहानुभूति, लोकभाषा, लोक-व्यवहार तथा सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव एवं स्थिति से है। इस सीमित कथा की पूर्णता भी लेखक के लिए 'अपूर्ण' रहती है, वह इसे समूचे राष्ट्र की सामान्य परिस्थितियों से सम्बद्ध कर 'पूर्ण' और सर्वजनीन बनाने का प्रयत्न करता है।

आंचलिक उपन्यासों को लिखने की कोई भी शैली हो सकती है। पर सर्वाधिक सफल शैली चित्रात्मक शैली है, जिसमें उपन्यासकार एक फोटोग्राफर का रूप धारण कर उस अंचल का एक के पश्चात् एक स्नैप-शॉट प्रस्तुत करता चलता है। यह शैली एक पर्यवेक्षक की ओर से प्रस्तुत की गई प्रतीत होती है। अपने चित्रण को अधिक सत्य एवं विश्वासपूर्ण बनाने के लिए आंचलिक उपन्यासकार उस अंचल की क्षेत्रीय भाषा, लोकगीत, परम्पराएँ, धर्मान्धता, सामाजिक रूढ़ियों, एवं नैतिक मान्यताएँ—सभी कुछ यथार्थ ढंग से चित्रित करता है और पाठकों में अपनी कथा के प्रति विश्वसनीयता उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। फिर भी आंचलिक उपन्यास भौगोलिक या सामाजिक इतिहास नहीं हैं। ऐसा अंचल एवं यथार्थ के परस्पर सम्बन्धों की भ्रान्तियों से ही भूल से कह दिया जाता है। आंचलिकता वस्तुतः यथार्थ की पृष्ठभूमि पर खड़ी होती है, पर कल्पना की बाँहें वह नहीं छोड़ती। उस भौगोलिक और सामाजिक इतिहास को भी उपन्यासकार

अपनी कलात्मकता से औपन्यासिक रस ओत-प्रोत करता है। कहा गया है कि आंचलिक उपन्यासों में प्रवाहमयता नहीं होती। उन्हीं सुविज्ञों से मैं पूछना चाहता हूँ। क्या 'मैला अंचल', 'परती : परिकथा' और 'बलचनमा' तथा 'रतिनाथ की चाची' असंख्य पाठकों के हाथों में अपनी तमाम नीरसता और प्रवाहहीनता के बावजूद भी पहुँच गए ? उनके पास कदाचित् इसका कोई उत्तर नहीं होगा और वे शास्त्रीयता की सीमाओं में जाने का प्रयत्न करेंगे। इस शंका का वास्तविक कारण यही है कि इसमें सारी घटनाएँ बिखरे हुए चित्रों के रूप में होती हैं। यदि एक एलबम में किसी नगर के तमाम दर्शनीय स्थलों के चित्र लगा दिए जायँ तो क्या उस संग्रह से उस नगर का एक चित्र नहीं उपस्थित हो जायगा ? आंचलिक उपन्यास भी तो उस अंचल विशेष का एक एलबम होता है, जिसमें सारी घटनाएँ इस प्रकार संयोजित की जाती हैं, जिससे उस अंचल का एक पूर्ण चित्र उपन्यास के माध्यम से उपस्थित हो सके।

आंचलिक उपन्यासों की भाषा के सम्बन्ध में भी बड़ी आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएँ होती हैं। कहा गया है कि आंचलिक उपन्यासों की भाषा को आंचलिकता के मोह में पड़कर जबर्दस्ती दुरूह बनाया जाता है। वास्तव में भाषा ऐसी होनी चाहिए जो, देश के सभी भागों में सरलता से समझी और जानी जा सके। उत्तर प्रदेश के किसी ग्राम की ठेठ देहाती भाषा महाराष्ट्र में नहीं समझी जा सकेगी। यद्यपि कहा जा सकता है कि यथार्थता के लिए यह ठेठपन आवश्यक है, पर यह भी समझना होगा कि उपन्यास को ऐसा स्वरूप भी तो प्रदान करना है जो उत्तर प्रदेश की सीमा के बाहर अन्य प्रदेशों में भी सरलता से समझा जा सके। मैं आंचलिक उपन्यासों में भाषा के इस ठेठपन के सर्वथा विरुद्ध हूँ, क्योंकि इससे आंचलिकता की व्यापकता पर आघात पहुँचता है। प्राय: यह भी कहा जाता है कि आंचलिक उपन्यासों में कोई पात्र परिस्थितियों से ऊपर नहीं उभर पाता, क्योंकि पात्रों की संख्या अधिक होती है और उन सबके चरित्र चित्रण का उपन्यासकार को अवकाश ही नहीं प्राप्त होता। पर ऐसा तो अन्य प्रकार के उपन्यासों में भी तो होता है। क्या गोदान' या 'गिरती दीवारें' के सभी पात्रों का सफल चरित्र-चित्रण हो पाया है ? मुख्य पात्रों को छोड़कर वस्तुत: उपन्यासकार की अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण के प्रति रुचि नहीं रहती। न इसकी आवश्यकता

ही होती है और न यह संभव ही है। उन सभी पात्रों जो मुख्य पात्र नहीं हैं, बस आवश्यकतानुसार रूपरेखा भर ही प्रस्तुत कर देनी चाहिए। आंचलिक उपन्यासों में भी यही होता। वस्तुतः हमें यह समझ लेना चाहिए कि आंचलिक उपन्यासों का शिल्प और अन्य उपन्यासों का शिल्प भिन्न नहीं है। आंचलिकता केवल एक प्रवृत्ति है जो उपन्यास के चित्रण में व्याप्त रहती है, न कि शिल्प में।

हिन्दी में जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, आंचलिक उपन्यासों की परम्परा का प्रारम्भ प्रेमचन्द काल से ही माना जाना चाहिए। प्रेमचन्द ने तो अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र इसका प्रयोग किया ही है। बुन्देलखण्ड के अनेक स्थानों को अंचल बनाकर वृन्दावन लाल वर्मा ने अनेक सफल उपन्यासों की रचना की जो ऐतिहासिक होने के साथ ही आंचलिकता की प्रवृत्ति से भी परिपूर्ण हैं। बीच में आंचलिकता की प्रवृत्ति को अन्य उपन्यासकारों ने मनोविश्लेषण, यौनवाद, समाजवाद आदि अनेक प्रवृत्तियों के आकर्षण में तिरस्कृत किया, पर उसे पुनर्जीवित करने का श्रेय फणीश्वर नाथ 'रेणु' को उनके 'मैला अंचल' (१९५४) उपन्यास से है। उन्होंने अत्यन्त ही सशक्त रूप में और शुद्ध रूप में आंचलिकता की प्रवृत्ति को अपने दो उपन्यासों—'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' में प्रस्तुत किया है। उनके पश्चात् एक परम्परा का विकास नागार्जुन (बलचनमा, रतिनाथ की चाची, बाबा बटेसरनाथ), शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' (बहती गंगा), राजेन्द्र अवस्थी तृषित' (जंगल के फूल) उदयशंकर भट्ट (सागर लहरें और मनुष्य, लोक-परलोक), मनहर चौहान (हिरना-साँवरी), तथा सुरेन्द्रपाल (लोक लाज खोई) आदि ने किया। मनहर चौहान के 'हिरनासांवरी' में छत्तीसगढ़ की पृष्ठ-भूमि पर आंचलिकता का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया गया है। उनके इस आंचलिक उपन्यास की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता इसकी भाषा है। प्रायः आंचलिक उपन्यासों की भाषा के सम्बन्ध में यह दावे किए जाते रहे हैं कि उसका भी आंचलिक होना अनिवार्य है। आवश्यकतानुसार भाषा को आंचलिक टच देने की बात तो समझ में आती है, पर पूर्ण भाषा-विषयक आंचलिकता अपनाकर उपन्यास की सर्वजनीनता को समाप्त कर बौद्धिक दिवालिएपन का ही प्रतीक है। मनहर चौहान के इस उपन्यास की भाषा की यही विशेषता है कि वह सर्वजनीनता के नए आयाम स्पर्श करती है।

उन्होने छत्तीसगढ़ की अशिक्षा, अंधविश्वास, सामाजिक रूढ़ियों, एवं पिछड़ेपन का, वहाँ की संस्कृति एवं लोकाचारों आदि का अत्यन्त ही यथार्थ चित्रण किया है। इसी प्रकार सुरेन्द्रपाल के 'लोक लाज खोई' में भी उत्तर प्रदेश के एक गाँव की सम्पूर्णता का आंचलिक परिवेश में यथार्थ चित्रण किया गया है। सुरेन्द्रपाल के इस उपन्यास की भी प्रमुख विशेषता उसकी सर्वजनीनता ही है। उनके द्वारा चित्रित गाँव का चित्रण किसी एक गांव तक सीमित न रहकर किसी भी भारतीय गांव का प्रतीक बन जाता है। हवलदारिन भौजी जैसी नारी पात्र कहीं भी, किसी भी गाँव में खोजे जा सकते हैं। इस प्रकार सुरेन्द्रपाल की यथार्थवादी तथा सूक्ष्म कलात्मक चयन दृष्टि ने गाँव की आत्मा को पहचाना और भारतीय गांवों की आत्मा की व्याकुलता, आवेग, संवेदनशीलता एवं रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा नवीनता एवं प्रगतिशीलता को आत्मसात करने के प्रति संघर्ष को बड़ी सशक्तता से उभारा है। हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का भविष्य अत्यन्त उज्जवल है।

ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक उपन्यासों में किसी विशेष युग के जीवन की सामान्य विशेषताओं का व्यापक चित्र कथानक एवं पात्रों की नाटकीयता से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करने के साथ-साथ उसमें कल्पना का पुट भी देता चलता है, अन्यथा वे कोरे इतिहास ही बनकर रह जाते हैं और उनमें से औपन्यासिक तत्व समाप्त हो जाता है। कोरी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य नहीं होता। इतिहास में नामों और तिथियों को छोड़ कर कुछ भी सत्य नहीं रहता। ऐतिहासिक उपन्यास में तिथियों तथा नामों को छोड़कर सब कुछ सत्य रहता है।[1] इतिहास लेखक मानव अन्तर्मन में

1 "On fiction everything is true except name and dates; on history nothing is true except names and dates."
—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (मार्च, १९६०), लन्दन, पृष्ठ १६६

पैठ कर उसकी अन्तश्चेतनाओं का उद्‌घाटन नहीं करता। यह उसका कार्य भी नहीं रहता, जबकि उपन्यास लेखक का यही प्रमुख धर्म होता है। लेस्ली स्टीफेन नामक आलोचक ने ऐतिहासिक उपन्यासों को साहित्यिक वर्णशंकर माना है, अर्थात् ऐतिहासिक उपन्यास न तो इतिहास ही होते हैं और न साहित्य ही वरन् दोनों के मध्य की वस्तु होते हैं। पाल ग्रेप महोदय ने ऐतिहासिक उपन्यासों को इतिहास का शत्रु बताया है, पर यह सत्य नहीं है। वस्तुतः इतिहास और उपन्यास का सम्बन्ध वांछनीय होता है। प्रत्येक साहित्य में अधिकांश ऐसे सामाजिक उपन्यास होते हैं, जो अपने युग में ऐतिहासिक नहीं होते, किन्तु आगे चल कर ऐतिहासिक हो जाते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। आगे आने वाले युगों में प्रेमचन्द के उपन्यास तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को समझने के लिए पढ़े जाएँगे।

यद्यपि यह सत्य है कि इन श्रेष्ठ उपन्यासों से परम्परागत ढंग पर लिखे जानेवाले 'प्रामाणिक' इतिहासों का काम नहीं लिया जा सकता, पर जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में तिथियों एवं नामों को छोड़कर सभी कुछ सत्य होता है। हो सकता है कि उन श्रेष्ठ उपन्यासों में नाम एवं तिथियां सत्य न हों और एम० ए० या बी० ए० के पाठ्यक्रम में इतिहास विषय के लिए वे पुस्तकें स्वीकृत न हों, पर इतना निर्विवाद रूप से सत्य है कि साहित्य का विद्यार्थी उन्हें इतिहास के रूप में ही पढ़ेगा। स्पष्ट है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथातत्व का समन्वित रूप है, जिसमें नव अन्वेषित कहानी होती है और जो भूतकालीन जीवन की सत्यता का दावा करती है।[1] यह अवश्य है कि इतिहासकार कल्पना

---

1 "The historical novel is a form of fiction as well as of h'story. It is a tale, a piece of invention only, it claims to be true to the life of past."

—एच० बटरफील्ड : द हिस्टॉरिकल नॉवेल, (१९२४), पृष्ठ ४

का आश्रय नहीं अपितु प्राप्त तथ्यों का आश्रय ग्रहण करता है।[1] ऐतिहासिक उपन्यासकार औपन्यासिक रस एवं संवेदनाजन्य परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक मात्रा में कल्पना का आश्रय ग्रहण करता है। डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा के अनुसार जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके, उपन्यास लेखक भूली हुई या खोई हुई सच्चाइयों का निर्माण करता है।[2] ऐतिहासिक उपन्यासकार के द्वारा पाठक को और लेखक के समाज को कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिए। जनमत में दिव्यता लाने का संवेग उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है। इतिहास के तथ्य और जन परम्पराओं में उन तथ्यों के प्रति श्रद्धा उसके साधन हैं। इतिहास में जैसे वास्तविक घटना के विना काम नहीं चलता, किशोरीलाल गोस्वामी के अनुसार उपन्यास में भी कल्पना का आश्रय लिए बिना प्रबन्ध नहीं लिखा जा सकता। ऐसी अवस्था में 'ऐतिहासिक' उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के सत्यांश के साथ कल्पना की थोड़ी ही आवश्यकता पड़ती है, पर जहाँ इतिहास की घटना जटिल, सत्याभास वात्र और कपोलकल्पित भासती है, वहाँ लाचार हो, इतिहास को बाँध कर कल्पना ही अपना पूरा अधिकार फैला लेती है।[3] प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार स्वर्गीय राहुल सांकृत्यान ने भी इतिहास और कल्पना के समन्वय को स्वीकार किया है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यास आवश्यकता पड़ने पर जानबूझकर इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि एक तो उनका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं, दूसरे उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना न होकर तात्कालिक

---

1 "..........the historical novel is bad history and worse fiction; that it falls between the two modes and succeeds in being neither one nor the other."
—स्टीफेन्सन स्मिथ : द क्रैफ्ट ऑव द क्रिटिक (द्वितीयावृत्ति), न्यूयार्क, पृष्ठ १२१

२ डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा : नए पत्ते (जनवरी : ५३) 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' नामक निबंध :

३ किशारी लाल गोस्वामी : तारा (प्रथम भाग) निवेदन, पृष्ठ १

समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।[1] मेरे विचार से बिना इतिहास एवं कल्पना के परस्पर समन्वय से सफल ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना हो ही नहीं सकती। जैसे चाकू की तेज़ी बढ़ाने के लिए उस पर सान धराया जाता है, उसी प्रकार कल्पना इतिहास पर सान धर कर उसकी तीव्रता में वृद्धि तो करती ही है, साथ ही रोचकता, औपन्यासिक औत्सुक्य एवं मानवीय संवेदना भी उत्पन्न करती है, जिससे इतिहास अपने परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप में ऐतिहासिक उपन्यास का रूप धारण कर लेता है, जो उपन्यासकार की कलात्मकता, मानसिक संतुलन, दूरदर्शिता एवं सूझ-बूझ की भित्ति पर आधारित होता है।

प्रश्न उठता है, वस्तुतः इतिहास है क्या ? विभिन्न आलोचकों ने इसके भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। एक आलोचक के अनुसार यदि निर्वैयक्तिक इतिहास आदर्शवाद की सीमाओं में आबद्ध है तो भी वह एक असम्भाव्य परिस्थिति है। अतीतकाल के पर्यवेक्षण की हर इतिहासकार की अपनी विशिष्ट दृष्टि होती है। इस दृष्टि का, इतिहासकार के लिए, निराकरण करना उतना ही कठिन है जितना प्राण से शरीर अलग करना।[2] एक दूसरा वर्ग इतिहास को विज्ञान नहीं मानता और उसे प्राप्त तथ्यों की एक क्रमिक सूची मात्र स्वीकार करता है। इतिहास लेखक इतिहास 'पर' नहीं देखता,

---

१ राहुल सांकृत्यायन : वैशाली की नगर वधू (उपन्यास)।

2 "Impartial histoty, so far from being an ideal, is a downright impossibility. On support of this we would point out that every historian looks at the past from a certain point of view, which he can no more avoid than he can jump out of his own skin."

—डब्ल्यू० एच० वाल्शः इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी ऑव हिस्ट्री, पृष्ठ २०

वरन् इतिहास के 'माध्यम' से देखता है।[1] वास्तव में इतिहास और साहित्य की स्थिति समानान्तर है। एक महान् उपन्यास से इसी बात की आशा की जाती है कि वह स्वयं हमारे ही बारे में अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन करेगा, उसी भाँति अतीत काल के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी एवं अन्वेषण के उपरान्त प्राप्त घटनाओं को क्रमिक एवं वैज्ञानिक रूप से उपस्थित करना इतिहासकार का कार्य है। सत्यान्वेषण इतिहासकार भी करता है, उपन्यासकार भी। पर उपन्यासकार का प्रमुख कार्य नवीन मानव मूल्यों की स्थापना होता है जो इतिहासकार का कार्य नहीं है। वह वैज्ञानिक सीमाओं में बँधा रहता है और किसी संदेश देने, संवेदना उत्पन्न करने अथवा सहानुभूति, प्रेम एवं बन्धुत्व की भावना का प्रसार करना उसका उद्देश्य नहीं होता जो उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व होता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य केवल घटनाओं का संयोजन करना या विवरण देना ही नहीं होता है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में पर्याप्त अध्ययन, चिंतन एवं मननशीलता की आवश्यकता होती है। एक बार मैंने प्रसिद्ध उपन्यासकार डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा से पूछा था कि आप ऐतिहासिक उपन्यास कैसे लिखते हैं तो उन्होंने अपने दूसरे पत्र में उत्तर दिया कि 'ऐतिहासिक उपन्यास लिखना एक दुस्साध्य कार्य है। जिस काल का उपन्यास लिखा जाना है, जब तक उस काल की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति, मानव जीवन और इतिहास का एक स्पष्ट चित्र सामने न हो, तब तक यह कार्य सरल नहीं होता।' वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यासकार को चाहिए कि उस काल से वह अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ले, जिस काल का वह ऐतिहासिक उपन्यास लिखना चाहता है। इतिहास को उपन्यास में ध्यान देने की अनेक विधियाँ हैं। प्रथम तो इतिहास में ही लेखक अपनी कथावस्तु फिट करता है। दूसरे कथावस्तु में इतिहास की कल्पना की जाती

---

1 "The events of history are never mere phenomenon; never mere spectacles for contemplation, but things which the historian looks, not at, but through, to discern the thought within them."

—कॉलिंगवुड : आयडिया ऑव हिस्ट्री, पृष्ठ २१४

है। एक तीसरी विधि यह है कि नितान्त काल्पनिक कथा को किसी ऐतिहासिक युग में उसी वातावरण, भाषा, पात्र, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिवेश में इस भाँति फिट कर दिया जाता है कि वह एक ऐतिहासिक उपन्यास ही प्रतीत होने लगता है। 'चित्रलेखा' या 'दिव्या' इसी ऐतिहासिक कल्पना (Historical Fantasy) पर आधारित उपन्यास हैं। चौथी विधि में किसी प्रसिद्ध घटना या प्रसिद्ध व्यक्ति को आधार बनाकर कथानक की कल्पना की जाती है। 'झाँसी की रानी' ऐसा ही उपन्यास है।

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना पूर्व-प्रेमचन्द काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी और किशोरी लाल गोस्वामी हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। यद्यपि उन्होंने 'तारा','सुल्ताना रज़िया बेगम वा रंगमहल में आदि ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की पर उनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता नाम मात्र की है, सब कल्पना ही कल्पना है। उन्होंने ऐसी घटनाएँ चुनी थीं, जो 'चटपटी' थीं और पढ़ने या सुनने में 'मजा' देती थीं। ऐतिहासिक उपन्यासों का सशक्त एवं सुसम्बद्ध रूप प्रस्तुत करने का श्रेय वृन्दावन लाल वर्मा को ही है। उनके गढ़कुण्डार, झाँसी की रानी, विराटा की पद्‌मिनी तथा कचनार प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रांगेयराघव (मुर्दों का टीला), राहुल सांकृत्यायन (जय यौधेय) अन्य ऐतिहासिक उन्यासकार हैं।

समाजवाद

समाजवाद वस्तुतः मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित है। मार्क्स ने अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा है। वह सृष्टि के पार्थिव रूप को ही चरम सत्य मानकर चलता है। वह परिवर्तन के निरर्थक चक्रों में अपनी आस्था न प्रकट कर विकास के सिद्धान्त को ही स्वीकार करता है। हीगल ने विचार को सत्य तथा भौतिक जगत् को उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में कल्पना की है, पर मार्क्स इसे नहीं स्वीकार करता।[1] मार्क्सवाद भूमि

1 "To Hegal ....the real world is only the external phenomenal form of the ideal. With me the contrary. The ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into form of thought."

—कार्ल मार्क्स : कैपिटल, प्रथम पोथी।

व्यक्ति और उसकी आवश्यकताओं को आधार मानता है। यदि किसी व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकता सौ रुपए की है तो उसे सौ रुपए ही मिलने चाहिए, उससे अधिक नहीं। मार्क्सवाद इन दोनों न्यूनाधिक स्थितियों पर नियंत्रण रखना चाहता है। मार्क्स के अनुसार पूर्ण दृश्य और सूक्ष्म जगत का निर्माण वस्तु पदार्थ से हुआ है। मेधा भी इसी वस्तु पदार्थ से ही निर्मित है, फलस्वरूप सृष्टि में केवल एक ही सत्ता है—भौतिकता। मार्क्सवादी भौतिक दर्शन में [1] ही विश्वास करते है। उसके अनुसार इस सृष्टि की सत्ता बाह्यगत है और हमारी सत्ता से स्वतन्त्र है। यह सृष्टि स्थिर नहीं वरन् परिवर्तनशील और निरन्तर गतिशील हे। आध्यात्मिकता, मन आदि भ्रान्तिपूर्ण हैं। इस सृष्टि का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन है, इससे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। समाज का सत्य उसकी अर्थ यथार्थ व्यवस्था है और समाज में दो महत्वपूर्ण तत्व हैं—पूजीपति और सर्वहारा वर्ग। उन दोनों में निरन्तर संघर्ष होता है जिसके परिणाम-स्वरूप यह सृष्टि गतिशील होती है और उसमें परिवर्तन का आसार लक्षित होते हैं। अतः समाजवादी लेखक अपना दो उद्देश्य बना लेता है–एक तो अर्थ के प्रकाश में समाज की कटु आलोचना करना तथा दूसरे अधिभौतिक शक्तियों को कला का उपजीव्य बनाना। जहाँ निराशा और कटुता का दर्शन सृष्टि एवं संस्कृति के विनाश एवं पतन पर करुण रुदन करता है, वहाँ मार्क्सवाद को एक नए सृष्टि के उदय की आशा लक्षित होती है, जहाँ समानता होगी एवं श्रमिकों का शोषण न होकर उनकी पीड़ाओं में न्यूनता आएगी।

---

1 "Marxism searches for the meterial roots of each phenomenon, regards them in their historical connections and movements, ascertains the laws of such movement and demonstrates their development from root to flower and in so doing lifts every phenomenon out of a merely emotional, irrational, mystic fog and brings it to the bright light of understanding."

—जॉर्ज ल्यूकाच : स्टडीज् इन यूरोपियन रियलिज्म (१९५०) लन्दन, पृष्ठ १

मार्क्सवादी दर्शन मनुष्य का विश्लेषण उसके पूर्ण रूप में ही करता है और मानव-विकास-क्रम का इतिहास पूर्णरूप में निर्धारित करता है। वह उन छिपे नियमों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है जिनके आधार पर मानवीय आस्था एवं सम्बन्ध निश्चित होते हैं। इस प्रकार प्रॉलिटेरियन मानवतावाद का कार्य एवं मुख्य उद्देश्य पूर्ण मानव व्यक्तित्व को पुनर्गठित करना एवं उसको अनावश्यक शोषण एवं पीड़ा से बचाना है जो उसे वर्गगत सामाजिक व्यवस्था में सहना पड़ता है। ये सैद्धांतिक एवं क्रियात्मक मान्यताएँ उस स्थिति को जन्म देती हैं जिसके माध्यम से मार्क्सवादी सौन्दर्यतत्व पिछले क्लासिक की स्थिति स्पष्ट करता है, साथ ही समकालीन साहित्यिक संघर्षों में नवीन क्लासिकों का अन्वेषण करता है। आज की उलझनों, कठिनाइयों, कुंठाओं, वर्जनाओं एवं निराशा के दमघोट वातावरण की भंयकरता को न्यून करके अथवा उन भौतिक एवं नैतिक आयामों, जिनके परिवेश में आज का मानव गहन रूप से आबद्ध है, की अंधकारपूर्ण सीमाओं की उपेक्षा करके मार्क्सवाद किसी को थोथी और असत्य सांत्वना देने का प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि वह यथार्थ नहीं है।

मार्क्सवादी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि का स्वयं अपने में कोई अस्तित्व है, इसीलिए वह एकता के सूत्रों में बँधा है—यह भ्रांतिपूर्ण धारणा है। उनके अनुसार सृष्टि की एकता भौतिकता के ही कारण है। इसीलिए समाजवादी साहित्य कल्पना एवं आदर्श की असत्यता को अस्वीकार कर व्यावहारिक सत्य एवं कठोर यथार्थ से है। एक समाजवादी लेखक के अनुसार प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के विकास के मार्ग में आनेवाली अन्धविश्वास, रूढ़िवाद की अड़चनों को दूर करना है। समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करना है। कार्यक्रम में प्रगतिशील, क्रांतिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनाना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देना प्रगतिशील साहित्य का मार्ग है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य एवं जीवन-इतिहास का निर्माण स्वयं करता है और वही उसके प्रति उत्तरदायी भी है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में जीवन के प्रति इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को निर्विवाद रूप से अँग्रेजी लेखकों ने भी स्वीकार किया, पर बाद में साहित्यिकों में इसकी प्रतिक्रिया हुई और

उनके अनुसार कल्पना एवं भौतिकता का परस्पर सफल समन्वय नहीं हो सकता। परिणाम स्वरूप इस समन्वय से कोई सृजन कार्य हो ही नहीं सकता। पर यह आलोचना थोथी है क्योंकि सृजनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न लेखक के लिए, विशेषतया एक उपन्यासकार के लिए, जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाने से अच्छी और कोई स्वाभाविक दिशा नहीं संभव हो सकती। भौतिकता और आत्मा के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या मार्क्सवाद इस प्रकार करता है कि मनुष्य का अस्तित्व ही चेतना को निश्चित करता है। सृजनात्मक साहित्यकार के सृजन कार्य का यही आधार होता है और सभी कल्पनापूर्ण सृजन कार्य में उस यथार्थ युग का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनित होता है, जिसमें वह लेखक स्वयं जीता है, उसका सृजन कार्य उसके इस सृष्टि के सम्बन्ध एवं उसके घृणा एवं प्रेम की प्राप्त उपलब्धियों का परिणाम होता है। मार्क्सवाद के अनुसार कला आर्थिक आवश्यकताओं और औपचारिकताओं का रूपमात्र है।

जीवन की आत्मिक प्रतिक्रियाओं, जिसका कलात्मक सृजन एक पक्ष है तथा जीवन के भौतिक आधारों के मध्य मार्क्स के विचार स्पष्ट हैं।[१] मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास था कि जीवन की भौतिक दिशा ही अन्त में बौद्धिकता को निश्चित करती है। एंजिल्स की धारणा थी कि यथार्थ जीवन में उत्पादन और पुनर्उत्पादन ही इतिहास में अन्तिम निर्णयात्मक तत्व होते

---

1 "According to the materialist conception of history, the determining element in history is ultimately the production and reproduction in real life. More than this neither Marx nor I have ever asserted. If therefore somebody twists this into the statement that the economic element is the only determining one, he transforms it into a meaningless. abstract and absurd phrase."

—एंजिल्स द्वारा १८९० में जे० ब्लॉच के लिखे गए एक पत्र का अंश।

हैं ।[1] मार्क्सवाद व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता, वह व्यक्ति को अपने दर्शन के मध्य में अवस्थित करता है, क्योंकि उसका दावा है कि भौतिक शक्तियाँ मनुष्य को परिवर्तित कर सकती हैं। वह इस बात की घोषणा करता है कि मनुष्य भौतिक शक्तियों में परिवर्तन तो लाता है, पर उस प्रक्रिया में वह स्वयं ही परिवर्तित हो जाता है। एंजिल्स के अनुसार इतिहास स्वयं अपना स्वरूप इस प्रकार निर्धारित कर लेता है कि सर्वदा अन्तिम परिणाम अनेक व्यक्तिवादी इच्छाओं के मध्य संघर्ष से उत्पन्न होता है। उपन्यासकार व्यक्ति के भाग्य के सम्बन्ध में अपनी रचना तब तक नहीं कर सकता, जब तक कि वह इस पूर्णता का स्वयं आभास न कर ले। उसे इस बात को निश्चित रूप से समझ लेना पड़ेगा कि किस प्रकार उसका अन्तिम परिणाम उसके पात्रों के व्यक्तिगत संघर्षों से विकसित होता है।

इस प्रकार समाजवाद चाहता है कि समाज में वर्ग वैषम्य न हो। शोषण वृत्ति का अन्त हो और पूँजीवाद का नाश हो। उत्पादन पर सबका समान अधिकार हो और किसी का भी अनाधिकार रूप में उपयोग (Exploitation) न हो। यह समाजवाद एक दर्शन के रूप में ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप विकसित हुआ। यह पिछली शताब्दी

---

1 "The mode of production of the material means of existence conditions the whole process of social, political and intellectual life. It is not the consciousness of men that determines their existence; but, on the contrary, their social existenee that determines their consciousness. At a certain stage of their development, the national forces of productions in society come in conflict with the existing relations of production, or what is but a legal expression for the same thing-with the property relation within which they had been at woik before."

—कार्ल मार्क्स : क्रिटिक ऑव पोलिटिकल इकोनॉमी, (भूमिका)।

के प्रथम उन सत्तर वर्षों तक संभव नहीं हुआ। जब पूँजीवाद अपने अत्यन्त सशक्त रूप में उपस्थित हुआ। कार्ल मार्क्स ने सन् १८७६ में 'दास कैपिटल' प्रकाशित किया, जो समाजवाद की पृष्ठभूमि है। मार्क्स के अनुसार श्रमिकों को अपने आपको उस सामाजिक क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहिए जिससे वह वर्तमान सामाजिक रूप विधान का तख्ता पलट दें और सारी आर्थिक व्यवस्था एवं उत्पादन पर अपना अधिकार कर लें। उसने तो यहाँ तक घोषित किया कि प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन शोषित लोगों द्वारा अधिकार प्राप्त लोगों के विरूद्ध छेड़े गए संघर्ष के पश्चात् ही होता है और भौतिक परिस्थितियाँ ही लोगों के चरित्र एवं संस्कृति का निर्णय करती हैं। समाजवाद का अर्थ आज उत्पादन, आर्थिक व्यवस्था, वितरण एवं विनिमय पर सामूहिक नियंत्रण के अर्थ में ही समझा जाता है। इस मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित समाजवाद के सर्वसम्मत ढंग से स्वीकृत कर लेने के लिए दो तर्क उपस्थित किये जाते हैं—एक तो यह कि उत्पादन एवं वितरण तथा आर्थिक व्यवस्था पर सामूहिक नियंत्रण (अर्थात् उद्योग आदि व्यक्तिगत क्षेत्र Private Sector) में न स्थापित होकर सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में स्थापित हों) से राष्ट्रीय आय का सामूहिक जनता में समानरूप से विना किसी भेद भाव के वितरण होगा जिसके परिणाम-स्वरूप वह बहुसंख्यक जनता सुखी और समृद्ध होगी, जो अनावश्यक रूप से पीड़ित है और ग्रस्त और आर्थिक कठिनाइयों का सामना करती है। इस सम्बन्ध में दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजातन्त्र की स्थापना होगी।

प्रश्न उठता है, समाजवाद का उद्देश्य क्या है? समाजवाद सामान्य लोगों को उनकी विवशता-पूर्ण परिस्थितयों से ऊपर उठाकर उन्हें निर्धनता के अभिशाप से मुक्ति देना चाहता है। वह तब तक संभव नहीं है, जब तक पूँजीवाद की जड़ें समूल नष्ट न हों और अधिकांश आर्थिक व्यवस्था का नियंत्रण सार्वजनिक क्षेत्र में न होकर व्यक्तिगत क्षेत्र में हो और राष्ट्रीय आय के वितरण की नीतियाँ मुठ्ठीभर विशेष अधिकार प्राप्त लोगों की इच्छाओं के अनुसार हो। समाजवाद का दूसरा उद्देश्य समाज में वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना है। प्रजातन्त्र का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि अपना वोट देकर अपने प्रतिनिधियों को संसद में भेजे और वे परस्पर गाली-गलौज

करें। प्रजातन्त्र को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये, जहाँ लोग साथ रहते है और साथ कार्य करते हैं। ऐसा कोई भी समाज प्रजातांत्रिक नहीं कहा जा सकता, जहाँ बहुसंख्यक लोग अपनी जीविका, सुख-समृद्धि एवं आर्थिक व्यवस्था के लिए कुछ थोड़े से अल्प संख्यक लोगों के ऊपर निर्भर रहें, जो देश की आर्थिक व्यवस्था एवं उत्पादन तथा वितरण के स्वामी होते हैं। यही अल्पसंख्यक लोग वास्तव में पूँजीवाद के प्रतिनिधि होते हैं और अपने उद्देश्य-प्राप्ति के लिए शोषण वृत्ति का मार्ग अपनाते हैं, क्योंकि उनके हाथ में वास्तविक सत्ता होती है और वे राष्ट्रीय प्रशासन को अत्यधिक अंशों में प्रभावित करते हैं। समाजवाद इस पूँजीवाद का जबर्दस्त रूप में विरोध करता है और उसके विरुद्ध बहुसंख्यक त्रस्त एवं पीड़ाग्रस्त शोषित लोगों में क्रान्ति के लिए प्रेरित करता है।

समाजवाद की इन विशेषताओं को दूर-दूर असंख्य लोगों तक पहुँचाने और क्रान्ति की प्रेरणा उत्पन्न करने का कार्य साहित्य,विशेषतया उपन्यास करता है। समाजवादी उपन्यासों का नायक शोषित मानव होता है और पूँजीवाद खलनायक। वर्ग वैषम्य, शोषण, पराधीन पीड़ाग्रस्त मानव की घुटन, आर्थिक विवशता और कुंठाएँ तथा पूँजीवादी वर्ग द्वारा नैतिकता की निम्नतम सीमा पर किए जाने वाले कार्य ही समाजवादी उपन्यास की घटनाएँ होती हैं, जिसका उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था पर आधारित सामाजिक रूप विधान की स्थापना होती है। ऐसे समाजवादी साहित्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए यशपाल ने लिखा है[१]— कि मध्यम श्रेणी का साहित्य व्यक्तिगत आत्मलिप्ति का साहित्य है, वह स्वान्तःसुखाय की बात कह कर झूठा सन्तोष करता है। उसकी परिस्थिति उसे सुख की इच्छा और कल्पना का संस्कार और अवसर तो देती है, परन्तु साधन नहीं देती। इसलिए वह काल्पनिक आत्मलिप्ति में सुख पाता है। जो चाहता है, वह पा नहीं सकता तो न पाने को ही सुख समझना चाहता है। वह शृंगार रस का सुख वियोग में भोगना चाहता है। यह उसकी भौतिक, सामाजिक परिस्थितियों में परास्त मनोवृत्ति और कल्पना है। मध्यम श्रेणी साधन-हीन वर्ग में मिलती जा रही है। परन्तु उसका पम्परागत सफेदपोशी का अहंकार शेष है,इसलिए वह ऐसे सुख की कल्पना करती है

---

१ यशपाल : बात-बात में बात, (१९५४), लखनऊ, पृष्ठ २६

जिसे साधनों का अभाव न बिगाड़े। ...साहित्यिक व्यक्तिवाद की शरण तभी लेता है, जब वह सामूहिक जीवन में संघर्ष और असुविधा देख कर मैदान से भागना चाहता है। वह अपनी और अपनी श्रेणी की महत्वाकांक्षा के पूर्ण होने की संभावना नहीं देखता तो अभाव को, वियोग को, आत्मरति को ही सुख बताने की दार्शनिकता का दम्भ करता है। अतः साहित्य को उस क्रान्ति की मूल प्रेरणा लेकर सृजन कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए, जिसके माध्यम से समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होगी।

पर समाजवादी उपन्यासकार जब केवल प्रचारक बन जाता है और अपने स्वत्व में से उपन्यासकार का लिबास उतार फेंकता है, तो उसके सृजन-कार्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न कला का स्वरूप वास्तविक न होकर कृत्रिम प्रतीत होता है। उसके उपन्यास संसार में केवल मृगतृष्णाओं का निर्माण होता है, न कि समाजवादी व्यवस्था की। उसके पात्र मानवीय संवेदना एवं स्वभाव से युक्त मानव नहीं होते वे कठपुतलियाँ होते हैं, जिनका स्रष्टा और दृष्टा कोई और होता है, स्वयं अपने को उपस्थित करने की उनमें सामर्थ्य नहीं होती। कला के साथ समाजवादी उपन्यासकारों को यह सबसे बड़ा उपहास है, जो अक्षम्य है। चाहे मारीश हो, या हरीश, चाहे पृथुलेन हो या मदारिया हो—सभी थियेटर के पात्र हैं, जो जबर्दस्ती उछलते-कूदते हैं, प्रेम और घृणा करते हैं तथा क्रान्ति में भाग लेते या उससे विमुख होते हैं। और फिर जब सब होता है, तो समाजवाद पर लेक्चर देते हैं, जो उनकी अपनी चेतना की उपज नहीं होती, जिनका उनके व्यक्तित्व से कोई सामंजस्य नहीं होता और सबसे बड़ी बात तो यह कि उपन्यास की परिस्थितियों में जिसकी उनसे कोई आशा ही नहीं थी। उपन्यासकार प्रचारक हो सकता है, राजनीतिक मतवादों से प्रभावित हो सकता है, पर उसके लिए औपन्यासिक दायित्व की हत्या करना उसका अधिकार नहीं। समाजवादी उपन्यासों के नाम पर हिन्दी में यशपाल, रांगेयराघव, राहुल सांकृत्यायन और राजेन्द्र यादव ने हिन्दी-उपन्यासों को बहुत कुछ बनाया–बिगाड़ा है। इन सभी में पर्याप्त उपन्यास-कला है, और कथा कहने का अपूर्व कौशल है, पर पता नहीं क्यों इन सभी ने कला के ऊपर प्रचार का लेप लगाकर उपन्यास का ट्रेड मार्क बदलने की बौद्धिकता हीन प्रयत्न किया है। ट्रेड मार्क में परिवर्तन से किसी को कोई शिकायत नहीं हो सकती, पर परिवर्तन सदैव एक अच्छी

व्यवस्था (Change for a better) के लिए ही होता है, न कि भ्रमोत्पन्न करने के लिए। समाजवाद का भविष्य इसीलिए अत्यन्त उज्ज्वल है, पर समाजवादी उपन्यासों का भविष्य उसके 'नेताओं' और समाजवादी पंडितों' ने जान-बूझ कर अन्धकार के गर्त में डाल दिया है, जिसका कोई प्रभाव निकट भविष्य में दृष्टिगोचर नहीं होता।

संदर्भ-ग्रन्थों की सूची

१ अन्विन : सेक्स एन्ड कल्चर, (१९३४), लन्दन।

२ अर्नेस्ट ए० बेकर : ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवेल, (१९५०), न्यूयार्क।

३ आर्थर मेलविल क्लार्क : स्टडीज़ इन लिट्रेरी मोड्स, १९४६), एडिन बर्ग

४ आर्नोल्ड केटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नॉवेल, (१९५१), लन्दन।

५ आयरीन क्लीफेन : टूवर्ड्स सेक्स फ्रीडम, (१९३५), लन्दन।

६ ई० एम० फार्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (१९६२), आस्ट्रेलिया।

७ एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६), लन्दन।

८ एलेन वाल्टर : राइटर्स ऑन राइटिंग, (१९४८), लन्दन।

९ एडलर : अन्डरस्टेन्डिग ह्यूमन नेचर, (१९२७), न्यूयार्क।

१० एडलर : सोशल इन्ट्रेस्ट : ए चैलेन्ज टू मैन काइन्ड, (१९३८), लन्दन।

११ एडलर : प्रॉब्लम ऑव न्यूरोसिस, (लन्दन)।

१२ एफ० डब्ल्यू० जे० हेम्मिग्स : द रशियन नॉवेल इन फ्रान्स, (१९५०), लन्दन।

१३ एस० डायना नील : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवेल, (१९५१), लन्दन।

१४ ए० ए० मेडिलो : टाइप एण्ड द नॉवेल, (१९५२)।

१५ एम० एल० रॉबिन्सन : राइटिंग फार यंग पीपुल, (१९५०), न्यूयार्क।

१६ एलिज़ाबेथ बावेन : नोट्स ऑव राइटिंग ए नॉवेल।

१७ एल० टी० हॉबहाउस : मॉरल्स इन इवोल्यूशन, (१९०६), लन्दन।

१८ एडिथ ह्वार्टन : पर्मानेन्ट वैल्यूज़ इन फिक्शन (१९४९), टार्नोटो।

१९ एच० ए० मरे : एक्सप्लोरेशन्स इन पर्सनैलिटी, (१९३२), न्यूयार्क।

२० क्लारा रीव : प्रोग्रेस ऑव रोमांस, (१७८५)।
२१ लुइस कज़ैमिमाँ : ए हिस्ट्री ऑव इंलिश लिट्रेचर, (१९५४), लन्दन।
२२ कॉलिगवुड : आयडिया ऑव हिस्ट्री।
२३ कार्ल्स मार्क्स : कैपिटल, (प्रथम पोथी)।
२४ कार्ल्स मार्क्स : क्रिटिक ऑव पोलिटिकल इकोनॉमी।
२५ क्रिस्टॉफेन कॉडवेल : इल्युजंन एण्ड रियल्टी, (१९५६), दिल्ली।
२६ क्रिस्टॉफेन कॉडवेल : फर्दर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर, (१९५०), लन्दन।
२७ कैडी एडविन : द रोड टू रियलिज्म एण्ड द रियलिस्ट एट वार, (१९५६), न्यूयार्क।
२८ गोर्की : ऑन लिट्रेचर, (१९५८), मास्को।
२९ गोर्की : लिट्रेचर एण्ड लाइफ, मास्को।
३० चार्ल्स फीडेलसन : सिम्बॉलिज्म एन्ड अमेरिकन लिट्रेचर (१९५३), शिकागो।
३१ चार्ल्स वाल्कट : अमेरिकन लिट्रेरी नैचुरेलिज्म, (१९५६), न्यूयार्क।
३२ जॉर्ज ल्यूकाच : स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज्म, (१९५०), लन्दन।
३३ जॉर्ज ल्यूकाच : हिस्टॉरिकल नॉवेल, (१९५४), लन्दन।
३४ जॉर्ज मूर : ए ममर्स वाइफ, (१८८५)।
३५ जीन पाल सार्त्र : बीइंग एण्ड नथिंगलेस : एन एसे ऑन फेनॉमिनॉलॉजिकल एनॉटोलॉजी, (१९५७),
३६ जे० फ्रेडेरिक हॉफमैन : फ्रायडनिज्म एण्ड लिट्रेरी माइन्ड, (१९४५), न्यूयार्क।
३७ जे० डबल्यू० बीच : द ट्वेन्टियपथ सेंचूरी नॉवेल।
३८ जे० इज़ाक : एन असेसमेंट ऑव ट्वेन्टिययूथ सेन्चूरी नॉवेल, (१९५२), लन्दन।
३९ जैन्को लैवरिन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द रशियन नॉवेल, (१९४७), लन्दन।
४० ट्राट्श : सोशल टीचिंग।
४१ टी० एच० ग्रीन : एस्टीमेन्ट ऑव द वैल्यू एण्ड इन्फ्लुएंस ऑव वर्क्स ऑव फिक्शन इन माडर्न टाइम्स।

४२ डब्ल्यू० ली : डेनियल डेफो, (१८६९) लन्दन।
४३ डेविड ह्यूम : ट्रीटाइज़ ऑव ह्यूमन नेचर (१९३९)।
४४ डेनियल डेफो : रॉबिन्सन क्रूसो।
४५ डेब्लीज़ : साइकोएनालिटिकल मेथड एण्ड द डॉक्टरीन ऑव फ्रायड, (१९४१). लन्दन।
४६ डेविस डैशेज़ : लिट्रेचर एण्ड सोसायटी, (१९३८), लन्दन।
४७ डेविड डैशेज़ : द नॉवेल एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड, (१९४८), लन्दन।
४८ तमारा आयलेवा : सोवियट लिट्रेचर एण्ड वर्ल्ड कल्चर, (१९४८), मास्को।
४९ थाम्सन एण्ड गैरेट : राइज़ एण्ड फुलफिलमेंट ऑव द ब्रिटिश रूल इन इन्डिया, (लन्दन)।
५० नॉर्मल कज़िन्स : राइटिंग फॉर लव आर मनी, (१९४९), कनाडा।
५१ प्लेखनोव : आर्ट एण्ड सोशल लाइफ।
५२ पाल बोसफील्ड : सेक्स एण्ड सिविलिज़ेशन (१९२५), लन्दन।
५३ पी० एच० न्यूबी : द नॉवेल, (१९५१), लन्दन।
५४ प्रेमचन्द : कुछ विचार, (१९४८), बनारस।
५५ बाबू रामकृष्ण वर्मा : भाषा कथा सरित्सागर, (१९०५), काशी।
५६ बेन रे रेडमैन : द मॉडर्न इंगलिश नॉवेल, (१९३०), न्यूयार्क।
५७ बेन रे रेडमैन : ए ट्रीटाइज़ ऑन द नॉवेल, (१९३०), न्यूयार्क।
५८ बेबर : एसेज़ इन सोशियोलॉजी, (१९४६), न्यूयार्क।
५९ बोर्सांके : लॉजिक, (द्वितीय संस्करण)।
६० माओ-त्सी-तुंग : ऑन लिट्रेचर, (चाइना)।
६१ माओ-त्सी-तुंग : प्रॉब्लम्स ऑव आर्ट एन्ड लिट्रेचर, (१९५०), चाइना।
६२ मार्क्स कनलिक : द लिट्रेचर ऑव द यूनाइटेड स्टेट्स, (१९६१), लन्दन।
६३ रॉबर्ट लिडिल : ए ट्रीटाइज ऑन द नॉवेल, (१९६०), लन्दन।
६४ रॉबर्ट लिडिल : सम प्रिन्सिपुल्स ऑफ फिक्शन, (१९५६), लन्दन।
६५ रिचार्ड जी० लिल्लार्ड : अमेरिका इन फिक्शन, (१९५६), न्यूयार्क।
६६ रिचार्ड चेज़ : द अमेरिकन नॉवेल एण्ड इट्स ट्रेडिशन, (१९५७), न्यूयार्क।

६७ रिचार्ड चर्च द ग्रोथ ऑव द इंगलिश नॉवेल, (१९५१), लन्दन।
६८ रैल्फ फॉक्स : द नॉवेल एण्ड द पीपुल, (१९५८), मास्को।
६९ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) : आधुनिक हिन्दी-साहित्य, (१९४८), इलाहाबाद।
७० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) : आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका (१९५०), इलाहाबाद।
७१ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) : फोर्ट विलियम कॉलेज, इलाहाबाद।
७२ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) : भारतेन्दु की विचारधारा, इलाहाबाद।
७३ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, इलाहाबाद।
७४ लक्ष्मी सागर वार्णेय (डॉ०) : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ, (बम्बई)।
७५ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) हिन्दी साहित्य का इतिहास, (संशोधित संस्करण, १९६३), लखनऊ।
७६ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डॉ०) उन्नीसवीं शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद।
७७ लिओन एडेल : द साइकोलॉजिकल नॉवेल, (१९५५), लन्दन।
७८ लुडविग स्टीन : लेकचर्स ऑन मॉडर्न आयडियलिज्म।
७९ वाल्टर एलेन : द इंगलिश नॉवेल, (१९६०), लन्दन।
८० विल्बर क्रॉस : द डेवलेपमेंट ऑव इंगलिश नॉवेल, (१९५३), न्यूयार्क।
८१ विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१९६०), लन्दन।
८२ विलियम जेम्स : प्रिन्सिपुल्स ऑव साइकोलॉजी, (१८९०)।
८३ शेली : स्पेकुलेशन्स ऑन मेटाफिजिक्स।
८४ स्टीफेन स्पेन्सर : न्यू रियलिज्म, (प्रथम संस्करण) लन्दन।
८५ स्टीफेन स्पेन्सर : द नॉवेल एण्ड द नैरेटिव पार्टी, (१९४२), लन्दन।
८६ स्टीफेन्सन स्मिथ : द क्रैफ्ट ऑव द क्रिटिक, (द्वि० सं०), न्यूयार्क।
८७ सी० जोयद : बगाइड टू माडर्न थॉट।
८८ सी०जे० जुंग : मॉडर्न मैन इन सर्च ऑव ए सोल, (१९४९), लन्दन।
८९ सिगमंड फ्रायड : इन्टरप्रेटेशन ऑव ड्रीम्स, (१९३२), न्यूयार्क।

९० सिगमंड फ्रायड : इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोएनॉलिसिस, (१९२९), लन्दन।
९१ सिगमंड फ्रायड : सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिसकंटेंट्स।
९२ सिडनी फिन्कैलस्टीन : आर्ट एण्ड सोसायटी, (१९४७), लन्दन।
९३ सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, (१९६४) दिल्ली।
९४ सुरेश सिनहा : तुमने मुझे पुकारा तो नहीं, (१९६१), इलाहाबाद।
९५ सुरेश सिनहा : एक और अजनबी, (१९६३), इलाहाबाद।
९६ हर्बर्ट जे॰ मुल्लर : मॉडर्न फिक्शन।
९७ हावर्ड फास्ट : लिट्रेचर एण्ड रिएल्टी,(१९५२), दिल्ली।
९८ हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव द नॉवेल, (१९४८), न्यूयार्क।
९९ हेनरी फिलिडिंग : टॉम जोन्स (बुक VIII)
१०० हैवलाक एलिस : स्टडीज़ इन द साइकोलॉजी ऑव सेक्स, (१९६१), लन्दन।
१०१ हैवलाक एलिस : सेक्स इन रिलेशन टू सोसायटी (१९१०), लन्दन।